क्रिया-कोश

CYCLOPÆDIA OF KRIYA

जैन दशमलव वर्गीकरण संख्या
१२२२ तथा १३०१

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

सम्पादक
मोहनलाल बाँठिया
श्रीचंद चोरड़िया



प्रकाशक
जैन दर्शन समिति
१६-सी, डोवर लेन, कलकत्ता-२६
१९६९

जैन आगम विषय-कोश ग्रंथमाला

द्वितीय पुष्प—क्रिया-कोश : जैन दशमलव वर्गीकरण संख्या १२२२ तथा १३०१

अर्थ-सहायक—श्री भगवतीलाल सिसोदिया ट्रस्ट, जोधपुर

प्रथम आवृत्ति ११००
मूल्य भारत में रु० १५·००
विदेश में Sh 20/-

मुद्रक :
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५, रवीन्द्र सरणी,
कलकत्ता-७

प्रकाशकीय

श्रद्धेय मोहनलालजी बाँठिया ने, अपने अनुभवों से प्रेरित होकर, एक जैन-विषय-कोश की परिकल्पना प्रस्तुत की तथा श्रीचन्दजी चोरड़िया के सहयोग से, प्रमुख आगम ग्रन्थों का मंथन करके, एक विषय-सूची प्रणीत की। फिर उस विषय सूची के आधार पर जैन आगमों से विषयानुसार पाठ संकलन करने प्रारम्भ किये। यह संकलन उन्होंने प्रकाशित आगमों की प्रतियों से कतरन-विधि से किया। इस प्रकार प्रायः १००० विषयों पर पाठ संकलित हो चुके हैं। गृहीत पुस्तकों से संकलन समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने 'नारक जीव' संबंधी पाठों का सम्पादन प्रारंभ किया। लेकिन हम कुछ मित्रों ने उनसे अनुरोध किया कि वे इस विषय को सर्व प्रथम ग्रहण नहीं करें। बन्धुओं के अनुरोध को मानकर उन्होंने 'नारक जीव' विषय को छोड़कर जैन दर्शन के रहस्यात्मक 'लेश्या' विषय को चयन किया और उसके ऊपर संकलित पाठों का सम्पादन कर 'लेश्या कोश' नामक पुस्तक स्वयं ही प्रकाशित की। यह 'लेश्या कोश' विद्वद्वर्ग द्वारा जितना समादृत हुआ है तथा जैन दर्शन और वाङ्मय के अध्ययन के लिए जिस रूप में इसको अपरिहार्य बताया गया है और पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा के रूप में जिस तरह मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है, यही उसकी उपयोगिता तथा सार्वजनीनता को आलोकित करने में सक्षम है।

श्री मोहनलालजी बाँठिया के जैनागम एवं वाङ्मय के तलस्पर्शी गम्भीर अध्ययन द्वारा प्रसूत कोश परिकल्पना को क्रियान्वित करने तथा उनके सत्कर्म और अध्यवसाय के प्रति समुचित सम्मान प्रकट करने की पुनीत भावनावश जैन दर्शन समिति की संस्थापना महावीर जयन्ती १९६६ के दिन की गई है। इस नवगठित संस्था ने वर्तमान में बाँठियाजी द्वारा संकलित और वर्गीकृत कोशों का प्रकाशन-कार्य अपने हाथ में ग्रहण कर लिया है। यह क्रम निरन्तर गतिशील रहे इसकी पूर्ण चेष्टा की जा रही है। इसी प्रयास-स्वरूप क्रिया-कोश आपके समक्ष प्रस्तुत है।

मैं यह भी उल्लेख करना चाहूँगा कि श्री बाँठियाजी के इस प्रयत्न और प्रयास में सक्रिय सहयोग कर रहे हैं श्री श्रीचन्द चोरड़िया। श्री चोरड़िया एक नवोदित और तरुण जैन विद्वान हैं, जिनकी अभिरुचि इस दिशामें श्लाघ्य है।

जैन दर्शन समिति ने कोश-प्रकाशन की योजना को किसी तरह की लाभवृत्ति या उपार्जन के लिए हाथ में नहीं लिया है, अपितु इसका पावन उद्देश्य एक अभाव की पूर्ति

करना, अर्हत प्रवचन की प्रभावना करना तथा जैन दर्शन और वाङ्मय का प्रचार-प्रसार करना तथा इसके गहन-गम्भीर तत्त्वज्ञान के प्रति सर्व साधारण को आकृष्ट करना और इस तरह समाज की सेवा करना ही है।

अस्तु—इस महान् और ऐतिहासिक कार्य के सुसम्पादन और सम्पूर्ति में पर्याप्त राशि की आवश्यकता होगी। जिसके लिए हम जैन समाज के हर व्यक्ति से साग्रह अनुरोध करते हैं कि इस कार्य को गतिशील रखने के लिए यथासंभव सहायता करें तथा मुक्त-हस्त से राशि प्रदान कर समिति को अनुग्रहीत करें।

समिति के सभी उत्साही सदस्यों, शुभचिन्तकों एवं संरक्षकों के साहस और निष्ठा का उल्लेख करना भी मेरा कर्तव्य है जिनकी इच्छाएँ एवं परिकल्पनाएँ मूर्त रूप में सामने आ रही हैं।

कोश-सम्पादन और प्रकाशन में परोक्ष और अपरोक्ष रूप में प्राप्त सहायता और सुझावों के लिए भी हम सबके प्रति बिना नाम उल्लेख किये ही आभार प्रगट करते हैं और आशा है कि उनकी सद्भावना सदा हमारे साथ रहेगी।

अन्त में हम श्री भगवतीलाल सिसोदिया ट्रष्ट, जोधपुर के अधिकारियों को तथा उनके मैनेजिंग ट्रष्टी श्री जबरमलजी भंडारी को विशेष धन्यवाद देते हैं जिन्होंने 'क्रिया-कोश' के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय वहन किया है।

जैन दर्शन समिति में अभी तक इतने धन का संग्रह नहीं हुआ है कि 'क्रियाकोश' का भी 'लेश्याकोश' की तरह निर्मूल्य वितरण किया जा सके। अतः हमको इसका मूल्य रु० १५) (अंके पन्द्रह रुपया) रखना पड़ा है। जैन के सभी सम्प्रदाय के धनी मानी तथा प्रवचन प्रभावना के इच्छुक श्रमणोपासकों से हमारा निवेदन है कि 'क्रियाकोश' को क्रय करके अंततः अपने सम्प्रदाय के विद्वानों में, भंडारोंमें, पुस्तकालयों में इसका यथोचित वितरण करने में हमारा सहयोग दें। सभी नगरों के भंडारों और पुस्तकालयों में 'क्रियाकोश' के रहने से श्रमण वर्ग को भी यह पुस्तक सहजतया समुपलब्ध हो सकेगी। भारतीय और विदेशी विश्वविद्यालयों में भी इसका वितरण होना परम आवश्यक है। आशा है इस पुस्तक के सम्यक् वितरण में हमें सभी श्रमणोपासकों का निर्बाध सहयोग प्राप्त होगा।

मोहनलाल बैद
मंत्री
जैन दर्शन समिति

कलकत्ता,
दीपावली, विक्रम सं० २०२६

सम्पादकीय

जैन दर्शन सूक्ष्म और गहन है तथा मूल सिद्धांत ग्रंथों में इसका क्रमबद्ध तथा विषयानुक्रम विवेचन नहीं होने के कारण इसके अध्ययन में तथा इसके समझने में कठिनाई होती है। अनेक विषयों के विवेचन अपूर्ण-अधूरे हैं, अतः अनेक स्थल इस कारण से भी समझ में नहीं आते हैं। अर्थबोध की इस दुर्गमता के कारण जैन-अजैन दोनों प्रकार के विद्वान जैन दर्शन के अध्ययन से सकुचाते हैं। क्रमबद्ध तथा विषयानुक्रम विवेचन का अभाव जैन दर्शन के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करता है—ऐसा हमारा अनुभव है।

अध्ययन की बाधा मिटाने के लिए हमने जैन विषय-कोश की एक परिकल्पना बनायी और उस परिकल्पना के अनुसार समग्र आगम ग्रंथों का अध्ययन किया और उस अध्ययन के आधार पर सर्व प्रथम हमने विशिष्ट पारिभाषिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयों की एक सूची बनाई। विषयों की संख्या १००० से भी अधिक हो गई तथा इन विषयों का सम्यक् वर्गीकरण करने के लिए हमने आधुनिक सार्वभौमिक दशमलव वर्गीकरण का अध्ययन किया। तत्पश्चात् बहुत कुछ इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए हमने सम्पूर्ण वाङ्मय को १०० वर्गों में विभक्त करके मूल विषयों के वर्गीकरण की एक रूपरेखा (देखें पृ० १३) तैयार की। यह रूपरेखा कोई अन्तिम नहीं है। परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन की अपेक्षा भी इनमें रह सकती है। मूल विषयों से भी अनेक उपविषयों की सूची भी हमने तैयार की है। उनमें से जीव-परिणाम (मूल विषयांक ·०४) की उपविषय सूची लेश्याकोश में दी गई है। जीव परिणाम की वह उपसूची भी परिवर्तन, परिवर्द्धन व संशोधन की अपेक्षा रख सकती है।

'क्रिया' शब्द का आगम में दो भावों में व्यवहार हुआ है—एक कर्मवाद (जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण संख्या ·१२) के अन्तर्गत 'कर्मबन्धनिबन्धभूता' के अर्थ में तथा दूसरा क्रियावाद (जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण संख्या ·१३) के अन्तर्गत (मोक्षमार्गवाहका) अर्थ में व्यवहार हुआ है। हमने कर्मवाद के उपविषयों की सूची तथा क्रियावाद के उपविषयों की सूची अलग-अलग दी है (देखें पृ० १७-१८)। इन सूचियों में भी परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन की अपेक्षा रह सकती है। कर्मवाद में 'क्रिया' शब्द विषयांक १२२२ है तथा क्रियावाद में सदनुष्ठानक्रिया शब्द विषयांक १३०१ है। विद्वद्वर्ग से निवेदन है कि वे इन विषय-सूचियों का गहरा अध्ययन करें तथा इनमें

परिवर्तन, परिवर्द्धन व संशोधन सम्बन्धी अथवा अपने अन्य बहुमूल्य सुझाव भेजकर हमें अनुगृहीत करें। हमने इस पुस्तक में यथाशक्ति दोनों प्रकार की क्रियाओं के सभी पाठों का संकलन करने का प्रयास किया है। फिर भी हम यह दावा नहीं कर सकते कि कोई पाठ छूटा नहीं है। हमारी छद्मस्थता से, हमारे प्रमादवश पाठ छूट गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं है।

पाठों के संकलन-संपादन में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची में यद्यपि हमने कतिपय ग्रन्थों का ही नाम दिया है तथापि अध्ययन हमने अधिक ग्रन्थों का किया है तथा निर्युक्ति-चूर्णी-टीका आदि का भी आवश्यकतानुसार अध्ययन किया है। 'लेश्या कोश' की तरह पाठों का मिलान हमने कई मुद्रित प्रतियों से किया है। यद्यपि हमने सन्दर्भ एक ही प्रति का दिया है।

सम्पादन में निम्नलिखित तीन बातों को हमने आधार माना है :—

१—पाठों का संकलन और मिलान,

२—विषय के उपविषयों का वर्गीकरण, तथा

३—हिन्दी अनुवाद

पाठों के मिलान के लिए हमने कई मुद्रित प्रतियो की सहायता ली है। और, यदि कोई महत्त्वपूर्ण पाठान्तर मिला तो उसे शब्द के बाद ही कोष्ठक में दे दिया है।

जहाँ क्रिया सम्बन्धी पाठ स्वतन्त्र रूप में मिल गया है वहाँ हमने उसे उसी रूप में ले लिया है लेकिन जहाँ क्रिया सम्बन्धित पाठ अन्य विषयों के साथ सम्मिश्रित दिये गये हैं वहाँ हमने निम्नलिखित दो पद्धतियों को अपनाया है :—

१—पहली पद्धति में हमने सम्मिश्रित पाठों से क्रिया-सम्बन्धी पाठ अलग निकाल लिया है तथा जिस सन्दर्भ में वह पाठ आया है उस सन्दर्भ को प्रारम्भ में कोष्ठक में देते हुए उसके बाद क्रिया-सम्बन्धी पाठ दे दिया है (देखें विषयांक ·८१·३)।

२—दूसरी पद्धति में हमने सम्मिश्रित विषयों के पाठों में से जो पाठ क्रिया से सम्बन्धित नहीं हैं उनको बाद देते हुए क्रिया सम्बन्धी पाठ ग्रहण किया है तथा बाद दिये हुए अंशों को तीन गुणा (×××) चिह्नों द्वारा निर्देशित किया है—(देखें विषयांक ·८६·२)

मूल पाठों में संक्षेपीकरण होने के कारण अर्थ को प्रकट करने के लिए हमने कई स्थलों पर स्वनिर्मित पूरक पाठ कोष्ठक में दिये हैं। (देखें विषयांक ·८६·१)

वर्गीकृत उपविषयों में हमने मूल पाठों को अलग-अलग विभाजित करके भी दिया है तथा कहीं-कहीं समूचे मूल पाठ को एक वर्गीकृत उपविषय में देकर उस पाठ में निर्दिष्ट

वास्तवमें हमको कर्मबंधनिबंधभूता क्रिया का कोश अलग बनाना चाहिए था तथा सदनुष्ठान क्रिया का अलग। लेकिन हमने दोनों क्रियाओं का विरोधी पक्ष देखकर दोनों का संकलन एक साथ कर दिया है। यदि भावी अध्ययन से यह अनुभव हुआ कि सदनुष्ठान क्रिया का अलग से कोश प्रकाशन करना आवश्यक है तो उसका अलग से प्रकाशन करेंगे।

क्रिया संबंधी तुलनात्मक अध्ययन के लिए हम कई असुविधाओं के कारण अन्य धर्मों के दार्शनिक ग्रंथों का सम्यग् अध्ययन नहीं कर सके, केवल सप्त टीका सहित श्रीमद् भगवद्गीता का ही अध्ययन किया। उससे प्राप्त क्रिया संबंधी तुलनात्मक पाठों को हमने दे दिया है। (देखें क्रमांक ·९८)

तत्पश्चात् हमें अंगुत्तर निकाय का एक संदर्भ क्रियावाद के संबंध का आचार्य भागचंद जैन की एक अंग्रेजी रचना में मिला। वह अंगुत्तर निकाय का उद्धरण हमने छुटे हुए पाठों में पुस्तक के अन्त में दे दिया है।

सामान्यतः अनुवाद हमने शाब्दिक अर्थ रूप ही किया है लेकिन जहाँ विषय की गम्भीरता या जटिलता देखी है वहाँ अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विवेचनात्मक अर्थ भी किया है। विवेचनात्मक अर्थ करने के लिए हमने सभी प्रकार की टीकाओं तथा अन्य सिद्धांत ग्रंथों का उपयोग किया है। छद्मस्थता के कारण यदि अनुवादों में या विवेचन करने में कहीं कोई भूल, भ्रान्ति व त्रुटि रह गई हो तो पाठक वर्ग सुधार लें। जहाँ मूल पाठ में विषय अस्पष्ट रहा है वहाँ मूल पाठ के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हमने टीकाकारों के स्पष्टीकरण को भी अपनाया है तथा स्थान-स्थान पर टीका का पाठ भी उद्धृत कर दिया है।

यद्यपि हमने संकलन का काम श्वेताम्बर आगम ग्रंथों तक ही सीमित रखा है तथापि सम्पादन, वर्गीकरण तथा अनुवाद के काम में निर्युक्ति, चूर्णी, वृत्ति, भाष्य आदि टीकाओं का तथा अन्य श्वेताम्बर-दिगम्बर सिद्धांत ग्रंथों का भी उपयोग किया है।

सम्भव है हमारी छद्मस्थता के कारण तथा मुद्रक के कर्मचारियों के प्रमादवश पुस्तक की छपाई में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों। आशा है पाठकगण अशुद्धियों के लिए हमें क्षमा करेंगे तथा आवश्यकतानुसार संशोधन कर लेंगे।

जै० द० व० सं०	यू० डी० सी० संख्या
३२—राजनीति	३२
३३—अर्थ शास्त्र	३३
३४—नियम-विधि-कानून-न्याय	३४
३५—शासन	३५
३६—सामाजिक उन्नयन	३६
३७—शिक्षा	३७
३८—व्यापार-व्यवसाय-यातायात	३८
३९—रीति-रिवाज—लोक-कथा	३९
४—भाषा विज्ञान—भाषा	**४**
४१—साधारण तथ्य	४१
४२—प्राकृत भाषा	४९१'३
४३—संस्कृत भाषा	४९१'२
४४—अपभ्रंश भाषा	४९१'३
४५—दक्षिणी भाषाएँ	४९४'८
४६—हिन्दी	४९१'४३
४७—गुजराती-राजस्थानी	४९१'४
४८—महाराष्ट्री	४९१'४६
४९—अन्यदेशी—विदेशी भाषाएँ	४९१
५—विज्ञान	**५**
५१—गणित	५१
५२—खगोल	५२
५३—भौतिकी-यांत्रिकी	५३
५४—रसायन	५४
५५—भूगर्भ विज्ञान	५५
५६—पुराजीव विज्ञान	५६
५७—जीव विज्ञान	५७
५८—वनस्पति विज्ञान	५८
५९—पशु विज्ञान	५९
६—प्रयुक्त विज्ञान	**६**
६१—चिकित्सा	६१
६२—यांत्रिक शिल्प	६२
६३—कृषि-विज्ञान	६३
६४—गृह-विज्ञान	६४
	+

जै० द० व० सं०	यू० डी० सी० संख्या
३२—राजनीति	३२
३३—अर्थ शास्त्र	३३
३४—नियम-विधि-कानून-न्याय	३४
३५—शासन	३५
३६—सामाजिक उन्नयन	३६
३७—शिक्षा	३७
३८—व्यापार-व्यवसाय-यातायात	३८
३९—रीति-रिवाज—लोक-कथा	३९
४—भाषा विज्ञान—भाषा	**४**
४१—साधारण तथ्य	४१
४२—प्राकृत भाषा	४९१'३
४३—संस्कृत भाषा	४९१'२
४४—अपभ्रंश भाषा	४९१'३
४५—दक्षिणी भाषाएँ	४९४'८
४६—हिन्दी	४९१'४३
४७—गुजराती-राजस्थानी	४९१'४
४८—महाराष्ट्री	४९१'४६
४९—अन्यदेशी—विदेशी भाषाएँ	४९१
५—विज्ञान	**५**
५१—गणित	५.१
५२—खगोल	५२
५३—भौतिकी-यांत्रिकी	५.३
५४—रसायन	५४
५५—भूगर्भ विज्ञान	५५
५६—पुराजीव विज्ञान	५६
५७—जीव विज्ञान	५७
५८—वनस्पति विज्ञान	५८
५९—पशु विज्ञान	५९
६—प्रयुक्त विज्ञान	**६**
६१—चिकित्सा	६१
६२—यांत्रिक शिल्प	६२
६३—कृषि-विज्ञान	६३
६४—गृह-विज्ञान	६४
६५— +	+

१३ क्रियावाद का वर्गीकरण

१३०० विवेचन
१३०१ सदनुष्ठान क्रिया
१३०२ संवर
१३०३ निर्जरा-तप
१३०४ अंतक्रिया
१३०५ मोक्ष
१३०६
१३०७
१३०८
१३०९

१३१० सामायिक
१३११ चतुर्विंशतिस्तव
१३१२ स्तवस्तुति मंगल
१३१३ वंदना
१३१४ प्रतिक्रमण
१३१५ प्रत्याख्यान-व्रत-त्याग
१३१६ आलोचना
१३१७ आत्मनिंदा
१३१८ गर्हा
१३१९ प्रतिलेखन

१३२० दर्शनाराधना
१३२१ ज्ञानाराधना-श्रुताराधना
१३२२ चारित्राराधना
१३२३ अहिंसा
१३२४ सत्य
१३२५ अस्तेय
१३२६ ब्रह्मचर्य
१३२७ अपरिग्रह
१३२८ समिति
१३२९ गुप्ति

१३३० संवेग
१३३१ निर्वेद
१३३२ गुरुभक्ति
१३३३ अप्रतिबद्धता
१३३४ निवृत्ति-प्रवृत्ति
१३३५ इन्द्रियनिग्रह
१३३६ योगनिग्रह
१३३७ संयम
१३३८
१३३९

१३४० कषायविजय
१३४१ क्षमा
१३४२ मार्दव
१३४३ आर्जव
१३४४ संतोष-निर्लोभता
१३४५
१३४६
१३४७
१३४८
१३४९

१३५० दान
१३५१ लाघव
१३५२ धर्मश्रद्धा
१३५३ प्रवचन प्रभावना
१३५४ धर्मकथा
१३५५ सम्पन्नता
१३५६ समाधारणता
१३५७ केवलि आराधना
१३५८
१३५९

भूमिका

विश्व के प्रायः सभी नये-पुराने धर्मों का तत्त्वदर्शन आत्मा का तत्त्वदर्शन है। धार्मिक परम्पराओं की चिन्तनधारा अनन्तकाल से आत्मा को केन्द्र करके ही प्रवाहित होती आई है और प्रवाहित होती रहेगी। यदि आत्मचिन्तन को कुछ क्षणों के लिये अलग कर दिया जाये, तो फिर धर्मों के पास शून्य के सिवा और कुछ शेष रहेगा ही क्या? यह पाप और पुण्य, यह धर्म और अधर्म, यह नरक और स्वर्ग, यह बन्ध और मोक्ष, यह उत्थान और पतन, यह सुख और दुःख क्या है? आत्मा के अनन्त चैतन्य रूप का ही तो एक विस्तार है। परिवार का माधुर्य, समाज का दायित्व, राष्ट्रों की गौरव-गरिमा भी मूल में आत्मतत्त्व पर ही केन्द्रित होती है। इसलिये विश्व के प्रबुद्ध मनीषियों ने आत्मा के सम्बन्ध में विराट साहित्य का सृजन किया है। भारत के तत्त्वज्ञों का यह अत्यन्त प्रिय एवं प्रमुख विषय रहा है। भारत के तत्त्व-चिन्तकों में कितना ही क्यों न मतभेद रहा हो, पर आत्मतत्त्व की स्वीकृति के सम्बन्ध में तो प्रायः सभी का स्वर एक है। वैदिक परम्परा का उद्घोष है—'**आत्मानं विद्धि**'—अपने को जानो, अपने को पहचानो। श्रमण संस्कृति का तो यह चिरन्तन सन्देश है कि '**अप्पाणमेव समभिजाणाहि**'—और कुछ जानने से पहले अपने को जानो, अपने को परखो। जिसने अपने को नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना। जिसने अपने को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया—'**आत्मनि विज्ञाने सर्वं विज्ञातं भवति।**"

आत्माओं में यह विरूपता क्यों?

भारतीय धर्मों और दर्शनों ने जब आत्मतत्त्व का परीक्षण किया, विश्लेषण किया, तो उन्होंने देखा कि सब आत्मा एक-सी नहीं है, एक स्वरूप नहीं है। कोई क्रूर है तो कोई दयालु है; कोई अभिमानी है तो कोई विनम्र है; कोई सरल है तो कोई कुटिल है: कोई लोभी-लालची है तो कोई सन्तोषी-उदार है; कोई रागी-द्वेषी है तो कोई वीतरागी है; कोई संयमी है तो कोई असंयमी है। प्रश्न है, यह विभिन्नता क्यों? आत्मा जब आत्मा है तो उसका रूप एक ही होना चाहिए। यह विरूपता क्यों, विभिन्नता क्यों, विविधता क्यों? एक तत्त्व में दो परस्पर विरोधी रूप नहीं हो सकते। यदि हैं तो उनमें कोई एक ही रूप मौलिक एवं वास्तविक हो सकता है[1]। दोनों तो वास्तविक नहीं हो सकते, मौलिक नहीं

१—सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया—द्रव्यसंग्रह।

प्रश्नों पर भारतीय चिन्तन में काफी चर्चा हुई है। कुछ विचारकों ने ऐसा माना है कि आत्मा स्वयं कुछ नहीं कर पाता है, वह अपने भाग्य का विधाता स्वयं नहीं है। जो कुछ भी होता है, वह ईश्वर के द्वारा होता है। ईश्वर की इच्छा है, वह जैसा चाहता है, वैसा करता है।[1] यह विचार भारतीय चिन्तन में प्रस्फुटित तो हुआ है, परन्तु ठीक तरह गति नहीं पकड़ सका। यह कैसी बात कि प्राणी के हाथ में कोई सत्ता नहीं। वह निरीह है, दीन है, हीन है, असमर्थ है। वह स्वयं कुछ नहीं करता और अकारण ही ईश्वर अपनी निरंकुश इच्छा को उस पर थोप देता है। अतः यह चिन्तन विचार-क्षेत्र में अधिक समर्थन नहीं पा सका। कर्म का सिद्धान्त ही सर्वोपरि सिद्धान्त माना गया। जैन दर्शन का तो यह प्राणतत्त्व ही है। जैन तत्त्व की यह मुक्त घोषणा है कि आत्माओं की अशुद्धता एवं विरूपता 'कर्म' के कारण है।[2] और कर्म भी किसी अन्य के द्वारा लादा हुआ नहीं होता, अपना ही किया होता है।[3] व्यक्ति ही कर्ता है, व्यक्ति ही भोक्ता है। कृत ही भोगा जाता है, अकृत नहीं। जो कर्ता है वही भोक्ता भी है।[4] यह नहीं कि कर्ता कोई और हो, और भोक्ता कोई और ही। यह आत्माओं की स्वतन्त्रता का वह महान् उद्घोष है, जिसे कोई महान चुनौती नहीं दी जा सकती।

क्रिया कर्म की जननी

कर्म क्या है और वह आत्मा के साथ कैसे बद्ध होता है? उक्त प्रश्न समाधान के लिए स्पष्ट विचारणा माँगता है। अन्य दर्शनों में कर्म के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ हैं, यहाँ हम उस लम्बे विस्तार में नहीं जाना चाहते। प्रस्तुत प्रसंग जैन दर्शन का है, अतः हम यहाँ संक्षेप में जैन दर्शन से सम्बन्धित कर्मवाद की ही विवेचना प्रस्तुत करते हैं।

जैन दर्शन का मन्तव्य है कि समग्र लोक में कार्मण वर्गणा के पुद्गल व्याप्त हैं। ये पुद्गल स्वयं कर्म नहीं हैं, किन्तु उनमें कर्म होने की योग्यता है। वे कर्मरूप पर्याय विशेष में प्रसंगानुसार परिणत हो जाते हैं। प्राणी के अन्तर में जब भी राग-द्वेषात्मक भाव होते हैं,[5] तभी तत्क्षण वे आत्मक्षेत्रावगाही कार्मण[6] वर्गणा के पुद्गल कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं, और कार्मण नाम के सूक्ष्म शरीर के माध्यम से आत्मा के साथ बद्ध हो जाते हैं। आत्मा

१—ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा—

२—कम्मुणा उवाही जायइ—आया० १।३।१

३—अत्तकडे दुक्खे णो परकडे।—भग० १७।५

४—अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।—उत्त० २०।

५—रागो य दोसो वि य कम्मवीयं—उत्त० ३२।७

६—……सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिता……तत्त्वार्थसूत्र ८।२५

के साथ बद्ध रहने की उनकी अपनी-अपनी एक काल-मर्यादा होती है, उसे शास्त्रीय भाषा में स्थितिबन्ध कहते हैं। जब आत्मा कर्मों का फल भोग कर लेती है तब वह कर्म-पुद्गल आत्मा से अलग हो जाते हैं। फल भोग के समय यदि आत्मा के रागद्वेषात्मक भाव होते हैं, तो फिर वह नये कर्म बाँध लेता है और उन्हें फिर यथाप्रसंग भोगना होता है। इस प्रकार बीज वृक्ष-न्याय से कर्म और कर्मफल का भोग, फिर कर्म और फिर कर्मफल का भोग—यह चक्र अनादि काल से चला आ रहा है। सांसारिक स्थिति के निचले स्तरों पर कोई क्षण ऐसा नहीं गुजरता, जबकि रागद्वेष की वृत्ति का कोई भी अंश अन्दर में न हो और उस समय कोई भी कर्म आत्मा के साथ न बँधता हो। हर क्षण में रागद्वेष किसी न किसी रूप में होते ही हैं और उसके अनुसार कर्मबन्ध भी न्यूनाधिक मात्रा में हर क्षण होता ही रहता है।

द्रव्यकर्म पुद्गल रूप है, और वह भावकर्म के निमित्त से कर्म का रूप ग्रहण करता है। यह भावकर्म ही है, जिसे जैन दर्शन ने क्रिया कहा है, और जिसे कर्म की जननी कहा जाता है। आत्मा की शुभ-अशुभ प्रवृत्तियाँ, चेष्टाएँ, हरकतें ही क्रिया हैं। यदि क्रिया न हो तो कर्म भी न हो। क्रिया से ही कर्म अस्तित्व में आता है। हर क्रिया की कोई न कोई प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया ही कर्म है।

अतएव जैन दर्शन ने जितने विस्तार से कर्मों का वर्णन किया है, उतने ही विस्तार से क्रियाओं का भी वर्णन किया है। कर्म के शुभाशुभ विकल्पों को, विभिन्न प्रकारों को समझने के लिये क्रियाओं के स्वरूप का भी विस्तार से परिज्ञान होना आवश्यक है। आगम साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग क्रियाओं की चर्चा से परिव्याप्त है। कहीं संक्षेप शैली में चर्चा है तो कहीं विस्तार शैली में। कहीं व्यवहार दृष्टि से निरूपण है तो कहीं निश्चय दृष्टि से। कहीं-कहीं तो इतनी अधिक सूक्ष्म चर्चाएँ हैं कि उनके वास्तविक मर्म को समझने के लिये काफी दूर तक चिन्तन की गहराई में उतरना पड़ता है और यह चिन्तन की गहराई ही साधक के लिये साधना का पथ प्रशस्त करती है।

व्यक्ति की जैसी क्रिया होगी, उसी के अनुसार उसका कर्म भी होगा। और जैसा कर्म होगा, वैसा ही उसका फल होगा। यदि कोई कर्म के फल से बचना चाहता है तो उसे कर्मबन्ध से बचना होगा। और जो कर्म बन्ध से बचना चाहता है, उसे कर्मबन्ध करने वाली क्रियाओं से बचना होगा। मूल में क्रिया है और शेष सब उसी का विस्तार है। धर्म-साधना क्रियाओं का निरोध है, और कुछ नहीं। यह निरोध ही संवर है[1], जो जैन-साधना का महातिमहान मुक्तिपथ है।

१—आस्रवनिरोधः संवरः।—तत्त्वार्थसूत्र ९।१

क्रियाओं के निरोध से क्या अभिप्राय है? यह यहाँ समझ लेना आवश्यक है। क्रिया का यह अर्थ नहीं कि साधक निष्क्रिय होकर बैठ जायेगा, वह कोई भी प्रवृत्ति नहीं करेगा। साधना का अर्थ शून्यता नहीं है और न मनुष्य जीवनकाल में इस प्रकार शून्य, निर्जीव एवं निश्चेष्ट हो ही सकता है। जब तक जीवन है प्रवृत्तिचक्र चलता ही रहेगा। एक क्षण के लिये भी व्यक्ति निश्चेष्ट नहीं रह सकता।[1] जब जीवन की यह स्थिति है तब प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर साधन-पथ में क्रिया का निरोध कैसा? जब क्रिया का निरोध नहीं तो कर्म-बन्धन से छुटकारा नहीं और जब कर्म-बन्धन से छुटकारा नहीं तो फिर मुक्ति कैसे होगी? कर्मबन्धन से मुक्ति ही तो मुक्ति है।[2] उक्त प्रश्न का समाधान है कि यहाँ क्रिया से बाहर शरीर, इन्द्रिय आदि द्वारा होने वाली स्थूल प्रवृत्ति एवं चेष्टा ही अभिप्रेत नहीं है। यहाँ क्रिया से अभिप्राय है व्यक्ति के अन्दर की मनोवैज्ञानिक स्थिति, भावात्मक वृत्ति।

जिस प्रवृत्ति के मूल में राग, द्वेष तथा मोह की वृत्ति है, वस्तुतः वही प्रवृत्ति क्रिया है, जो कर्म बन्धन की हेतु होती है।[3] जो प्रवृत्ति अनासक्त भाव से की जाती है, संसार को अनित्य समझ कर उदासीन भाव से की जाती है, जिसके मूल में आवश्यकता पूर्ति हेतु केवल कर्तव्य कर्म की ही निर्मल बुद्धि है, अन्य कोई भी रागद्वेषात्मिका मलिन बुद्धि नहीं है, वह प्रवृत्ति होते हुए भी अप्रवृत्ति है, क्रिया होते हुए भी अक्रिया है। इस प्रकार बाहर होनेवाली क्रियाओं में कर्मबन्ध की शक्ति का अभाव होता है। यदि क्रिया की प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ कर्मबन्ध होता भी है तो वह क्षणिक होता है। ऐसा क्षणिक कि उसे कर्म या कर्मबन्ध कहना, केवल शास्त्रीय भाषा है और कुछ नहीं। जिस कर्म में न कोई स्थिति हो और न कोई फल प्रदानरूप रस ही हो, वह कर्म ही क्या? साधारण स्थिति में यदि बीज का वपन किया जाए तो अंकुर की उत्पत्ति होती है, किन्तु यदि बीज को भूँज दिया जाए तो उसके वपन से अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।[4] इसी प्रकार राग, द्वेष तथा मोह से प्रेरित होकर यदि क्रिया अर्थात् प्रवृत्ति करता है तो उससे कर्मबन्ध होता है, और उस कर्मबन्ध के फलभोग के लिये पुनर्जन्म होता है। किन्तु अनासक्त भाव से विवेक

१—न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।—भगवद्गीता ३।५

२—कृत्स्नकर्मक्षयोः मोक्षः।—तत्त्वार्थ सूत्र १०।३

३—पमायं कम्म माहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।—सूय० १।८।३

४—जहा दड्ढाणं बीयाणं न जायंति पुण अंकुरा।
कम्म-बीयेसु दड्ढेसु ण जायंति भवंकुरा॥ दसासु० ५।१५

पूर्वक प्रवृत्ति करने से न कर्मबन्ध होता है,[1] न उसके फलभोग के लिये पुनर्जन्म। जब कर्म ही नहीं तो उसका फल कैसा ? **मूलं नास्ति कुतः शाखा।** जब कोई साधक वीतराग हो जाता है, अर्हन्त स्थिति प्राप्त कर लेता है तो वह शताधिक वर्षों जीवित रह कर गमनागमनादि तथा धर्मदेशना आदि की उचित प्रवृत्ति करता है, निष्काम भाव से पूर्वबद्ध सुख-दुःख आदि के कर्मफलों को भोगता रहता है, किन्तु नवीन कर्मों से बद्ध नहीं होता। इसी दार्शनिक चिन्तन को लक्ष्य में रखकर अर्हन्त तीर्थंकरों के लिये '**जिणाणं जावयाणं, तिण्णाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोयगाणं**' आदि स्व-पर कल्याणकारिता के द्योतक महत्त्वपूर्ण विशेषणों का प्रयोग किया गया है। यह जीवन जीने की प्रक्रिया जल में कमल के रहने की प्रक्रिया है, जो भारतीय जीवन-पद्धति का एक आदर्श सूत्र है।[2]

कमल जल में जन्म लेता है, जल में पोषित होता है, बढ़ता है, खिलता है, महकता है परन्तु अपने पत्तों को जल से आर्द्र रेखांकित नहीं होने देता है। जल में रहकर भी जल से निर्लिप्त रहता है। साधक भी संसार में जन्म लेता है और अन्त तक संसार में ही रहता है, जीवन के लिये आवश्यक क्रियाएँ भी करता है, परन्तु वह उस अद्भुत निष्काम भाव से करता है कि क्रियाओं को करते हुए भी क्रियाओं से लिप्त नहीं होता है। वीतराग साधना का यही मूल रहस्य है।

क्रियाकोश : एक महत्त्वपूर्ण संकलन

प्राचीन आगम साहित्य में यत्र-तत्र क्रियाओं का उल्लेख बिखरा पड़ा है। कहीं पर कुछ वर्णन है तो कहीं पर कुछ। प्रबुद्ध पाठक भी उन सब उल्लेखों का एकत्र अनुसंधान एवं चिन्तन करने में कठिनाई अनुभव करता है। साधारण जिज्ञासु पाठकों की कठिनाई का तो कहना ही क्या ? कभी-कभी तो साधारण अध्येता इतनी उलझन में फँस जाता है कि सब कुछ छोड़कर किनारे ही जा बैठता है। श्री मोहनलालजी बाँठिया ने उन सब वर्णनों को क्रियाकोश के रूप में एकत्र संकलन कर वस्तुतः भारतीय वाङ्मय की एक उल्लेखनीय सेवा की है। मैं जानता हूँ, यह कार्य कितना अधिक श्रमसाध्य है। चिन्तन के पथ की कितनी विकट घाटियों को पार कर मंजिल पर पहुँचना होता है। प्रतिपाद्य विषय का विभिन्न भागों में वर्गीकरण कितना अधिक उलझन भरा होता है ? परन्तु श्री बाँठियाजी अपनी धुन के एक ही व्यक्ति हैं। उनका चिन्तन स्पष्ट है। वे वस्तुस्थिति को काफी गहराई

१—जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई ॥ दसवे० ४।८

२—न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ उत्त० ३२।४७

से पकड़ते हैं और उसका उचित विश्लेषण करते हैं। उनकी एक पुस्तक 'जैन पदार्थ विज्ञान में पुद्गल' प्रकाशित हुई है और वह काफी प्रशंसा प्राप्त कर चुकी है। इधर कुछ समय पहले 'लेश्याकोश' के नाम से एक दूसरी कृति भी उनकी बहुत शानदार निकली है। यह प्रस्तुत 'क्रियाकोश' भी उसी कोटि की श्रेष्ठ कृति है। इसमें यत्र-तत्र उनकी बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। आगम साहित्य में दूर-दूर तक फैले हुए क्रिया सम्बन्धी वर्णनों को बड़े सुन्दर ढङ्ग से एकत्र कर क्रिया-साहित्य का एक सर्वाङ्गीण चित्र ही उपस्थित कर दिया है। मैं श्री बाँठियाजी के इस संकलन का हृदय से स्वागत करता हूँ और विद्वानों से अनुरोध करता हूँ कि वे उक्त कोश का यथावकाश गम्भीर अध्ययन करें और सर्वसाधारण जिज्ञासुओं के लिये कर्मवाद, क्रियावाद, साथ ही कर्म-मुक्तिवाद आदि का भव्य विश्लेषण कर भारतीय तत्त्वचिन्तन की श्रीवृद्धि करें।

जैन भवन
मोती कटरा, आगरा
२०-१०-१९६९

—उपाध्याय अमर मुनि

आमुख

सकल जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण करके सम्पादक द्वय ने हजारों पारिभाषिक विषयों का चयन किया है तथा इन विषयों पर पाठों का प्राथमिक संकलन भी किया है। मूल दशमलव वर्गीकरण से ही पता चलता है कि सम्पदाकों ने कितनी विशाल दृष्टि से विषयों का विभाजन किया है। सम्पूर्ण जैन दशमलव वर्गीकरण की सूची V.D.C. की तरह प्रकाशित कर दी जाय—यह परम वांछनीय है। सम्पादकों से अनुरोध है कि वे इस कार्य को प्रगति दें और इस सूची के निर्माण में अन्य विद्वानों का सहयोग बिना दुविधा के लें जिससे निर्माण-कार्य शीघ्रातिशीघ्र सम्पूर्ण हो सके।

लेश्याकोश के बाद, जिसकी देश-विदेश में भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है, सम्पादकों ने क्रियाकोश का निर्माण किया है। यह ग्रंथ भी सम्पादकों ने उसी लगन तथा तटस्थ शोध वृत्ति से संकलित किया है जिससे उन्होंने लेश्याकोश किया था तथा अपने लेश्याकोश के अनुभवों से इसमें कई विशेषताएँ भी लाये हैं। यथा—ससमास-सप्रत्यय-सविशेषण क्रिया शब्दों की अकारादि क्रम से सूची तथा उनकी समूल पाठ परिभाषाएँ, विभिन्न क्रियाओं तथा उनके भेदों की आगमीय तथा आचार्यगण द्वारा की गई परिभाषाओं का संकलन, इससे सम्पादकगण की परिभाषा कोश-निर्माण की कल्पना की पूर्ति स्वतः होती जायगी।

क्रिया जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण विषय है। हमारा दैनिक जीवन अच्छी-बुरी क्रियाओं से संवलित है। क्रियाकुशल श्रावक-श्राविका प्रशस्त क्रियाओं में स्वयं को नियोजित करते हैं तथा उपयोग और विवेक से यत्न-पूर्वक गृहस्थ सांसारिक कार्यों को करते हुए दुष्ट व अप्रशस्त क्रियाओं से अपने को बचाते हैं। सच्चे श्रावकों का क्रियाकुशल होना आवश्यक है क्योंकि क्रियाओं का कुशल ज्ञान हुए बिना अप्रशस्त क्रियाओं से बचना कठिन है। भगवई सूत्र में तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों के गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें क्रियाकुशल का विशेषण भी दिया गया है।

जगत में, जैन दर्शन के अनुसार, छः द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल तथा काल। इनमें प्रथम तीन निष्क्रिय हैं। (देखो तत्त्व० ५।६) जीव और पुद्गल क्रियावान है (देखो तत्त्व० ५।६ भाष्य) तथा जीव और पुद्गल की क्रिया करने में काल सहकारी है। (देखो तत्त्व० ५।२२) निष्क्रिय का अर्थ यहाँ देशान्तर प्राप्ति रूप गति से है या परिणमन से ? धर्म-अधर्म-आकाश परिस्पंदन रूप कोई क्रिया नहीं करते हैं और न

एक प्रदेश से अन्य प्रदेश में स्थानान्तर करते हैं, वे जहाँ हैं वहीं स्थिर रहते हैं, पर अपने-अपने भावगुणों के अनुसार परिणमन अवश्य करते हैं।

जीव के दो भाव होते हैं—एक परिस्पंदनात्मक, दूसरा अपरिस्पंदनात्मक। (देखो राज० ५।२२। पृ० ४८१) जिसमें या जिससे जीव के आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन होता है वह परिस्पंदनात्मक भावक्रिया है। अपरिस्पंदनात्मक भाव परिणाम कहलाता है—**द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्ति-धर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः** (सर्व० ५।२२। पृ० २९२) ज्ञान-दर्शन-उपयोग आदि में जीव जो परिणमन करता है उससे उसके आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन नहीं होता है अतः ज्ञान-दर्शन-उपयोग अपरिस्पंदनात्मक है तथा जीव-परिणाम है। परिणाम और क्रिया दोनों जीव के भाव हैं, दोनों में अन्तर यह है कि परिणाम अपरिस्पंदनात्मक है तथा क्रिया परिस्पंदनात्मक होती है। जब जीव कोई क्रिया करता है तब उसके आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन होता है।

पुद्गल के भी दो भाव होते हैं—परिस्पंदनात्मक तथा अपरिस्पंदनात्मक। अपरिस्पंदनात्मक भाव में पुद्गल वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श तथा अगुरुलघु आदि गुणों में परिणमन करता है। (सर्व० ५।२२। पृ० २९२) परिस्पंदनात्मक भाव में एजनादि क्रिया तथा देशान्तर-प्राप्ति रूप क्रिया करता है।

जीव दो प्रकार के होते हैं—सशरीरी तथा अशरीरी। अशरीरी—सिद्ध जीव किसी प्रकार की परिस्पंदनात्मक क्रिया नहीं करते हैं अतः अक्रिय होते हैं (देखो क्रमांक '८१'१) यहाँ खयाल रखने की बात है कि प्रथम समय के सिद्ध एजन क्रिया सहित (सेया) होते हैं। (देखो क्रमांक '६३'७) सशरीरी जीव दो प्रकार के होते हैं। चतुर्दश-गुणस्थानवर्ती तथा इतर। चतुर्दशगुणस्थानवर्ती जीव शैलेशी-अडोल-अकम्प होते हैं, उनके सम्पूर्ण योग निरोध हो जाते हैं, उनके आत्मप्रदेश सर्वथा निष्कंप होते हैं, उस समय उनके कोई क्रिया नहीं होती है अतः वे अयोगी—अक्रिय कहलाते हैं। उस अवस्था में उनके परप्रयोग—परसंघात से क्रिया हो सकती है, निजके शरीर से कोई क्रिया नहीं होती है। (देखो क्रमांक '६३'५) चक्षुपक्ष्मनिपात जैसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया भी नहीं होती है। उनका शरीर भी बिल्कुल अडोल रहता है। पर जीव द्वारा परसंघात होने से या प्रचण्ड वायु, भूमिकम्प आदि के संघात से उनके शरीर में क्रिया हो सकती है लेकिन सम्भवतः यह संघातक्रिया शरीर के सम्पूर्ण निश्चेष्ट होने से, उनके आत्म-प्रदेशों का परिस्पंदन नहीं करती है। यह अनुसंधान का विषय है। चतुर्दशगुणस्थानवर्ती जीव जब सर्व प्रकार की क्रियाओं का व्यवच्छेद-समुच्छेद करता है तब वह सर्व क्रिया रहित हो जाता है। (देखो क्रमांक '६३'४)। तदनन्तर जीव शरीर से छूटकर एक समय की देशान्तरगामिनी-मोक्षगामिनी गति करता है। (देखो क्रमांक '७३'१०) उस समय उसके एजनक्रिया होती है—ऐसा कहा जाता है।

सूक्ष्मबादर काय-वाङ्-मनोयोग का निरोध होने से जीव अक्रिय हो जाता है अर्थात् अयोगी जीव अक्रिय होता है। सयोगी जीव योग के कारण सक्रिय होता है।

उपयोग जीव का मौलिक गुण है तथा उसका लक्षण है और यह सभी सक्रिय-अक्रिय जीवों में पाया जाता है। जो उपयोग इन्द्रियादि साधन के बिना होता है वह अपरिस्पंदनात्मक क्रियारहित होता है। जो उपयोग इन्द्रियादि साधनों के द्वारा होता है वह उन साधनों की क्रियासहित होता है।

अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्यवज्ञानोपयोग, केवलज्ञानोपयोग, विभंग-अज्ञानोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग, केवलदर्शनोपयोग—ये आधार के बिना होते हैं अतः इन उपयोगों में साधन क्रिया नहीं होती है। अवधिज्ञानोपयोग-मनःपर्यवज्ञानोपयोग, विभंगअज्ञानोपयोग, अवधि दर्शनोपयोग—चार उपयोग वाले जीव सयोगी ही होते हैं अतः योग की अपेक्षा क्रियासहित होते हैं। केवलज्ञान तथा केवलदर्शनोपयोग वाले जीव सयोगी हों तो योग की अपेक्षा क्रिया वाले होते हैं तथा अयोगी हों तो सर्वथा क्रियारहित होते हैं।

मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, मतिअज्ञानोपयोग, श्रुतअज्ञानोपयोग, चक्षुदर्शनोपयोग, अचक्षुदर्शनोपयोग—ये इन्द्रियादि साधनों के द्वारा होते हैं। इन साधनों से होनेवाली क्रिया-सहित होते हैं तथा ये सब उपयोग सयोगी जीव के ही होते हैं अतः वे जीव योग की अपेक्षा क्रिया-सहित होते हैं।

अलेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्द्वयः—द्वयोः केवलं ज्ञानम्, दर्शनं च उपयुञ्जानस्य योऽसौ अपरिस्पन्दोऽप्रनिरोधो जीवपरिणामविशेषस्तदकरणम्।

—भग० श १। उ ३। प्र १३०। टीका

अलेशी सर्वज्ञ का केवलज्ञानोपयोग तथा केवलदर्शनोपयोग सर्वथा अपरिस्पंदनात्मक अकरण वीर्यवाला अर्थात् सब प्रकार की क्रिया से रहित होता है।

मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यवज्ञान वाले जीव क्रियासहित होते हैं, क्रियारहित नहीं होते हैं, केवलज्ञानी जीव क्रियासहित भी होते हैं, क्रियारहित भी होते हैं। अज्ञानी जीव क्रिया सहित ही होते हैं, क्रिया रहित नहीं होते हैं। अज्ञानी जीव के मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया भी लगती है, ज्ञानी जीव को मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया नहीं लगती है।

मिथ्यादृष्टि तथा सममिथ्यादृष्टि जीव कभी क्रियारहित नहीं होते हैं। सम्यग्दृष्टि क्रियासहित भी होते हैं, क्रियारहित भी होते हैं। तेरहवें गुणस्थान तक के सम्यग्दृष्टि जीव क्रिया सहित होते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान के सम्यग्दृष्टि जीव क्रियारहित होते हैं। मिथ्यादृष्टि तथा सममिथ्यादृष्टि जीवों के अन्य क्रियाओं के साथ मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया लगती है; समदृष्टि जीव के मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया नहीं लगती है।

नत्थि हु सक्किरियाणं अवंधगं किंचि इह अणुट्ठाणं—

—आव० मलय टीका उक्त भा० गा १४६

यहाँ क्रिया के दो भेद किये गये हैं—यथा—सदनुष्ठान क्रिया तथा असदनुष्ठान क्रिया। सदनुष्ठान क्रिया से निर्जरा के साथ-साथ पुण्यकर्म का वन्धन भी होता है। यह पुण्यकर्म लम्बी स्थिति का भी हो सकता है या दो समय की स्थिति का भी हो सकता है। ऐर्यापथिकी क्रिया में दो समय की स्थितिवाले ऐर्यापथिकी कर्म का ही बन्धन होता है (देखो क्रमांक '३७'४)। प्रशस्त योग-क्रिया से कर्मों की निर्जरा होती है। (देखो उत्त० अ २६। सू ८) जीव कर्मों से बँधा हुआ है, उनसे छुटकारा पाने के लिए क्रिया करने की आवश्यकता होती है। इसी कारण कहा गया है कि '**ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः।**' मोक्ष—(**कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः**) कर्मों का सम्पूर्ण नाश करने के लिए ज्ञान के साथ-साथ क्रिया—सदनुष्ठान—प्रशस्त क्रियाओं का करना आवश्यक है। यद्यपि शेष समय में—अन्तक्रिया करने के समय में – मोक्ष प्राप्त करने के समय में जीव को सर्वथा अक्रिय होना पड़ता है लेकिन उस अवस्था के आगे कर्म काटने के लिए सभी जीवों को प्रशस्त क्रिया करनी होती है विना क्रिया किए—विना कर्म-वल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम किये—वन्धे हुए कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता है।

सामान्यतः २५ क्रियाएँ (पाँच-पाँच क्रियाओं के पाँच पंचक) प्रसिद्ध हैं। (देखो क्रमांक '६६) लेकिन आगमों में अन्य क्रियाओं का भी यत्र-तत्र वर्णन मिला है। तथा टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी एजनादि क्रियाओं का (देखो क्रमांक '६३'४) वर्णन करके लिखा है कि इसी प्रकार अन्य क्रियाओं को भी सोच लेना चाहिए। जीव पुद्गल के सहयोग से जितने प्रकार की क्रिया कर सकता है उतने प्रकार की क्रियाएँ हो सकती हैं। कोश में ५३ क्रियाओं (देखिये क्रमांक '११ से '६३) के पाठों का संकलन किया गया है।

जीव के क्रियामात्र से कर्म का वन्धन होता है—चाहे पुण्यकर्म का वन्धन हो चाहे पापकर्म का—क्रिया से कर्म वन्धन अवश्य होता है।

क्रिया को जो कर्मवन्धन का निमित्तभूत कहा गया है वह केवल पापकर्म के वन्धन की दृष्टि से नहीं कहा गया है। पाप या पुण्य दोनों कर्मों के वन्धन की दृष्टि से कहा गया है। कई क्रियाओं से पापकर्म का वन्धन होता है, यथा आरम्भिकी, कायिकी आदि कई क्रियाओं से पुण्यकर्म का वन्धन होता है, यथा—ऐर्यापथिकी, सम्यक्त्वक्रिया।

समास में क्रियाओं का दो विभाग किया गया है—जीवक्रिया और अजीवक्रिया। जीवक्रिया अर्थात् जीव अपने परिणामों और अध्यवसायों से जो क्रिया करे वह जीवक्रिया। सम्यक्त्वक्रिया और मिथ्यात्वक्रिया—जीवक्रिया के उदाहरण हैं। (देखिये क्रमांक '११)

अजीवक्रिया—जिससे जीव पुद्‌गल समुदाय की कर्मरूप परिणति करे वह जीव की अजीवक्रिया है। अजीव क्रिया के उदाहरण में ऐर्यापथिक और सांपरायिक क्रिया को बताया गया है। (देखो क्रमांक ·१२)

शुद्ध देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा से समदृष्टि जीव जो विनयादि व्यापार—क्रिया करता है वह सम्यक्त्वक्रिया है तथा सिद्धसेन गणि की टीका के अनुसार मोह के क्षयोपशम से होने वाले मोहशुद्ध कर्मदलिक के अनुभव—वेदन से होनेवाली प्रवृत्ति सम्यक्त्व क्रिया है। (देखिये क्रमांक ·३६) यह क्षयोपशम से होनेवाली सम्यक्त्वक्रिया चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीवों को ही होती है—ऐसा समझना चाहिए।

मिथ्या देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा से अथवा अतत्त्व-श्रद्धान से जीव के द्वारा किया गया व्यापार या क्रिया—मिथ्यात्वक्रिया है। यह क्रिया पहले व तीसरे गुणस्थान के जीवों को होती है। एक बात विशेष ध्यान में रखने की है कि सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्रियाएँ—विरोधी क्रियाएँ हैं। एक समय में एक जीव के ये दोनों क्रियाएँ नहीं हो सकती हैं। जिस समय सम्यक्त्वक्रिया होती है उस समय मिथ्यात्व क्रिया नहीं हो सकती, जिस समय मिथ्यात्व क्रिया होती है उस समय सम्यक्त्व क्रिया नहीं हो सकती है। (देखिये क्रमांक ·६४·११) यद्यपि तीसरे गुणस्थान का अभिवचन सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है फिर भी वहाँ एक समय में एक ही क्रिया होनी चाहिए, मिश्र क्रिया नहीं हो सकती है।

सांपरायिक और ऐर्यापथिकी क्रियायें भी विरोधी क्रियाएँ हैं। ये दोनों क्रियाएँ भी एक जीव के एक समय में नहीं होती हैं। जिस समय सांपरायिकी क्रिया होती है उस समय ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं हो सकती है, जिस समय ऐर्यापथिकी क्रिया होती है उस समय सांपरायिकी क्रिया नहीं हो सकती है। (क्रमांक ·६४·२·१) सकषायी जीव के सांपरायिकी क्रिया होती है, अकषायी जीव के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है। ऐर्यापथिक क्रिया से दो समय की स्थितिवाले कर्म का बन्धन होता है तथा सांपरायिकी क्रिया से अन्तर्मुहूर्त अथवा तद्‌अधिक स्थिति वाले कर्म का बन्धन होता है।

मिथ्यात्व क्रिया का तीन प्रकार से वर्णन मिलता है—एक आरम्भिकी क्रिया पंचक के अन्तर्गत मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी (**मिच्छादंसणवत्तिया**) रूप में मिलता है (देखो क्रमांक ·१७), दूसरा सम्यक्त्व क्रियापंचक के अन्तर्गत मिथ्यात्व (**मिच्छत्त**) क्रिया के रूप में मिलता है (देखो क्रमांक ·४०), तथा सम्यक्त्व-मिथ्यात्वद्वयक के रूपमें भी मिलता है (देखो क्रमांक ·६४·१) तथा अठारह पापस्थान के अन्तर्गत मिथ्यादर्शन-शल्य (**मिच्छादंसणसल्ल**) के रूप में मिलता है। (देखो क्रमांक ·६२)

आरम्भिकी क्रियापंचक (आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यान, मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी)—सबसे महत्त्वपूर्ण क्रियापंचक है। यह दण्डक के सभी

जीवों में पाया जाता है। सभी मिथ्यादृष्टि जीवों के आरम्भिकी पंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं तथा समदृष्टि जीवों के आरम्भिकी पंचक की प्रथम की चार क्रियाएँ होती हैं।

गुणस्थान की अपेक्षा आरम्भिकी क्रिया प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीवों के होती है, पारिग्रहिकी क्रिया संयता संयत गुणस्थान तक के जीवों को होती है, मायाप्रत्ययिकी क्रिया सराग अप्रमत्तसंयत—दशवें गुणस्थान तक के जीवों को होती है, अप्रत्याख्यान क्रिया अविरत गुणस्थान तक के जीवों को होती है, मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया मिथ्यादृष्टि जीवों को होती है। वीतराग संयत अर्थात् ग्याहरवें तथा तदुपरि गुणस्थान के जीवों को आरम्भिकी क्रियापंचक की कोई क्रिया नहीं होती है इस अपेक्षा से वे अक्रिय होते हैं।

आरम्भिकी क्रिया--कोई भी आरम्भ के करने से होती है। यह क्रिया छट्टे गुणस्थान के प्रमत्तसंयत के भी होती है लेकिन जब प्रमत्तसंयत के शुभयोग होता है तब वह **अनारंभी** होता है, अतः शुभयोग प्रवर्तते हुए अनारम्भी प्रमत्तसंयत के आरम्भ का अभाव होने से आरम्भिकी क्रिया नहीं होती है।

मूल—XXX। **तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च णो आयारंभा, णो परारंभा, णो तदुभयारंभा अणारंभा।**

—भग० श १। उ १। प्र ४८। पृ० ३८६

आरंभिकी क्रियापंचक की नियमा-भजना औधिक जीव की अपेक्षा इस प्रकार है :—

जिस औधिक जीव के आरंभिकी क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है लेकिन जिसके पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसके आरंभिकी क्रिया नियम से होती है। जिस जीव के आरंभिकी क्रिया होती है उसके मायाप्रत्ययिकी क्रिया नियम से होती है तथा जिसके मायाप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके आरंभिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। जिस जीव के आरंभिकी क्रिया होती है उसके अप्रत्याख्यान क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिस जीव के अप्रत्याख्यान क्रिया होती है उसके आरंभिकी क्रिया नियम से होती है। जिसके आरंभिकी क्रिया होती है उसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके आरम्भिकी क्रिया नियम से होती है।

जंघाचारण या विद्याचारण लब्धि के अतिशय से आकाश में गमन करने वाले जीव को आरम्भिकी क्रिया होती है। पुलाकलब्धि वाला पुलाकसंयति किसी कारण से पुलाक-लब्धि का प्रयोग करता है तो उसको आरम्भिकी क्रिया होती है। तेजोलब्धि फोड़ने वाले जीव को आरम्भिकी क्रिया होती है तथा कायिकी क्रियापंचक में से जघन्य तीन, उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ होती हैं।

वैक्रिय लब्धि फोड़ने वाले जीव को आरम्भिकी क्रिया होती है तथा कायिकी क्रिया पञ्चक में से जघन्य तीन, उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ होती हैं।

आहारकलब्धि फोड़ने वाले जीव को आरम्भिकी क्रिया होती है तथा कायिकी क्रियापञ्चक में से जघन्य तीन, उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ होती हैं। (देखें क्रमांक '६६'१३)

जंघाचारण, विद्याचारण, पुलाक तथा आहारकलब्धि फोड़ने वाले जीव को मिथ्या-दर्शनप्रत्ययिकी क्रिया नहीं होती है क्योंकि ये जीव नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं।

तेजोलब्धि तथा वैक्रियलब्धि फोड़ने वाले कोई एक जीव को मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है, कोई एक जीव को मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया नहीं होती है।

आगमों में मनुष्य के दैनिक जीवन के कार्य-क्रमों के उदाहरण देकर आरम्भिकी क्रियापञ्चक का विवेचन किया गया है :—

(१) यदि किसी व्यक्ति की कोई वस्तु चोरी चली जाय और वह व्यक्ति उस चोरी गयी हुई वस्तु की जब तक खोज करता रहे तब तक उस व्यक्ति के यदि सम्यग्दृष्टि है तो प्रथम की चार और यदि मिथ्यादृष्टि है तो पाँचों क्रियाएँ होती हैं। यदि खोई हुई वस्तु वापस मिल जाय तो क्रियाएँ प्रतनु—हलकी हो जाती हैं।

(२) विक्रेता से यदि कोई खरीददार माल खरीद ले और सौदा पक्का करके बयाना दे दे किन्तु माल की डिलेवरी न ले तब तक विक्रेता को चार या पाँच क्रियाएँ होती हैं, खरीददार को भी चार या पाँच क्रियाएँ होती हैं लेकिन वे हलकी होती हैं। इसके पश्चात् जब खरीददार माल उठाकर ले जाता है तब खरीददार की क्रियाएँ भारी हो जाती हैं तथा बेचवाल की क्रियाएँ प्रतनु—हलकी हो जाती हैं। खरीददार जब तक माल की कीमत का भुगतान नहीं करता है तब तक धन की अपेक्षा खरीददार को महती क्रिया और बेचवाल को हलकी क्रिया होती है। बेचे हुए माल की कीमत प्राप्त हो जाने के पश्चात् विक्रेता को महती, ग्राहक को हलकी क्रिया होती है।

कायिकी क्रियापंचक आरम्भिकी क्रिया का विश्लेषण है। जब जीव अन्य जीव की किसी भी प्रकार से हिंसा करता है तब उसको आरम्भिकी क्रिया होती है। जिस जीव के आरम्भिकी क्रिया होती है उस जीव के कायिकी क्रियापंचक की प्रथमतः तीन क्रियाएँ

जब जीव के प्रबल असाता वेदना उत्पन्न होती है तब वह जीव वेदना समुद्घात करता है। वेदना समुद्घात के द्वारा वह जीव अपने शरीरस्थ पुद्गलों को बाहर निकालता है और बहिर्गत पुद्गल अनेक प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों के संपर्क में आते हैं और उनके संपर्क से उन जीवों में हलन-चलन होता है, उनके वेदना उत्पन्न होती है, उससे वेदना समुद्घात करने वाले जीव को कायिकी क्रियापंचक की कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं। उक्त हलन-चलन करने वाले जीवों से यदि अन्य जीवों को आघात पहुँचे तो उस वेदना समुद्घात करने वाले जीव के इन जीवों की अपेक्षा भी कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं।

कषाय मारणांतिक, वैक्रिय तथा तैजस समुद्घात करने वाले जीव के वेदना समुद्घात करने वाले जीव की तरह कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं। आहारक समुद्घात करने वाले जीव के भी निर्गत पुद्गलों के द्वारा जीव के हननादि के कारण कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं।

केवली समुद्घात करने वाले जीव के द्वारा निर्ज्जरित पुद्गल सूक्ष्म होते हैं अतः उनके कायिकी क्रियापंचक की कोई क्रिया नहीं होती है, केवल ऐर्यापथिक क्रिया होती है।

कायिकी क्रियापंचक का जिस सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है वह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है—

(क) यदि कोई व्यक्ति यह जानने के लिए—वर्षा बरसती है या नहीं—अपने हाथ, पैर, बाहु और शरीर को बाहर फैलाता है या समेटता है तो उस व्यक्ति को कायिकी आदि पाँचों क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

(ख) यदि किसी वृक्ष का फल अपने गुरुभार से गिरे और नीचे गिरते हुए उस फल के द्वारा जब तक जीवों का हनन यावत् प्राणवियोग होता है तब तक जिन जीवों के शरीर से फल का वृक्ष बना उन जीवों को चार क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं तथा जिन जीवों के शरीर से फल बना उन जीवों को पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं तथा स्वाभाविक रूप से अपने गुरुभार से गिरते हुए उस फल के जो जीव उपग्राहक—उपकारक होते हैं उन जीवों को भी कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। कायिकी क्रियापंचक को भी दैनिक जीवन के उदाहरण देकर समझाया गया है—ये उदाहरण मननीय या धारणीय हैं। अन्य उदाहरणों के लिए क्रमांक ६६·१०,·६६·११,·६६·१२ तथा ·६६·१६ अवश्य पठनीय हैं।

अप्रत्याख्यानक्रिया दार्शनिक तथ्यों पर आधारित है। जहाँ किसी भी पापस्थानिक कार्य के प्रत्याख्यान का अभाव होता है वहाँ अप्रत्याख्यान क्रिया होती है। अप्रत्याख्यान क्रिया में यौगिक क्रिया की कल्पना नहीं है, मात्र प्रत्याख्यान का अभाव है अर्थात् कोई पापकर्म नहीं करूँगा—ऐसे संकल्प का अभाव है। अर्थात् किसी जीव को परितापना नहीं दूंगा, किसी जीव का प्राणातिपात नहीं करूँगा आदि-आदि संकल्पों के अभाव होने से ही अप्रत्यख्यान क्रिया होती है। अप्रत्याख्यान क्रिया का दार्शनिक सिद्धांत कहता है कि यदि कोई व्यक्ति जीवहिंसा—प्राणातिपात नहीं कर रहा है लेकिन उसके हिंसा करने में कोई बाधा नहीं है, हिंसा करने का प्रत्याख्यान नहीं है, विरति नहीं है तो उस व्यक्ति को हिंसा की क्रिया लगती है। कोई क्षुद्रातिक्षुद्र जीव जिसके मन-वचन की शक्ति भी नहीं है, जिसकी चेतना स्वप्न जितनी भी नहीं है उस जीव के हिंसा नहीं करते हुए भी हिंसा सम्बन्धी क्रिया लगती है। यह क्रिया प्रत्याख्यान के अभाव होने से होती है। अप्रत्याख्यान क्रिया की

बड़ी विशेषता यह है कि यह क्रिया भेदभाव रहित क्षुद्रकायी कुंथु-कीट या स्थूलकायी हाथी, सेठ या गरीब, राजा या रङ्क, सबको समान भाव से लगती है, यदि पाप कर्मों के नहीं करने का उनके प्रत्याख्यान नहीं हो। क्रमांक '१६'६ २ में अप्रत्याख्यान क्रिया का दर्शनिक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है।

क्रिया से बन्धने वाले कर्म की स्थिति की अपेक्षा क्रिया के दो भेद किये गये हैं, यथा—ऐर्यापथिकी क्रिया, साम्परायिकी क्रिया। ऐर्यापथिकी क्रिया की स्थिति दो समय की होती है। इस क्रिया से प्रथम समय में कर्म बद्ध और स्पृष्ट होते हैं, द्वितीय समय में वे कर्म उदीरित—वेदित होते हैं, तृतीय समय में निर्ज्जरित होते हैं। टीकाकार के अनुसार यह क्रिया उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगी केवली गुणस्थान के जीवों के होती है। सयोगी जीव क्षण मात्र के लिए भी अग्नि में तपते हुए जलबिन्दु की तरह, निश्चल नहीं रह सकते हैं अतः यह ऐर्यापथिकी क्रिया सयोगी केवली के भी होती है। जाने, आने, उठने, बैठने आदि की स्थूल क्रिया से लेकर यावत् आँख की पलक हिलने मात्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया से ऐर्यापथिकी क्रिया होती है। ऐर्यापथिकी क्रिया से केवलमात्र एक कर्मप्रकृति का बन्धन होता है। और वह कर्मप्रकृति—सातावेदनीय कर्मप्रकृति है। ऐर्यापथिकी क्रिया से सातावेदनीय कर्मप्रकृति व्यतिरिक्त अन्य किसी कर्मप्रकृति का बन्धन नहीं होता है। साम्परायिक क्रिया से जब सातावेदनीय कर्मप्रकृति का बन्ध होता है तब उसकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की होती है।

जिस अनगार के क्रोध-मान-माया-लोभ व्युच्छिन्न हो गये हैं उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, साम्परायिकी क्रिया नहीं होती है तथा जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ व्युच्छिन्न नहीं हुए हैं उसके साम्परायिकी क्रिया होती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है। सूत्र के अनुसार चलते हुए अनगार के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है तथा उत्सूत्र चलते हुए अनगार के सांपरायिकी क्रिया होती है। उपयोगपूर्वक गमनादि करते हुए, वस्त्रपात्र आदि लेते, रखते हुए संवृत अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, साम्परायिकी क्रिया नहीं होती है। अनुपयोगपूर्वक गमनादि करते हुए, वस्त्र-पात्र लेते हुए अनगार को सांपरायिकी क्रिया होती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है।

अगल-बगल युगप्रमाण भूमि को देखकर चलते हुए भावितात्मा अनगार के पैर के नीचे यदि कोई छोटा जानवर या सूक्ष्म जन्तु आकर कष्ट पावे या उसका प्राणवियोग हो जाय तो उस अणगार को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है क्योंकि उस अनगार के राग-द्वेष क्षीण हो गये हैं।

सामायिक करते हुए श्रमणोपासक को सांपरायिकी क्रिया होती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है क्योंकि उसकी आत्मा अधिकरण होती है, उसकी आत्मा अधिकरण

को क्रिया जीव रूप अथवा रूपवान् द्रव्यो की अपेक्षा करता है। परिग्रह पापस्थान की क्रिया जीव सर्व द्रव्यों की अपेक्षा स्व-स्वामिभाव से होने वाली मूर्च्छा से करता है। अवशेष पापस्थान—क्रोध यावत् मिथ्यादर्शनशल्य पापस्थान की क्रिया जीव सब द्रव्यों की अपेक्षा करता है। पापस्थान की क्रिया सभी दण्डक के जीव करते हैं। पापस्थान क्रियाओं से सात अथवा आठ कर्मप्रकृतियों का बंधन होता है।

हिंसा की क्रियाओं का निम्न प्रकार से वर्णन है। आरम्भिकी क्रियापंचक में आरम्भिकी क्रिया का वर्णन है। (देखें क्रमांक '१४) कायिकी क्रियापंचक में हिंसा की सम्पूर्ण क्रिया का वर्णन है अर्थात् जीव किस प्रकार हिंसा करता है इसका यथाक्रम से वर्णन है। तेरहवें क्रियास्थान में पाँच प्रकार की हिंसा की क्रियाओं का वर्णन है, यथा—अर्थ-दण्डप्रत्ययिकी, अनर्थदण्डप्रत्ययिकी, हिंसादंडप्रत्ययिकी, अकस्मात्-दंडप्रत्ययिकी, दृष्टि-विपर्यासप्रत्ययिकी। (देखें क्रमांक '४३ से '४७ तक) अठारह पापस्थान में पहला पापस्थान प्राणातिपात का है।

यद्यपि उपर्युक्त क्रियाओं में हिंसा का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोण से किया गया है फिर भी सर्वत्र हिंसा की भावना स्पष्ट है। हिंसा की क्रिया को समास में दो भागों में विभक्त किया गया है, यथा—पारितापनिकी क्रिया तथा प्राणातिपातिकी क्रिया। पारितापनिकी क्रिया में जीव को पीड़ा होती है, असाता की उत्पत्ति होती हैं तथा प्राणातिपातिकी में प्राण का काय से वियोग होता है या जीव की पर्याय का विनाश होता है।

चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक में 'इरियावहियं सुत्तं' में कुछ हिंसा की क्रियाओं का वर्णन है, यथा – अभिहया (अभिहताः)—आघात पहुँचाना ; वत्तिया (वर्तिताः)— रज आदि से आच्छादित करना ; लेसिया (श्लेषिताः)—भूमि आदि पर मर्दन करना ; संघाइया (संघातिताः) —जीवो का संग्रह करना ; संघट्टिया (संघट्टिताः)—स्पर्श करना ; परियाविया (परितापिताः)—असाता उत्पन्न करना ; किलामिया (क्लामिताः)—अधमरा-मृतप्राय करना ; उद्दविया (उपद्राविताः)—आतंकित करना : ठाणाओ ठाणं संकामिया (संक्रामिताः)—एक स्थान से दूसरे स्थान पर अयत्न से रखना ; जीवियाओ ववरोविया (जीवितात् व्यपरोपिताः)—प्राण से रहित करना। ये क्रियाएँ सामान्य दैनिक जीवन में होनेवाली हिंसा की क्रियाएँ हैं।

संरंभ, समारम्भ, आरम्भ—इन तीन शब्दो से हिंसा के क्रम का वर्णन— आगमों में किया जाता है। संरम्भ अर्थात् हिंसा करने का संकल्प करना या हिंसा करने का आयोजन करना ; समारम्भ अर्थात् परिताप उत्पन्न करना ; आरम्भ अर्थात् प्राणातिपात करना—इन तीनों का आरम्भिकी क्रिया में समावेश हो जाता है।

अक्रिया शब्द का तीन अर्थों में प्रयोग किया जाता है। (एक) दुष्ट क्रियाओं को अक्रिया कहा जाता है, मिथ्यात्व से उपहत जीव का अमोक्ष-साधक अनुष्ठान अक्रिया कहलाता है। (दो) संवृत अणगार की निरवद्य क्रिया पापकर्म का वन्धन नहीं करनेवाली होने से अक्रिया कहलाती है तथा उस संवृत अणगार को अक्रिय कहा जाता है, (तीन) चतुर्दश गुणस्थानवर्ती जीव का योग निरोध अक्रिया है ; व्यवदान (कर्मक्षय) से अक्रिया होती है तथा अक्रिया से जीव अन्तक्रिया करके मोक्ष को प्राप्त करता है।

श्रमण निर्ग्रन्थ के भी क्रिया होती है ; उनके प्रमाद के कारण तथा योग-निमित्त से क्रिया होती है अर्थात् कर्म का वन्धन होता है [देखें '६४'१ (छ)] प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि सांयमिक क्रियाओं में अवहेलना करना, उनको नहीं करना, उनमें जल्दवादी करना, असावधानी करना, उनको समय पर नहीं करना—इत्यादि प्रमादों से श्रमण-निर्ग्रन्थ को कर्म का वन्धन होता है। जाना, आना, उठना, वैठना, वस्त्रपात्रादि लेना, रखना आदि यौगिक क्रियाओं को अयत्नपूर्वक करने से श्रमण-निर्ग्रन्थ को योगनिमित्त से क्रिया होती है। अयत्नपूर्वक गमनादि क्रिया करने से श्रमण-निर्ग्रन्थ को कायिकी क्रियापंचक की ३ या ४ या ५ क्रियाएँ होती हैं। टीकाकार के अनुसार दुष्प्रयुक्त शरीर की चेष्टाओं से श्रमण-निर्ग्रन्थ को प्रमादप्रत्ययिकी क्रिया होती है। जिस श्रमण के प्रमाद भी नहीं है, कषाय भी नहीं है, केवल योग है, उस श्रमण-निर्ग्रन्थ के योग-निमित्त से केवल ऐर्यापथिकी क्रिया होती है।

प्रतिक्रमण सूत्र में भिक्षु के द्वारा 'क्रियाओं' का प्रतिक्रमण करने का विधान है। इसमें क्रिया प्रतिक्रमण के दो पाठ हैं, एक, कायिकी क्रियापंचक के प्रतिक्रमण का पाठ है तथा दूसरा, तेरह क्रियास्थानों के प्रतिक्रमण का पाठ है। [देखें क्रमांक '६३] यहाँ पर यह विचारणीय है कि इन तेरह क्रियास्थानों में ऐर्यापथिकी क्रिया भी शामिल है तथा भिक्षु उसका भी प्रतिक्रमण करता है। श्रमण-निर्ग्रन्थ के साधुवृत्ति को पालन करते हुए कभी-कभी प्रमादवश या अन्यथा साध्वाचार का अतिक्रमण हो जाता है तव उन अतिक्रमण की क्रियाओं से श्रमण के क्रिया होती है। ऐसी कितनी ही क्रियाओं का आचारांग सूत्र में वर्णन है, यथा—कालातिक्रम क्रिया, उपस्थान क्रिया, अभिक्रांत क्रिया, अनभिक्रांत क्रिया, वर्ज्यक्रिया, महावर्ज्यक्रिया, सावद्यक्रिया, महासावद्यक्रिया, अल्पसावद्यक्रिया, परक्रिया, अन्योन्यक्रिया। अल्पसावद्यक्रिया को वाद देकर इन क्रियाओं से संयति के क्रिया-दोष लगता है। अल्पसावद्य क्रिया में टीकाकार ने अल्प शब्द का—अभाववाची अर्थ किया है और कहा है कि इससे साधु को क्रिया नहीं होती है। [देखें क्रमांक '६४'२]

अहिंसा महाव्रत की दूसरी और तीसरी भावना में भी श्रमण-निर्ग्रन्थ को कायिकी आदि क्रियाओं में मन से तथा वचन से प्रवृत्ति न करने का उपदेश दिया गया है। [देखें '६६'६]

जीव सदा एजन-कंपन समूह की क्रिया करता रहता है। यहाँ जीव से सयोगी जीव का ही ग्रहण करना चाहिए। एजन समूह की कुछ क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं ; एजना, व्येजना, चलना, स्पन्दना, घट्टना, छटपटाना, उदीरणा। टीकाकार अभयदेवसूरि ने कहा है कि इस प्रकार की अन्यान्य क्रियाओं का संग्रह कर लेना चाहिए। इन क्रियाओं को जीव सदा करता है—इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि इन क्रियाओं को जीव सदा एक साथ करता है वल्कि यह अर्थ लेना चाहिए कि इन क्रियाओं को क्रमवार करता है अर्थात् इन क्रियाओं में से किसी न किसी एक क्रिया को करता ही रहता है। इन क्रियाओं को करता हुआ जीव उन क्रियाओं के अनुरूप भावों में परिणमन करता रहता है। परिणमन का अर्थ टीकाकार ने यहाँ इस प्रकार किया है—जीव इन एजनादि क्रियाओं से उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण आदि परिणामों—पर्यायों को प्राप्त होता रहता है ; अर्थात् जीव के आत्मप्रदेश उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण आदि करता रहता है। अतः एजनादि क्रिया करता हुआ जीव सकलकर्मक्षयरूपा अन्तक्रिया नहीं कर सकता है ; क्योंकि एजनादि क्रिया करता हुआ जीव तथा तदनुरूप भाव में परिणमन करता हुआ जीव आरम्भ, संरम्भ, समारम्भ करता है। आरम्भ, संरम्भ, समारम्भ में वर्तन करता है तथा आरम्भ, संरम्भ, समारम्भ में वर्तन करता हुआ जीव वहु प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों को दुःख देता है, शोक उत्पन्न करता है, खेदित—पीड़ित करता है, त्रास उत्पन्न करता है, कष्ट देता है अतः एजनादि क्रिया करता हुआ जीव अंतक्रिया नहीं कर सकता है।

जो जीव सदा एजनादि क्रिया नहीं करता है तथा तदनुरूप भावों में परिणमन नहीं करता है वह जीव अंत समय में अंतक्रिया करता है।

सदनुष्ठान क्रियाओं के कई पर्यायवाची शब्द होते हैं, यथा—सदनुष्ठान, संयमानुष्ठान, सद्‌क्रिया, सम्यगनुष्ठान, धर्मानुष्ठान, चरण आदि। इन सब क्रियाओं से कर्मों का छेदन होता है, आस्रव रुकता है तथा पुण्यकर्म का वन्धन होता है।

सदनुष्ठान क्रियाओं में छः क्रियाएँ आवश्यक—अवश्य करणीय वतलायी गई हैं और इनका वर्णन आवश्यक सूत्र में किया गया है। सामायिक आवश्यक क्रिया—अर्थात् सर्वसावद्य योग निवृत्ति लक्षण होती है ; चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक क्रिया अर्थात् तीर्थङ्कर गुणानुकीर्तन रूप होती है ; वंदना आवश्यक क्रिया अर्थात् मन, वचन, काय की शुद्धि-पूर्वक क्षमाश्रमण देव-गुरु के वंदन रूप होती है ; प्रतिक्रमण आवश्यक क्रिया अर्थात् अतीत दोष निर्वर्तन रूप होती है ; कायोत्सर्ग क्रिया अर्थात् परिमित काल के लिए शरीर के महत्त्व की निवृत्ति रूप होती है तथा प्रत्याख्यान आवश्यक क्रिया में अनागत काल के दोषों का अपोहन अर्थात् परित्याग होता है।

अन्य सदनुष्ठान क्रियाओं का इस प्रकार वर्णन मिलता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियायें। इन क्रियाओं को भावरुचि से करने वाले जीव को क्रियारुचि सम्यक्त्वी कहा गया है। दर्शन क्रिया अर्थात् दर्शन की विशोधि की चेष्टा, ज्ञानक्रिया अर्थात् स्वाध्याय आदि से सम्यग् ज्ञान की वृद्धि की चेष्टा, चारित्र क्रिया अर्थात् सावद्य योगों से निवृत्त होने की चेष्टा, तपक्रिया अर्थात् निर्जरा के द्वारा बंधे हुए कर्मों को काटने की चेष्टा, विनयक्रिया अर्थात् गुरु आदि के विनय-वंदन आदि की चेष्टा, सत्यक्रिया अर्थात् मन, वचन, काय को सत्य में अभिनिविष्ट करने रूप चेष्टा, समितिक्रिया अर्थात् अवश्य करने वाली ईर्या आदि क्रियाओं को संयम से करने की चेष्टा तथा गुप्तिक्रिया अर्थात् मन, वचन, काय योगों का सम्यगदर्शन पूर्वक निग्रह करने की चेष्टा।

सदनुष्ठान क्रियाओं में अक्रिया उत्कृष्ट क्रिया है। शुक्लध्यान के चौथे पाद समुच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाति ध्यान ही चरम सदनुष्ठानक्रिया है। इसके बाद जीव कोई क्रिया नहीं करता है। इसी से अक्रिया होती है। तत्पश्चात् जीव सिद्धगति को गमन करता है। कहा जा सकता है कि योगनिरोध ही अक्रिया है क्योंकि समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति ध्यान से जीव काययोग तथा अन्यान्य सूक्ष्म क्रियाओं का निरोध करता है और योग का निरोध होने से शैलेशीकरण की अवस्था में ऐर्यापथिक तथा एजनादि क्रियाएँ बंद हो जाती हैं और इन क्रियाओं का अभाव अक्रिया है। अक्रिया का योगनिरोध रूप एक ही भेद है।

भगवती, स्थानांग तथा उत्तराध्ययन में थोड़ा भिन्न प्रकार से वर्णन है। वहाँ अक्रिया को व्यवदान (कर्मक्षय) का फल कहा गया है और क्रिया से जीव सिद्धगति रूप अंतिम फल को प्राप्त करता है। [देखें क्रमांक ·७२]

जीव की वह अंतिम क्रिया, जिससे भव का व्यवच्छेद हो, सकल कर्म का क्षय हो, कर्मों से सर्वथा मुक्ति हो, सिद्धगति की प्राप्ति हो—वह अंतक्रिया है। यह अंतिम पर्याय में योग निरोधित एजनादि रहित जीव के शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद से सकल कर्म के दाह रूप होती है [देखें क्रमाक ७३·१]।

जीव अंतक्रिया विविध प्रकार से विभिन्न अवस्थाओं में प्रारंभ करता है। कहा जा सकता है कि जब जीव संसार को परीत कर लेता है अर्थात् देशोन अर्द्धपुद्‌गलपरा-वर्तन रूप मोक्ष जाने की सीमा बाँध लेता है तो एक दृष्टि से, तब से ही उसकी अंतक्रिया प्रारंभ हो जाती है। दूसरी दृष्टि से, जब जीव कुछ एक भव में मोक्ष जाने की सीमा कर लेता है तब से अंतक्रिया करना प्रारंभ करता है। तीसरी दृष्टि से, जीव जिस भव में मोक्ष जाता है उस भव में जब वह मुंडित होकर अणगार बनता है तब से वह अन्त-क्रिया प्रारंभ करता है। जिस भव में जीव मोक्ष जाते हैं उसी भव में मुण्डित होकर जो

अंगुत्तरनिकाय में निग्गंठ नायपुत्त को क्रियावादी कहा है तथा अपने को क्रियावादी-अक्रियावादी दोनों कहा है। यह भी बौद्ध धर्म के मध्यम मार्ग का एक लक्षण है। सूत्रकृतांग में क्रियावादी की एक सुन्दर परिभाषा है।

जो जीव आत्मा को जानता है और लोक को जानता है; जो संसार परिभ्रमण रूप गति और स्थिरता—परिभ्रमण से मोक्ष रूप आगति को जानता है; जो शाश्वत तथा अशाश्वत भावों को जानता है; जो जन्म-मरण-उपपात को जानता है, जो अधोगति के दुःखों को जानकर जगत के सुख-दुःख को जानता है; जो कर्मों के आस्रव-आगमन क्रिया तथा कर्मों के संवर—आगमन के निरोध को जानता है; दुःखादि वेदना रूप कर्म के फलों को जानता है तथा कर्म काटने की क्रिया रूप निर्जरा को जानता है—वही क्रियावाद का सही कथन प्रतिपादन कर सकता है—वही क्रियावादी हो सकता है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि क्रियावादी होता है।

जो जीव किसी एक एकांत दृष्टि से क्रिया की आवश्यकता स्वीकार करते हैं, अथवा तत्त्व के किसी एक पक्ष को स्वीकार करके क्रिया को स्वीकार करते हैं वे मिथ्या-दृष्टि क्रियावादी हैं। जो जीव किसी भी कारण से कर्म काटने रूप क्रिया तथा पापकर्म के के बन्धन रूप अक्रिया को अस्वीकार करते हैं वे अक्रियावादी हैं। अक्रियावादी क्रिया-अक्रिया दोनों को अस्वीकार करते हैं।

जाटावास, जोधपुर
विजयादशमी, वि० सं० २०२६

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
'५१'२	मानप्रत्ययिकी क्रिया और जीवदण्डक	१०४
'५१'३	मानप्रत्ययिकी क्रिया और जीव	१०५
'५१'४	मानप्रत्ययिकी क्रिया और कर्मप्रकृति का वंध	१०६
'५२	मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रिया (स्थान)—परिभाषा/अर्थ	१०६
'५३	लोभप्रत्ययिक क्रिया (स्थान) ,,	१०७
'५३'२	लोभप्रत्ययिक क्रिया और जीवदण्डक	१०७
'५३'३	लोभप्रत्ययिक क्रिया का सदृष्टांत विवेचन	१०८
'५३'४	लोभप्रत्ययिक क्रिया और कर्मप्रकृति का वंध	१०९
'५४	मैथुन (अब्रह्मचर्य) पापस्थान क्रिया—परिभाषा/अर्थ तथा भेद	११०
'५४'३	मैथुन (अब्रह्मचर्य) क्रिया और जीवदण्डक	११०
'५४'४	मैथुन (अब्रह्मचर्य) क्रिया और कर्मप्रकृतिका वंध	१११
'५५	क्रोधप्रत्ययिक पापस्थान क्रिया—परिभाषा/अर्थ	१११
'५५'२	क्रोधप्रत्ययिक क्रिया और जीवदंडक	११२
'५५'३	क्रोधप्रत्ययिक क्रिया और कर्मप्रकृति का वंध	११३
'५६	कलह पापस्थान क्रिया—परिभाषा/अर्थ	११३
'५६'२	कलहक्रिया और जीवदंडक	११३
'५६'३	कलहक्रिया और कर्मप्रकृति का वंध	११४
'५७	अभ्याख्यान पापस्थान क्रिया—परिभाषा/अर्थ	११४
'५७'२	अभ्याख्यानक्रिया और जीवदंडक	११५
'५७'३	अभ्याख्यान क्रिया और कर्मप्रकृति का वंध	११५
'५८	पैशुन्य पापस्थान क्रिया—परिभाषा/अर्थ	११६
'५८'२	पैशुन्य क्रिया और जीवदंडक	११६
'५८'३	पैशुन्यक्रिया और कर्मप्रकृति का वंध	११७
'५९	परपरिवाद पापस्थान क्रिया—परिभाषा/अर्थ	११७
'५९'२	परपरिवाद क्रिया और जीवदंडक	११७
'५९'३	परपरिवाद क्रिया और कर्मप्रकृति का वंध	११८
'६०	रति-अरति पापस्थान क्रिया—परिभाषा/अर्थ	११८
'६०'२	रति-अरतिक्रिया और जीवदंडक	११९
'६०'३	रति-अरतिक्रिया और कर्मप्रकृति का वंध	१२०
'६१	मायामृषा पापस्थान क्रिया—परिभाषा/अर्थ	१२०

·० शब्द विवेचन

·०१ शब्द व्युत्पत्ति

·०१·१ प्राकृत में 'किरिया' शब्द की व्युत्पत्ति

रूप—किरिया, किरिआ, किया

पद—संज्ञा

लिंग—स्त्रीलिंग

धातु—√ कर (√ कृ)—करना, बनाना।

किरिया—'**र्हश्रीह्रीकृत्स्नक्रियादिष्ट्यास्वित्**' (हेम० ८।२।१०४)

'र्ह' अन्तवाले तथा श्री, ह्री, क्रिया, कृत्स्न, दिष्ट्या आदि संस्कृत शब्दों के प्राकृत रूप में संयुक्त व्यंजन के अन्त्य व्यंजन से पूर्व 'इ' का आगम होता है—'**एषु संयुक्तस्यान्त्य-व्यञ्जनात्पूर्व इकारः**' (स्वोपज्ञवृत्ति)। यथा—अर्ह > अरिहा ; श्री > सिरी ; ह्री > हिरी ; क्रिया > किरिया। अतः संस्कृत शब्द क्रिया का प्राकृत रूप किरिया बना—ऐसा समझना चाहिए।

किरिआ—प्राकृत में 'य' का 'अ' भी हो जाता है।

किया—आर्ष प्राकृत में क्रिया शब्द का 'किया' रूप भी मिलता है। '**आर्षेतु हयं नाणं किया-हीणं**' (स्वोपज्ञवृत्ति)

—हेम०

·०१·२ पाली में 'किरिया' शब्द की व्युत्पत्ति

रूप—किरिया, किरिय, क्रिया

पद—संज्ञा

लिंग—स्त्रीलिंग

धातु—√कर (√कृ)

प्राकृत 'किरिया' शब्द की व्युत्पत्ति की तरह इसकी भी व्युत्पत्ति समझनी चाहिए।

'०१'३ संस्कृत में 'क्रिया' शब्द की व्युत्पत्ति

रूप—क्रिया

पद—संज्ञा

लिंग—स्त्रीलिंग

धातु—√कृ > करोति—

कृ धातु में श+टाप् प्रत्ययों के योग से क्रिया शब्द बनता है।

—शब्द सागर।

भावे करणादौ वा यथायथं "कृञः श च"।

—वाच० ३।३।१००

'०२ क्रिया शब्द के पर्यायवाची शब्द

'०२'१ कर्मबन्धनिबन्धभूतार्थ क्रिया के पर्यायवाची शब्द :—

'०२'१'१ कम्मसमारम्भा

अकरिस्सं चऽहं, कारवेसुं चऽहं, करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि।
एयावंति सव्वावंति लोगंसि, कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति॥

—आय० श्रु १। अ १। उ १। सू ६,७। पृ० १

'०२'१'२ अकिरिया

अकिरिया तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—पओगकिरिया, समुदाणकिरिया, अण्णाणकिरिया।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। पृ० २१५

टीकाकार का नोट—'अकिरिय' त्ति नञिह दुःशब्दार्थो यथा अशीला दुःशीलेत्यर्थः' ततश्चाक्रिया—दुष्ट क्रिया।

'०२'१'३ दंडसमादाण

पढमे दंडसमादाणे अट्ठा-दंड-वत्तिए त्ति आहिज्जइ।

—सूय० श्रु २। अ २। सू २। पृ० १४५

टीका—तथाभूतं स्वपरोपघातरूपं दंडं त्रसस्थावरेषु (प्राणिषु) स्वयमेव निसृजति निक्षिपति दंडमिव दंडमुपरि पातयति प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करोतीत्यर्थः। तथा-

ऽन्येनापि कारयत्यपरं दंडं निसृजंतं समनुजानीते। एवं कृतकारितानुमतिभिरेव तस्याऽनात्मज्ञस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यक्रियोपात्तं कर्माधीयते संबध्यते इति। एतत्प्रथमं दंडसमादनमर्थदंडप्रत्ययिकमित्याख्यातमिति।

'०२'२ सदनुष्ठान क्रिया के पर्यायवाची शब्द :—

'१ चरण

'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं'।

—सूय० श्रु १। अ १२। गा ११। च ४। पृ० १२८

टीका—'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं' ति, न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिः, अन्धस्येव, नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्गोरिव, इत्येवमवगम्य 'आहु': उक्तवंतः, तीर्थंकरगणधरादयः, कमाहुः ? मोक्षं, कथं विद्या च-ज्ञानं, चरणंच – क्रिया, ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्यार्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्, असौ विद्याचरणो—मोक्षः—ज्ञानक्रियासाध्य इत्यर्थः, तमेवं साध्यं – मोक्षं प्रतिपादयन्ति।

'०२'३ परिस्पंदनार्थ क्रिया के पर्यायवाची शब्द :—

एयइ < एजति—संज्ञा एजना = कम्पन करना

वेयइ < व्येजते—संज्ञा वेजना = डोलना

चलइ < चलति—संज्ञा चलना = चलना

फंदइ < स्पन्दते – संज्ञा स्पन्दन = स्पन्दन करना

घट्टइ < घट्टयति—चतुर्दिक् गति, संघर्ष ; स्पर्श=चतुर्दिक् गति करना, संघर्ष करना, अपर पदार्थ को स्पर्श करना।

खुब्भइ < क्षुभ्यति – संज्ञा क्षोभ = क्षुब्ध होना।

उदीरइ < उदीरति—संज्ञा प्रेरण = प्रेरित करना।

जीवे णं भंते ! सया समियं एयइ, वेयइ, चलइ, फंदइ, घट्टइ, खुब्भइ, उदीरइ, तं तं भावं परिणमइ ? हंता, मंडियपुत्ता ! xxx।

—भग० श ३। उ ३। प्र १०। पृ० ४५६

·०३ विभिन्न भाषाओं में क्रिया शब्द के विभिन्न अर्थ

·०३·१ प्राकृत भाषा में 'किरिया' शब्द के अर्थ :—

(क) संज्ञा—सामान्यार्थ—क्रिया, कृति, व्यापार, प्रयत्न (पाइअ०)

करण, कर्म (अभिधा०)

(ख) संज्ञा—विशेषार्थ—शिक्षा (अभिधा०)

(ग) संज्ञा—पारिभाषिकार्थ—

धर्म—शास्त्रोक्त अनुष्ठान, धर्मानुष्ठान, (पाइअ०), पूजा (अभिधा०)

दर्शन—सावद्य व्यापार (पाइअ०), आरम्भ (अभिधा०) निष्कृति (अभिधा०)

विज्ञान—परिस्पन्दन, गति, (भग० श ३। उ३। प्र १०। पृ० ४५६)

·०३·२ पाली भाषा में 'किरिया' शब्द के अर्थ :—

(क) संज्ञा—सामान्यार्थ—कार्य, करना, कृत कार्य, करण।

(ख) संज्ञा—विशेषार्थ—प्रतिज्ञा, वचनवद्धता, उद्देश्य। न्याय (Justice)। (धर्म) व्रत, समर्पण।

(ग) संज्ञा—पारिभाषिकार्थ।

दर्शन—कार्य जो निष्फल हो, अकारण, स्वान्त कार्य, पश्चात्फल (नत्थिकिरियं= नास्ति पश्चात्फलं)।

(घ) विशेषण—अर्थ—भेद रहित करना, असीमित, व्यर्थ।

—पाली आंग्ल कोश—रीस डेविड्स

·०३·३ संस्कृत भाषा में क्रिया शब्द के अर्थ :—

(क) संज्ञा—सामान्यार्थ—कार्य करना, कर्म, चेष्टा, श्रम।

(ख) संज्ञा—विशेषार्थ—उपाय, शिक्षा, कला, ज्ञान, अभ्यास, कृति।

(ग) संज्ञा—पारिभाषिकार्थ—(आयुर्वेद) चिकित्सा, उपचार।

(धर्म) प्रायश्चित, श्राद्ध, पूजन, अनुष्ठान, नित्य नैमित्तिककर्म, मृतक-आत्येष्टिक कर्म।

(विज्ञान)—गति।

(दर्शन)—वैशेषिक सप्तगतियाँ।

(न्यायालय)—विचार।

(न्यायशास्त्र)—सिद्ध करना।

—आप्ते०

·४ सविशेषण—ससमास—सप्रत्यय 'किरिया' शब्दों की सूची

१ अक्रिरिए
२ अकिरिया
·३ अकिरियआया
·४ अकिरिया
·५ अकिरिया
·६ अकिरिया
·७ अकिरियाकुसल
·८ अकिरियावाई
·९ अकिरियावाय
·१० अण्णमण्णकिरिया
·११ अणभिक्कंतकिरिया
·१२ अंतकिरिया
·१३ अहिगरणकिरियापवत्तगा
·१४ अप्पकिरिया
·१५ अप्पसावज्जकिरिया
·१६ अभिक्कंतकिरिया
·१७ आणपाणवणकिरिया
·१८ उत्तरकिरियं

टीका - सावद्यक्रियायाअभावादक्रियोऽक्रियत्वाच्च प्राणिनामल्पकोऽव्यापादको- यावदेकांतेनैवासौ पंडितो भवति।

सावद्य क्रिया का अभाव होने से भिक्षु को अक्रिय कहा गया है।

'०४'२ अकिरिय · अक्रिय —पण्ण० प २२। सू १५७३। पृ० ४७६

टीका—तत्र ये असंसारसमापन्नकास्तेसिद्धाः, सिद्धाश्च देहमनोवृत्त्यभावतोऽक्रियाः। xxx।

तत्र ये शैलेशीप्रतिपन्नकास्ते सूक्ष्मबादरकायवाङ्मनोयोगनिरोधादक्रियाः।

जो जीव क्रिया रहित होते हैं; क्रिया नहीं करते हैं वे अक्रिय हैं। असंसारसमापन्नक सिद्ध जीव देह, मन आदि की वृत्ति के अभाव में अक्रिय होते हैं। शैलेशत्व को प्राप्त संसार समापन्नकजीव सूक्ष्म बादर काय-वचन-मन योग का निरोध होने से अक्रिय होते हैं।

'०४'३ अकिरियआया - अक्रिय आत्मा

—सूय० श्रु १। अ १०। गा १६। पृ० १२५

मूल—जे केई लोगंमि उ अकिरियआया।

टीका—ये केचन अस्मिन् लोके अक्रियआत्मायेषामभ्युपगमे तेऽक्रियात्मनः सांख्यास्तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा निष्क्रयः पठ्यते।

लोक में कई ऐसे पुरुष हैं जो आत्मा को अक्रिय मानते हैं। यथा— सांख्यमत-वादी।

'०४'४ अकिरिया—अक्रिया —ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। पृ० २१५

मूल—तिविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तंजहा—अकिरिया अविणए अण्णाणे। अकि-रिया तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—पओगकिरिया, समुदाणकिरिया, अन्नाणकिरिया।

जो क्रिया दुष्ट उद्देश्य में प्रयुक्त हो वह अक्रिया। जो क्रिया भली नहीं है वह अक्रिया। मिथ्यात्व के तीन भेदों में अक्रिया एक भेद है।

'०४'५ अकिरिया—अक्रिया —पण्ण० प २२। सू १५७३। पृ० ४७६।

मूल—जीवाणं भंते! किं सकिरिया अकिरिया?

टीका—सिद्धाश्च देहमनोवृत्त्यभावतोऽक्रियाः।

शैलेशी प्रतिपन्नकास्ते सूक्ष्मबादरकायवाङ्मनोयोगनिरोधादक्रियाः।

क्रिया का अभाव—अक्रिया। मन-वचन-काय योगों के निरोध से होने वाला क्रिया का अभाव— अक्रिया। अशरीरी सिद्धों के शारीरिक क्रिया नहीं होने से क्रिया का अभाव—अक्रिया।

·०४·६ **अकिरिया—अक्रिया** —ठाण० स्था ८। उ३। सू ६०७। पृ० २८८।

मोक्ष आदि की प्राप्ति के हेतु धर्मानुष्ठानिक क्रिया की अनावश्यकता—एक प्रकार की नास्तिकता।

·०४·७ **अकिरियाकुसल - अक्रियाकुशल** —सूय० श्रु २। अ ४। सू १। पृ० १६६।

मूल—आया अकिरियाकुसले यावि भवइ।

टीका—**सदनुष्ठानं क्रिया तस्यां कुशलः क्रियाकुशलस्तत्प्रतिषेधादक्रियाकुशलोप्यात्मा भवति।**

असदनुष्ठान क्रियाओं में कुशल—प्रवीण—अक्रियाकुशल।

·०४ ८ **अकिरियावाई—अक्रियावादी**— सूय० श्रु १। अ १२। गा ४। पृ० १२८।

मूल—णो किरियमाहंसु अकिरियवाई।

अक्रियावादी कहते है कि क्रिया नहीं है अतः तज्जनित कर्मवंधन नहीं है।

क्रियां जीवादिपदार्थोस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः। एतद्विपर्यस्ता अक्रियावादिनः।

—सूय० श्रु १। अ १२। गा १। टीका

जो जीवादि पदार्थों के अस्तित्व को नहीं मानते हैं वे अक्रियावादी।

अक्रियावादी अनेक तरह के होते हैं और वे नाना प्रकार के दृष्टिकोण से उक्त मत की प्ररूपणा करते हैं।। 'ठाणांग' में अक्रियावादियों के मुख्यतया आठ भेद वताये गये हैं, यथा—

मूल अट्ठ अकिरियावाई पन्नत्ता, तंजहा—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, निम्मितवाई, सायवाई, समुच्छेदवाई, णियावाई, न सन्ति परलोगवाई।

—ठाण० स्था ८। उ ३। सू ६०७। पृ० २८८

(१) एकवादी, (२) अनेकवादी, (३) मितवादी, (४) निर्मितवादी, (५) सातवादी, (६) समुच्छेदवादी (क्षणिकवादी), (७) नित्यवादी और (८) नास्ति मोक्ष-परलोकवादी।

·०४·६ **अकिरिया (वाय)—अक्रियावाद**

—सूय० श्रु १। अ १२। सू १। पृ० १२७

मूल—चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव॥

क्रिया के अस्तित्व तथा / अथवा आवश्यकता को नहीं मानने वाला मत—अक्रियावाद। विभिन्न दृष्टिकोण से क्रिया के अस्तित्व को नहीं मानने के कारण अक्रियावाद के अनेक रूप होते हैं।

जीव-अजीवादि पदार्थों के अस्तित्व को नहीं मानने वाला मत अक्रियावाद।

'०४'१० अंणमण्णकिरिया—अन्योन्यक्रिया

—आया० श्रु २ । अ १३-१४। सू ७७। पृ० ८७,८८

पारस्परिक अर्थात् एक दूसरे के प्रति शरीर—अंगोपांगादि सम्बन्धी क्रिया-चेष्टा-काय-व्यापार अन्योन्यक्रिया। (**अन्योन्यं परस्परतः साधुना कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्योन्योन्यक्रिया**। —शीलांगाचार्य टीका)।

आयारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के षष्ठसप्तैकक अर्थात् तेरहवें अध्ययन के प्रारम्भ में परक्रियाओं का एक वर्णन है। अन्त में "**एवं णेयव्वा अण्णमण्णकिरिया वि**" ऐसा पाठ दिया है, अतः जिस प्रकार परक्रियाओं का वर्णन किया गया है उसी प्रकार अन्योन्य क्रियाओं का भी वर्णन जानना चाहिए। साधु को जिस प्रकार परक्रियाओं की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए तथा दूसरों से नहीं करवानी चाहिए उसी प्रकार उन क्रियाओं की परस्पर में प्रतिदान की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए और न प्रतिदान रूप में करवानी चाहिए।

तथा चौदहवें अध्ययन में भी '**अण्णमण्णकिरिया**' (अन्योन्यक्रिया) का संक्षेप में वर्णन करके "सेसं तं चेव" (शेष उसी प्रकार) पाठ दिया है।

—देखो भिक्षु और क्रिया

'०४'११ अणभिक्कंतकिरिया—अनभिक्रांतक्रिया

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ३७। पृ० ५४

यदि कोई भवन या वासस्थान—वसति ब्राह्मण-श्रमण-भिक्षु-भिखारी आदि के रहने के उद्देश्य से बनाया गया हो और वह भवन या वासस्थान ब्राह्मण-भिखारी आदि के द्वारा भोगा हुआ नहीं हो—ऐसे स्थान में यदि साधु आकर रहे तो उसे अनभिक्रांत क्रिया होती है।

—देखो भिक्षु और क्रिया

'०४'१२ अंतकिरिया—अन्तक्रिया —ठाण० स्था ४। उ १। सू २३५। पृ० २२२

जीव की वह शेष क्रिया—प्रचेष्टा अर्थात् वह सदानुष्ठानात्मिक—चारित्रात्मिक क्रिया जिसके द्वारा जीव कर्मों का संपूर्ण अन्त—अवसान करके उसी भव में सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

यह अन्तक्रिया चार प्रकार से होती है, यथा—(१) दीर्घकालीन लेकिन अल्पवेदना वाली, (२) अल्पकालीन लेकिन महावेदना वाली, (३) दीर्घकालीन लेकिन घोर तप तथा महावेदना वाली और (४) अल्पकालीन तथा अल्पवेदना वाली।

एक अपेक्षा से चतुर्दश गुणस्थानवर्ती जीव की सूक्ष्म-बादर मन-वचन-काय योग के निरोध की क्रिया को अंतक्रिया कहा जा सकता है क्योंकि उक्त योगनिरोध से जीव अक्रिय

होकर उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो निर्वाण को प्राप्त होता है तथा सर्व दुःखों का अन्त करता है।

अभयदेवसूरि ने अंतक्रिया को योगनिरोधाभिधानशुक्लध्यानेन 'सकलकर्मध्वंसरूपा' कहा है। (भग० श ३। उ ३। प्र ११। टीका)

मूल—जइ अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति—जाव (बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वंति, सव्वदुक्खाणं) अंतं करेंति ? हंता! (गोयमा!) सिज्झंति जाव अंतं करेंति। —भग० श ४१। उ १। प्र १८। पृ० ६३५

जो जीव अक्रिय हो जाता है वह उसी भव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त करता है और सर्वदुःखों का अंत करता है।

मलयगिरि टीका—'अन्तक्रिया'मिति अन्तः—अवसानं, तच्च प्रस्तावादिह कर्मणा-मवसातव्यं, अन्यत्रागमेऽन्तक्रियाशब्दस्य रूढत्वात्, तस्य क्रिया—करणमन्तक्रिया—कर्मान्तकरणं मोक्ष इति भावार्थः, "कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः" इति वचनात्।

अंत अर्थात् अवसान, किसका अवसान ? कर्मों का। कर्मों के अवसान से मोक्ष होता है अतः कर्मों का क्षयान्त—अवसान अंतक्रिया है।

·०४·१३ अहिगरणकिरियापवत्तगा —पण्हा अ २। पृ० १२०७

मूल—पुणो वि अहिगरणकिरियापवत्तगा बहुविहं अणत्थं अवमद्दं परस्स य करेंति।

अधिकरण क्रिया का प्रवर्त्तक अर्थात् मिथ्याभाषण रूप अधिकरणों या शस्त्रों से क्रिया में प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति अपना और दूसरों का विनाश करता है।

हिंसा के अधिकरणों में मिथ्याभाषण भी एक अधिकरण है। यहाँ असत्य का विवेचन होने से अधिकरण में मिथ्याभाषण को ग्रहण किया गया है।

·०४·१४ अप्पकिरिया—अल्पक्रिया —भग० श० ५। उ ६। प्र ६। पृ० ४८१

थोड़ी—प्रतनु—स्तोक—अल्पक्रिया। अभयदेवसूरि टीका—अल्पशब्दः स्तोकार्थः।

·०४·१५ अप्पसावज्जकिरिया—अल्पसावद्यक्रिया

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ४२। पृ०५५

सावद्य क्रिया का अभाव।

साध्वाचार के वसति-विधान के अनुसार भवन-गृह-आवास-उपाश्रय आदि भोगने से अल्प सावद्यक्रिया होती है अर्थात् उसमें सावद्यक्रिया का अभाव होता है, (नवरं अल्प-शब्दः अभाववाचीति—टीका)।

किसी गृहस्थ ने अपने स्वार्थ से—अपने रहने के लिए किसी भवन-गृह-धर्मशाला-उपाश्रय आदि का निर्माण किया हो उसमें रहने से, उसको भोगने से साधु को अल्प सावद्य-क्रिया अर्थात् सावद्यक्रिया नहीं होती है।

इस तरह के वासस्थान के भोगने वाले साधु को केवल एक पक्ष—शुद्ध साधु-मार्ग का सेवन करने वाला कहा गया है। टीकाकार के अनुसार ऐसे साधु में सम्पूर्ण भिक्षुभाव होता है। —देखो भिक्षु और क्रिया

'०४'१६ अभिक्कंतकिरिया—अभिक्रांतक्रिया

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ३६।पृ० ५४

यदि कोई भवन या वासस्थान ब्राह्मण-श्रमण-भिक्षु-भिखारी आदि के रहने के उद्देश्य से बनाया गया हो और वहाँ ब्राह्मण भिखारी आदि रहते हों, उस स्थान को यदि साधु भोगे तो साधु को अभिक्रान्त क्रिया होती है।

टीकाकार के अनुसार (वसतिर्भवत्यल्पदोषाचेवां) अभिक्रान्त क्रिया में अल्प दोष होता है। —देखो भिक्षु और क्रिया

'०४'१७ उच्चारपासवणकिरिया—उच्चारप्रस्रवणक्रिया

—आया० श्रु २। अ १०। सू १। पृ० ८१

मल-मूत्रादि की प्रक्रिया अर्थात् मलमूत्रादि का वेग उठना।

'आयारांग' के द्वितीय श्रुतस्कंध, दशवें अध्ययन में साध्वाचार की उच्चारप्रस्रवण क्रिया का विवेचन है। उच्चारप्रस्रवण अर्थात् मल-मूत्रादि की क्रिया भिक्षु—साधु को कैसे, किस प्रकार करनी चाहिए—इस संबंधी विवेचन किया गया है। जब साधु को उच्चारप्रस्रवण अर्थात् मल-मूत्रादि की आबाधा उत्पन्न होती है तो—अपना पात्र न हो तो अन्य साधार्मिक साधु का पात्र लेकर आबाधा को एकान्त में—निर्जीव स्थान में परठना या मलमूत्रादि करना चाहिए।

'०४'१८ उत्तरकिरियं—उत्तरक्रिया —भग० श ५। उ २। प्र ११। पृ० ४७२

मूल—कयाणं भंते ! ईसिंपुरेवाया ?

गोयमा ! जया णं वाउयाए उत्तरकिरियं रियइ, तया णं ईसिंपुरेवाया जाव—वायंति।

टीका—"उत्तरकिरियं" ति वायुकायस्य हि मूलशरीरमौदारिकम्, उत्तरं तु वैक्रियम्, अतः उत्तरा उत्तरशरीराश्रया क्रिया गतिलक्षणा यत्र गमने तदुत्तरक्रियम् तद्यथा भवतीत्येवं रीयते गच्छति।

उत्तर शरीर से होने वाली गमनादि क्रिया—उत्तरक्रिया। यथा—वायुकाय का मूल शरीर औदारिक है और उत्तर शरीर वैक्रिय है। वायुकाय का उत्तर शरीर—वैक्रिय शरीर द्वारा की गई गमनादि क्रिया को उत्तरक्रिया कहते हैं।

·०४·१९ उपायकिरिया—उपायक्रिया —सूय० श्रु २। अ २। सू १। नि। गा

टीका—उपायक्रिया तु घटादिकं द्रव्यं येनोपायेन क्रियते। तद्यथा मृत्खननमर्दनचक्रारोपणदंडचक्रसलिलकुंभकारव्यापारैर्याविद्भिरुपायैः क्रियते सा सर्वोपायक्रिया।

घटादिक द्रव्यों को किसी उपाय से बनाना—उपायक्रिया। यथा—मिट्टी को खोदना, मर्दन करना, चक्र में आरोपण करना, दण्ड-चक्रसे स्वरूप बनाना, जल का उपयोग करना—ये सब कुंभकार के व्यापार (नियति से नहीं) उपाय से होते हैं अतः वे सब उपायक्रिया हैं।

·०४·२० उवट्ठाणकिरिया – उपस्थानक्रिया

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ३५। पृ० ५४

किसी एक स्थान में कल्पकाल व्यतीत करने के बाद उसी स्थान में दो मास या दो चातुर्मास का व्यवधान किये बिना वापस आकर रहने से साधु को उपस्थानक्रिया होती है।

—देखो भिक्षु और क्रिया

·०४·२१ कयकिरिए—कृतक्रिया —आया० श्रु १। अ ५। उ ४। सू ८७। पृ० १८

मूल – से णो काहिए, णो पासणिए, णो संपसारए, णो ममाए, णो कयकिरिए ×××।

टीका— णो कयकिरिए—कृतातुष्टितातदुपकारिणी मंडनादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवंभूतो न भूयान्न स्त्रीणां वैयावृत्त्यं कुर्यात्काययोगनिरोध इति भावः।

किसी को सेवा—वैयावृत्त्य आदि के द्वारा तुष्ट करना—विशेष करके काययोग से।

'आयारांग' में नारी सम्बन्धी प्रसंग रहने से वैयावृत्त्य आदि से उनको संतुष्ट करना ऐसा अर्थ किया गया है। शीलांगाचार्य ने "णो कयकिरिए" का भाव "काययोगनिरोध" कहा है।

·०४·२२ कयकिरिए—कृतक्रिया —सूय० श्रु १। अ २। उ २। गा २८। पृ० १०७

मूल—णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए ण यावि मामए।

अपनी सद्‌क्रिया में दत्तचित्त होना—कृतक्रिया। 'सूयगडांग' में "कयकिरिए" की शीलांगाचार्य ने निम्न प्रकार से टीका की है।

"कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः।"

जो संयमानुष्ठानरूप क्रिया में प्रवृत्त हो वह कृतक्रिय।

'०४'२३ कयपडिकिरिया— कृतप्रतिक्रिया—ओव० सू २० । लोयोवयारविणये। पृ० ११

मूल - लोगोवयारविणए सत्तविहे पन्नते तंजहा—अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं, कयपडिकिरिया, अत्तगवेसणया, देसकालण्णुया सव्वट्ठेसु अपडिलोमया।

कृतप्रतिक्रिया लोकोपचार विनय का एक भेद है। उपकारी के प्रति कृतज्ञता से उसकी सेवा-वैयावृत्त्य करना कृतप्रतिक्रिया है।

'०४'२४ कालइक्कंतकिरिया - कालातिक्रांतक्रिया

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ३४। पृ० ५४

किसी एक स्थान में कल्पकाल (एक स्थान में ऋतु अनुसार उत्कृष्ट जितने समय रहने का विधान है—वह कल्पकाल) के उपरान्त विना कारण रहने से साधु को कालातिक्रान्तक्रिया होती है। —देखो भिक्षु और क्रिया

नोंध—'आयारांग' के द्वितीय श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, द्वितीय उद्देशक में साध्वाचार के शय्या-वसति-वासस्थान का विवेचन है तथा वसति-विधान के अतिक्रमण आदि से होने वाली नव क्रियाओं का वर्णन है। यथा—कालइक्कंतकिरिया, उवट्ठाणकिरिया, अभिक्कंतकिरिया, अणभिक्कंतकिरिया, वज्जकिरिया, महावज्जकिरिया, सावज्जकिरिया, महासावज्जकिरिया तथा अप्पसावज्जकिरिया।

यहाँ पर शीलांगाचार्य ने क्रिया शब्द का भाव "दोप" शब्द से व्यक्त किया है यथा "कालातिक्कंतकिरिया वि भवइ" का अर्थ 'कालातिक्रमदोषः संभवति' किया है।

'०४'२५ करणिज्जकिरिया— करणीयक्रिया —सूय० श्रु २। अ २। सू १। नि×गा

टीका—करणीयक्रिया तु यद्येन प्रकारेण करणीयं तत्तेनैव क्रियते नान्यथा। तथाहि। घटोमृत्पिंडादिकयैव क्रियते न पाषाणसिकतादिकयेति।

जितने प्रकार से वस्तु करणीय है अर्थात् की जा सकती है उतनी ही प्रकार की करणीय क्रिया है, अन्यथा नहीं है। यथा घट मिट्टी के पिंड से किया या बनाया जा सकता है, पत्थर आदि से नहीं।

'०४'२६ किरियाकुसल— क्रियाकुशल —भग० श २। उ ५। प्र ३४। पृ० ४२८

मूल—××× तत्थ णं तुंगियाए नयरीए वहवे समणोवासया परिवसंति, ××× अभिगयजीवा-ऽजीवा, उवलद्धपुण्णपावा, आसव-संवर-निज्जर-किरियाऽहिकरण-वंध-मोक्खकुसला। ×××।

क्रियाकुशल—तुंगिका नगरी के श्रावकों के कई एक विशेषणों में से यह एक विशे-

पण है अर्थात् क्रिया क्या है, कौन हेय है, कौन उपादेय है, कौन करणीय है, कौन अकरणीय है इत्यादि विषयों के वे निपुण जानकार थे। अतः उनको क्रियाकुशल कहा गया है।

क्रियाकुशल उस व्यक्ति को कहते हैं जो क्रिया के सम्बन्ध में प्रवीण ज्ञाता हो।

(देखो राय०। सू १५१। पृ० ७६)

·०४·२७ किरियाठाण—क्रियास्थान —सूय० श्रु २। अ २। सू १। पृ० १४५

जिन स्थानों में जीव के क्रिया होती है अर्थात् कर्मबंध होता है वे क्रियास्थान हैं। क्रियास्थान १३ हैं। सामान्यतः इनके दो विभाग हैं—उपशान्त-धर्म और अनुपाशान्त-अधर्म।

अधर्म—अनुपशान्त विभाग में अर्थदंडादि १२ क्रियास्थान आते हैं। धर्म-उपशांत विभाग में केवल एक ऐर्यापथिक क्रियास्थान आता है।

बारह क्रियास्थान में गमन करता हुआ जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है तथा ऐर्यापथिक क्रियास्थान में गमन करता हुआ जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।

—देखो क्रियास्थान

·०४·२८ किरियाणं (अणच्चासायणाविणए) —उव० सू २०। पृ० ११

'क्रियावान्'—क्रिया-तपस्या-विशिष्ट तपस्या करने वाले संयमी की अशातना नहीं करना—अनत्याशातनाविनय के पैंतालीस भेदों में से एक भेद है।

·०४·२९ किरियानय—क्रियानय —अभिधा० भाग ३। पृ० ५५४

क्रियानय कहता है कि मोक्ष की साधना में क्रिया ही प्रधान है। क्रियानय दर्शन में क्रिया को प्रधान माना जाता है तथा ज्ञान को गौण माना जाता है।

·०४·३० किरियाभावरुई—क्रियाभावरुचि —उत्त० अ २८। गा २५। पृ० १०२६

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-विनय-सत्य-समिति और गुप्ति आदि सदनुष्ठानिक क्रियाओं में द्रव्यरुचि के विपरीत भावरुचि होती है वह क्रियाभावरुचि है।

द्रव्यरुचि में केवल द्रव्यरूप अर्थात् बाह्य रूप से इन क्रियाओं का अनुष्ठान होता है। भावरुचि में मन-वचन-काया—तीनों से इन क्रियाओं का अनुष्ठान होता है तथा इन क्रियाओं में श्रद्धा भी होती है।

·०४·३१ किरियारुई—क्रियारुचि

मूल—दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम॥

—उत्त० अ २८। गा २५। पृ० १०२६

क्रियारुचि सम्यक्त्व के दश भेदों में से एक भेद है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति तथा गुप्ति आदि सदनुष्ठानिक क्रियाओं में भावरुचि अर्थात् वास्तविक रुचि क्रियारुचि सम्यक्त्व है।

मूल—दसविहे सरागसम्मदंसणे पन्नत्ते, तंजहा—
निसग्गुवएसरुई आणारुई, सुत्तबीयरुईमेव।
अभिगमवित्थाररुई किरियासंखेवधम्मरुई॥
—ठाण० स्था १०। सू ७५१। पृ० ३१०

मूल—सरागदंसणारिया दसविहा पन्नत्ता, तंजहा—
निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्तबीयरुईमेव।
अभिगमवित्थाररुई किरियासंखेवधम्मरुई॥
—पण्ण० प १। सू ११०। पृ० २८६

टीका—क्रिया सम्यकसंयमानुष्ठानम्, तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः दर्शनार्थभेदे।

क्रियारुचि सरागदर्शनार्य के दश भेदों में से एक भेद है। सम्यग् संयमानुष्ठान में जिसकी रुचि हो वह क्रियारुचि। जिस सरागदर्शनार्य की क्रिया--सम्यग्संयमानुष्ठानों में रुचि हो वह क्रियारुचि सरागदर्शनार्य है।

'०४'३२ किरियावरणेजीवे—क्रियावरणजीव —ठाण० स्था ७। सू ५४२। पृ० २७६

मूल—सत्तविहे विभंगणाणे पन्नत्ते, तंजहा—एगदिसिलोगाभिगमे, पंचदिसिलोगाभिगमे, किरियावरणे जीवे, मुदग्गे जीवे, अमुदग्गे जीवे, रूवी जीवे, सव्वमिणं जीवा।

यह विभंगज्ञान का एक भेद है। किसी तथारूप श्रमण अथवा माहण के विभंग-ज्ञान उत्पन्न होता है तथा उस विभंगज्ञान से वह श्रमण-माहण प्राणातिपातादि क्रियाओं को करते हुए जीवों को देखता है लेकिन तज्जन्य कर्मावरण को नहीं देखता है और अपने को अतिशय ज्ञान-दर्शन वाला समझता हुआ कहता है कि जीव क्रियावरण होते हैं, कर्मावरण नहीं।

तथा कई विभंगज्ञानी श्रमण-माहण ऐसा कहते हैं कि जीव क्रियावरण नहीं होते हैं, कर्मावरण होते हैं।

इस तरह का विभंगज्ञान 'क्रियावरणजीव' विभंगज्ञान है।

'०४'३३ किरियावाई—क्रियावादी —ठाण० स्था ४। उ ४। सू ३४५। पृ० २४८

जीव-अजीव आदि नव पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास रखने वाला—क्रियावादी। यह क्रियावादी ही वास्तविक क्रियावादी है।

अन्य अपेक्षाओं से क्रियावादियों की १८० व्याख्याएँ की गई हैं। क्रिया शब्द से सम्बन्धित कुछ प्रमुख व्याख्याएँ यहाँ दी जाती हैं—

१—क्रियाओं से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है उसमें ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है—ऐसे क्रियाप्रधान मत को मानने वाले क्रियावादी।

२—कोई भी क्रिया कर्त्ता के विना संभव नहीं है अतः क्रिया के कर्त्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को माननेवाला क्रियावादी।

'०४'३४ किरियावाय—क्रियावाद —सूय० श्रु १। अ १२। गा २०,२१। पृ० १२८

मूल—अत्ताण जो जाणइ जो य लोगं।
गइं च जो जाणइ णागइं च॥
जो सासयं जाण असासयं च।
जाइं च मरणं च जणोववायं॥
अहो विसत्ताण विउट्टणं च।
जो आसवं जाणइ संवरं च॥
दुक्खं च जो जाणइ निज्जरं च।
सो भासिउ-मरिहइ किरियवायं॥

जो आत्मा को जानता है, लोक-अलोक को जानता है, गति, आगति तथा अनागति को जानता है, शाश्वत-अशाश्वत भाव को जानता है, जन्म-मरण और उपपात को जानता है, आश्रव-संवर को जानता है तथा निर्जरा-वन्ध को जानता है वह क्रियावाद को जानता है।

जीव-अजीवादि नव पदार्थों के अस्तित्व को माननेवाला मत या दर्शन क्रियावाद।

'०४'३५ किरियावाई दरिसणं—क्रियावादी दर्शन

—सूय० श्रु १। अ १। उ २। गा २४। पृ० १०३

मूल—अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं।
कम्मचिन्तापणट्ठाणं संसारस्स पवड्ढणं॥

टीका—क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तेषां दर्शनमागमः क्रियावादिदर्शनम्।

यहाँ क्रियावादी मिथ्या मतों का विवेचन किया गया है। मोक्ष की प्राप्ति में क्रिया ही प्रधान है—ऐसा मत मानने वाले क्रियावादी तथा उनका दर्शन क्रियावादी दर्शन है।

उपर्युक्त गाथा के पश्चात की गाथाओं में इन क्रियावादियों की कुछ विचारधाराओं का वर्णन मिलता है।

'०४'३६ किरियाविसाल—क्रियाविशाल —सम० सम १४ । सू १४ । पृ० ३२७

क्रियाविशाल—चतुर्दश पूर्वों में से एक पूर्व है जिसमें क्रिया के विषय में विशाल अर्थात् विस्तृत वर्णन है। क्रियाविशाल पूर्व में तीस अध्याय हैं तथा पद का परिमाण नव क्रोड़ पदों का है।

'०४'३७ दव्वकिरिया – द्रव्यक्रिया —सूय० श्रु २ । अ २ । सू १। नि । गा १५६

दव्वे किरिए अएयण, पओगुवायकरणिज्जसमुदाणे।
इरियावहसंमत्ते, सम्मत्ते चेव मिच्छत्ते ॥

—अविधा भाग ३ पृ० ५३२

टीका—तत्र द्रव्यविषये या क्रिया एजनता। एजृ कंपने। जीवस्याजीवस्य वा कंपनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्यक्रिया। सापि प्रयोगाद्विस्रसया वा भवेत्। तत्राप्युपयोगपूर्विका वाऽनुपयोगपूर्विका वाऽक्षिनिमेषमात्रादिका वा सा सर्वा द्रव्यक्रियेति।

जीव तथा अजीव की स्पंदन रूप—गति रूप क्रिया द्रव्यक्रिया है।

'०४'३८ पच्चक्खाणकिरिया—प्रत्याख्यानक्रिया

—सूय० श्रु २ । अ ४ । सू १ । पृ० १६६

टीका—प्रत्याख्यानाभावेऽनियतत्वाद्यत्किंचनकारितया तत्प्रत्ययिका तन्निमित्ताभावादुत्पद्यते प्रत्याख्यानक्रिया। सावद्यानुष्ठानक्रिया तत्प्रत्ययिकश्च कर्मबंधस्तन्निमित्तश्च संसार इत्यतः प्रत्याख्यानक्रिया मुमुक्षुणा विधेयेति।

प्रत्याख्यान के अभाव में अनिश्चितता से जो कुछ किया जाता है उस निमित्त से होनेवाले भावों से प्रत्याख्यान क्रिया उत्पन्न होती है। सावद्यानुष्ठान के निमित्त से जो कर्मों का बंध होता है उससे संसार की वृद्धि होती है अतः मुमुक्षुओं ने प्रत्याख्यान क्रिया का वर्णन किया है।

हमारी समझ में, सावद्यानुष्ठानिक क्रियाओं का जो प्रत्याख्यान किया जाय उससे होनेवाली क्रिया का निरोध अर्थात् कर्मों का संवरण—प्रत्याख्यान क्रिया है।

'०४'३९ परकिरियं—परक्रिया —आया० श्रु २ । अ १३ । सू १। पृ० ८५

स्वकीय शरीरादि सम्बन्धी अपने से भिन्न अन्य व्यक्ति द्वारा की गई क्रिया-चेष्टा-काय-व्यापार परक्रिया (पर—आत्मनो व्यतिरिक्तान्यस्तस्य क्रिया चेष्टा कायव्यापाररूपांतां (क्रियां)—परक्रियां—शीलांगाचार्य टीका।)

साध्वाचार में परक्रियाओं का निषेध है। परक्रिया अर्थात् साधु व्यतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति स्वमन से साधु के शरीरादि संबन्धी कोई क्रिया करे, यथा—व्रण, गूमड़े, फोड़े

आदि का शस्त्र से छेदन भेदन करे तो उन संश्लेपिका—कर्मबन्धन उत्पन्न करने वाली भिन्न-भिन्न परक्रियाओं की साधु मन से अभिलाषा न करे तथा वचन-काया से न करावे।

·०४·४० भावकिरिया—भावक्रिया —सूय० श्रु २ । अ २ । सू १ । टीका

भावक्रिया त्विय तद्यथा प्रयोगक्रिया उपायक्रिया करणीयक्रिया समुदानक्रिया ईर्यापथक्रिया सम्यक्त्वक्रिया मिथ्यात्वक्रिया चेति।

भावक्रिया के अनेक भेद हैं, यथा—प्रयोगक्रिया, उपायक्रिया, करणीयक्रिया, समुदानक्रिया, ऐर्यापथिकक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया इत्यादि।

जिस क्रिया से कर्मबंध होता हो वह भावक्रिया है।

·०४·४१ महाकिरिया—महाक्रिया —भग० श ५ । उ ६ । प्र ६ । पृ० ४८१

जिस क्रिया से जीव के महाकर्म का बंधन होता है वह महाक्रिया है।

'भगवई' में उपर्युक्त स्थल में अग्निकाय के सम्बन्ध में महाक्रिया तथा अल्पक्रिया—दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। सद्य-प्रज्वलित अग्नि को महाक्रिया वाला कहा गया है क्योंकि वह अनेक जीवों का दाह करती है। क्रमशः बुझती हुई, भस्मरूप होती हुई अग्नि को अल्प क्रियावाला—स्तोक क्रियावाला कहा गया है क्योंकि वह अल्प—थोड़े जीवों को ही परिताप देती है।

·०४·४२ महावज्जकिरिया—महावर्ज्यक्रिया

—आया० श्रु २ । अ २ । उ २ । सू ३६ । पृ० ५५

यदि साध्वाचार से अनभिज्ञ कोई गृहस्थ भिन्न-भिन्न श्रमण-ब्राह्मण-भिक्षु-भिखारी आदि के रहने के उद्देश्य से भवन-वासस्थान आदि का अलग-अलग निर्माण करावे तथा इस तथ्य को जानते हुए उस उद्दिष्ट भवन-वासस्थान आदि में कोई साधु-श्रमण वास करे तो उस साधु—श्रमण के महावर्ज्य क्रिया होती है। —देखो भिक्षु और क्रिया

·०४·४३ महासावज्जकिरिया—महासावद्यक्रिया

—आया० श्रु २ । अ २ । उ २ । सू ४१ । पृ० ५५

किसी श्रमण-साधु के रहने के उद्देश्य से यदि कोई भवन-गृह-धर्मशाला-उपाश्रय आदि बनाया गया हो; जिसके बनाने में अनेक जीवों का महासंरम्भ-महासमारम्भ-महारम्भ हुआ हो उसमें रहने से, उसको भोगने से साधु-श्रमण को महासावद्य क्रिया होती है।

—देखो भिक्षु और क्रिया

·०४·४४ वज्जकिरिया—वर्ज्यक्रिया —आया० श्रु २ । अ २ । उ २ । सू ३८ । पृ० ५५

यदि कोई गृहस्थ यह जानता हुआ कि साधु—श्रमण उनके उद्देश्य से निर्मित भवन-वासस्थान आदि में निवास नहीं करते हैं इसलिये अपने स्वार्थ से बनाये गये भवन आदि

को साधु-श्रमण के रहने के निमित्त छोड़ दे—खाली कर दे तथा अपने लिए अन्यत्र अन्य भवनादि का निर्माण करे तो इस तथ्य को जानते हुए उस छोड़े हुए या खाली किये हुए भवन आदि में साध-श्रमण के रहने से—भोगने से उनको वर्ज्यक्रिया होती है।

—देखो भिक्षु और क्रिया

·०४·४५ सकिरिए—सक्रिय —सूय० श्रु २ । अ ४ । सू ४ । पृ० १६८

मूल—××× एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे *सकिरिए* असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते से बाले अवियारमणवयणकायवक्केसुविणमवि न पासइ पावे य से कम्मे कज्जइ।

सावद्यक्रिया—सावद्यानुष्ठान करता हुआ जीव—सक्रिय।

टीका—क्रियादिदोषदुष्ट इति।

·०४·४६ सकिरियट्ठाणं—सक्रियास्थानं —ठाण० स्था ५ । उ १ । सू ३९८ । पृ० २५७

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णाइक्कमइ, तंजहा—सकिरियट्ठाणं पडिसेवित्ता भवइ। ×××।

पाँच स्थान अर्थात् कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ, अपने सांभोगिक स्वधर्मी को विसांभोगिक बनाते हुए अर्थात् अपने गण से बाहर करते हुए, जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं। यथा—(एक) सक्रियस्थान अर्थात् अशुभ कर्म के बंध से युक्त स्थान को विशेष रूप से सेवन करने वाले साधु को।

·०४·४७ सकिरिया—सक्रिय —पण्ण० प २२ । सू १५७३ । पृ० ४७६

जो जीव क्रिया सहित हैं, क्रिया करते हैं वे सक्रिय हैं। शैलेशत्व को अप्राप्त संसारसमापन्नक जीव सक्रिय होते हैं। अतः तेरहवें गुणस्थान तक के जीवों को सक्रिय कहा जाता है।

·०४·४८ समुच्छिन्नकिरिया अनियट्टी—(अप्पडिवाई)

'उत्तरज्झयण' में समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टी तथा 'ठाणांग' में समुच्छिन्नकिरिए अप्पडिवाई रूप मिलता है। यह शुक्लध्यान का चौथा भेद है। निर्वाणगामी जीव श्वासोच्छ्वासादि रूप सूक्ष्म क्रियाओं का निरोध करता हुआ सम्पूर्ण काययोग का निरोध करके शैलेशत्व को प्राप्त होता है। तब उस समय में उसके शुक्लध्यान का चौथा भेद समुच्छिन्नकिरिया अनियट्टी (अप्पडिवाई) शुक्लध्यान होता है और इस ध्यान के द्वारा वह जीव श्वासोच्छ्वास का निरोध करता हुआ पाँच ह्रस्वाक्षरों का उच्चारण किया जा

सके उतने समय में वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों का युगपत् क्षय करता है। इस ध्यान में समस्त यौगिक क्रियाओं का समुच्छेद करके जीव अक्रिय हो जाता है।

—उत्त० अ २६ । सू ७३ । पृ० १०३६

—ठाण० स्था ४ । उ १ । सू २४७ । पृ० २२४

·०४·४६ सावज्जकिरिया—सावद्यक्रिया

—आया० श्रु २ । अ २ । उ २ । सू ४० । पृ० ५५

यदि कोई भवन-गृह-धर्मशाला-उपाश्रय आदि विभिन्न प्रकार के साधु-श्रमण-भिक्षु-भिखारी इत्यादि के रहने के उद्देश्य से बनाया गया हो तो उसमें रहने से, उसको भोगने से साधु को सावद्य क्रिया होती है। —देखो भिक्षु और क्रिया

·४·५० सुहुमकिरिया अप्पडिवाई (अनियट्टि)

'उत्तरज्झयण' में 'सुहुमकिरियं अप्पडिवाई' तथा ठाणांग में सुहुमकिरिए अनियट्टि' रूप मिलता है। यह शुक्लध्यान का तीसरा भेद है। निर्वाण गमन के समय केवली के मन तथा वचन-योगों का सम्पूर्ण तथा काय-योग का अर्ध निरोध होता है। इस समय उनके सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती (अनियट्टि) शुक्लध्यान होता है। ऐसी अवस्था में जीव इस ध्यान के द्वारा श्वासोच्छ्वासादि के सिवाय अन्य सूक्ष्म यौगिक क्रियाओं का निरोध कर देता है। —उत्त० अ २६ । सू० ७३ । पृ० १०३६

—ठाण० स्था ४ । उ १ । सू २४७ । पृ० २२४

·०४·५१ सुहुमा इरियावहिया किरिया—सूक्ष्म ऐर्यापथिक क्रिया

—भग० श ३ । उ ३ । पृ० ४५८

जिसका कर्मबन्ध काल सूक्ष्म हो, दो समय मात्र हो तथा चलने-फिरने-बैठने यावत् आँख की पुतली के फड़कने मात्र से होती हो अर्थात् जो केवल योगप्रत्यय से होती हो वह मात्र सातावेदनीय कर्म का बंध करने वाली क्रिया—सूक्ष्म ऐर्यापथिक क्रिया होती है।

—देखो क्रमांक ·३७ ऐर्यापथिकी क्रिया

·०४·५२ सूरकिरियाविसिट्ठो —ठाण० स्था ४ । उ १ । सू २६४ । टीका में उद्धृत

सूर्य या सूर्य के प्रकाश के भ्रमण की वह क्रिया-विशिष्ट जिससे अद्धाकाल अर्थात् समयावलिका आदि का परिमाण सहज भाव से जाना जाता है।

·०५ परिभाषा के उपयोगी पाठ

क्रिया की परिभाषा के उपयोगी मूल पाठ उपलब्ध नहीं हुए हैं।

·०६ प्राचीन आचार्यों द्वारा की गई क्रिया की परिभाषा :—

·०६·१ निर्युक्तिकार :—

(क) कर्मबन्धनिबन्धभूतार्थक्रिया :—नहीं मिला।

(ख) सदानुष्ठानिकक्रिया :—नहीं मिला।

(ग) परिस्पन्दात्मिका क्रिया :—'दव्व किरिए अएयण'

एजन—परिस्पंदन क्रिया को द्रव्यक्रिया कहते हैं।

·०६·२ शीलांगाचार्य :—

(क) कर्मबन्धनिबन्धभूतार्थ क्रिया :—

(१) क्रियंत इति क्रियास्ताश्च कर्मबंधकारणत्वेनावश्यकांतर्वर्तिनि प्रतिक्रमणाध्ययने (पडिकमामि तेरसहिं किरियाठाणेहिं ति) अस्मिन्सूत्रेऽभिहिताः।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १। टीका

(ख) सदानुष्ठानिक क्रिया :—

(१) क्रियां वा सदनुष्ठानात्मिकामक्रियां वा असदनुष्ठानरूपाम्।

—सूय० श्र २। अ १। सू १७। टीका

(ग) परिस्पन्दात्मिका क्रिया :—

(१) क्रिया परिस्पंदलक्षणा तद्विपर्यस्तात्वक्रिया।

—सूय० श्रु २। अ ५। गा १६। टीका

(२) क्रिया परिस्पंदात्मिका चेष्टारूपा क्रियते क्रिया वा निर्व्यापारतया स्थितिरूपा क्रियते। —सूय० श्रु २। अ १। सू २१। टीका

·०६·३ अभयदेवसूरि :—

(क) कर्मबन्धनिबन्धभूतार्थ क्रिया :—

(१) करणं क्रिया—कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टा इति अर्थः।

—भग० श ३। उ ३। प्र १। टीका

(२) शरीरेन्द्रिययोगेषु क्रिया। —भग० श १७। उ १। प्र ११। टीका

(३) क्रियानिष्पाद्य कर्मोक्तम्। —भग० श १। उ ३। प्र ११४। टीका

(४) क्रिया करणं तज्जन्यत्वात् कर्मापि क्रिया अथवा क्रियत इति क्रिया—कर्मैव। भग० श ३। उ ३। प्र ७। टीका

(५) अविवक्षितविशेषतया करणमात्रविवक्षणात् करणं क्रिया—कायिक्यादिकेति —ठाण० स्था १। सू ४। टीका

(६) करणं क्रिया क्रियत इति वा क्रिया —ठाण० स्था २। सू ६०। टीका

क्रिया के दो भेद—प्राणातिपातिकी क्रिया तथा अप्रत्याख्यान क्रिया।

·०७·२·५ आरंभिकी क्रिया—पारिग्रहिकी क्रिया

दो किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—आरंभिया चेव परिग्गहिया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

क्रिया के दो भेद—आरम्भिकी क्रिया तथा पारिग्रहिकी क्रिया।

·०७·२·६ मायाप्रत्ययिकी क्रिया—मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया

दो किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—मायावत्तिया चेव मिच्छादंसणवत्तिया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

क्रिया के दो भेद—मायाप्रत्ययिकी क्रिया तथा मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया।

·०७·२·७ दृष्टिका क्रिया—स्पृष्टिका अथवा पृष्टिका क्रिया

दो किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—दिट्ठिया चेव पुट्ठिया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

क्रिया के दो भेद—दृष्टिका क्रिया तथा स्पृष्टिका अथवा पृष्टिका क्रिया।

·०७·२·८ प्रातीत्यिकी क्रिया—सामन्तोपनिपातकी क्रिया।

दो किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—पाडुच्चिया चेव सामन्तोवणिवाइया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

दो क्रिया के दो भेद—प्रातीत्यिकी क्रिया तथा सामन्तोपनिपातकी क्रिया।

·०७·२·९ स्वाहस्तिकी क्रिया—नैसृष्टिकी क्रिया।

दो किरियाओ पन्नताओ, तंजहा—साहित्थिया चेव णेसत्थिया चेव।

ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

क्रिया के दो भेद—स्वाहस्तिकी क्रिया तथा नैसृष्टिकी क्रिया।

·०७·२·१० आज्ञापनिका क्रिया—वैदारणिकी क्रिया

दो किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—आणवणिया चेव वेयारणिया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

क्रिया के दो भेद—आज्ञापनिका क्रिया तथा वैदारणिकी क्रिया।

·०७·२·११ अनाभोगिकी क्रिया—अनवकांक्षिकी क्रिया

दो किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—अणाभोगवत्तिया चेव अणवकंखवत्तिया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

क्रिया के पाँच भेद—आरंभिकी क्रिया, पारिग्रहिकी क्रिया, गायाप्रत्ययिकी क्रिया, अप्रत्याख्यान क्रिया तथा मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया।

·०७·४·२ काइया पंचक

(क) पंच किरिया पन्नत्ता, तंजहा—काइया, अहिगरणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया। —समः सम ५। सू ५। पृ० ३१६

(ख) पंच क्रिरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—काइया, अहिगरणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया।

—ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१६। पृ० २६२

(ग) कइ णं भंते! किरियाओ पन्नत्ताओ? गोयमा! पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—काइया, अहिगरणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया। —भग० श ८। उ ४। प्र १। पृ० ५४८

—पण्ण० प २२। सू १५६७। पृ० ४७८

—पण्ण० प २२। सू १६०५। पृ० ४८१

(घ) कइ णं भंते! किरियाओ पन्नत्ताओ? मंडियपुत्ता! पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—काइया, अहिगरणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया। —भग० श ३। उ ३। प्र १। पृ० ४५६

(ङ) कइ णं भंते! आयोजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ? गोयमा! पंच आयोजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—काइया जाव पाणाइवायकिरिया।

—पण्ण० प २२। सू। १६१७। पृ० ४८२

(च) कायाधिकरणप्रदोपपरितापनप्राणातिपाताः।

—तत्त्वाभा० अ ६। सू ६। पृ० ३०१

(छ) प्रदोपकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रियाः पंच।

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५०६। ला २२

क्रिया के पाँच भेद—कायिकी क्रिया, आधिकरणिकी क्रिया, प्रादोषिकी क्रिया, पारितापनिकी क्रिया तथा प्राणातिपातिकी क्रिया।

·०७·४·३ दिट्ठिया पंचक

(क) पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडुच्चिया, सामंतोवणिवाइया, साहत्थिया। —ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१६। पृ० २६२

क्षायोपशमिके भावे या क्रिया क्रियते तया।
पतितस्यापि तद्भाव - प्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥६॥
गुणवृद्ध्यै ततः कुर्यात् क्रियामस्खलनाय वा।
एकं तु संयमस्थानं जिनानामवतिष्ठते ॥७॥
वचोऽनुष्ठानतोऽसंगा क्रिया संगतिमंगति।
सेयं ज्ञानं क्रियाभेद - भूमिरानन्द - पिच्छला ॥८॥

—ज्ञान० अष्टक ६

ज्ञानी, क्रिया-चारित्र में तत्पर—उद्यत ; उपशान्त, भावितात्मा तथा जितेन्द्रिय जीव संसाररूपी समुद्र से स्वयं तिरने में समर्थ है तथा दूसरों को भी तारने में समर्थ है।

क्रियारहित अकेला ज्ञान बिलकुल निरर्थक है, जैसे चलने की क्रिया के बिना मार्ग का जानकार व्यक्ति भी अभीष्ट नगरी में पहुँच नहीं सकता।

जिस प्रकार दीपक निज में स्वप्रकाशक है फिर भी तेल भरने आदि क्रिया की अपेक्षा रखता है ; उसी प्रकार पूर्णज्ञानी भी निज के स्वभाव के अनुरूप क्रिया की अपेक्षा रखता है अर्थात् वे भी समुचित धर्मोपदेश, विहार, योगनिरोध आदि क्रियाएँ अवसर के अनुसार करते हैं।

व्यवहार क्रियाओं अर्थात् सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में निरत आत्मा का बाह्यभाव के कारण अर्थात् देवादि सुख लाभ हेतु के कारण निरादर नहीं करना चाहिए क्योंकि मुख में ग्रास दिये बिना क्षुधा की उपशांति की अभिलाषा नहीं मिट सकती है।

गुणी का बहुमान—सत्कारादि करना ; पश्चात्ताप, आलोचना आदि करना तथा गृहीत व्रत, नियम आदि का नित्य स्मरण करना—ये सब निरवद्य क्रियाएँ करणीय हैं—इससे पूर्व निष्पन्न—पूर्व उत्पन्न शुद्धभाव का पतन नहीं होता है और अनुत्पन्न उत्तम भाव समुत्पन्न होते हैं।

क्षायोपशमिक भाव में सम्यग् ज्ञान, चारित्र, वीर्य के उल्लास रूप परिणाम से देव-गुरु-वंदन तथा आवश्यकादि जो क्रिया की जाती है उनके द्वारा पतित अर्थात् शुभपरिणाम शिखर से नीचे गिरने वाले व्यक्ति के भी पुनः उन निरवद्य भावों की उत्पत्ति और प्रवृद्धि होती है।

मात्र केवलज्ञानी ही एक संयमस्थान में—संयम अध्यवसाय में अवतिष्ठ रहते हैं। जिनों के ही सदा, निरन्तर, अव्यवच्छिन्न परिणाम धारा होती है। अन्य सभी मुमुक्षुओं के गुणों की वृद्धि तथा हानि होती रहती है। अतः गुणों की वृद्धि के लिए तथा पतन से बचने के लिए क्रियाओं का करते रहना आवश्यक है।

भगवान् की वाणी के अनुसार क्रिया करता हुआ [illegible] क्रिया की योग्यता प्राप्त करता है । [illegible] और क्रिया की [illegible] है और [illegible] से [illegible] है ।

·०६ क्रिया का नय और निक्षेपों की अपेक्षा विवेचन

·०६·१ नय की अपेक्षा —

तत्र क्रिया संकल्पः नैगमेन संग्रहेण सर्वे संसारजीवाः सक्रिया उक्ताः । व्यवहारेण शरीरपर्याप्त्यनन्तरं क्रिया । ऋजुसूत्रनयेन कार्यसाधनार्थं योगप्रवृत्तिमुख्यवीर्यपरिणामरूपा क्रिया । शब्दनयेन वीर्यपरिस्पन्दात्मिका । समभिरूढेन गुणसाधनानुरूपसकलकर्तव्यव्यापाररूपा । एवंभूतनयेन तत्त्वैकत्ववीर्यतीक्ष्णतासाहाय्यगुणपरिणमन रूपा ।

—अभिधा० भाग ३ । पृ० ५५२

नैगम तथा संग्रहनय की अपेक्षा सर्व संसारी जीव सक्रिय हैं । व्यवहारनय की अपेक्षा शरीरपर्याप्ति के पश्चात् क्रिया होती है । ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा कार्य के साधन के लिये योगप्रवृत्ति की मुख्यता से वीर्य का जो परिणमन होता है वह क्रिया है । शब्दनय से वीर्य आत्मा का परिस्पंदन क्रिया है । समभिरूढ़नय से गुण की साधना के अनुरूप सर्व कर्तव्य का करना—क्रिया है । एवंभूतनय से वीर्य आत्मा के तीक्ष्ण परिस्पंदन की सहायता से जो गुण परिणमन हो वह क्रिया है ।

·०६·२ निक्षेप की अपेक्षा

[निर्युक्तकार ने निक्षेपों की अपेक्षा क्रिया का विवेचन करते हुए नाम तथा स्थापना का विवेचन नहीं किया है तथा द्रव्य-भाव की अपेक्षा किया है ।]

दव्वे किरिए एजणया य, पओगुवायकरणिज्जसमुदाणे ।
इरियावहसंमत्ते, सम्मामिच्छा य चेव मिच्छत्ते ॥

—सूय० श्रु २ । अ २ । सू १ । नि गा १५६

उपर्युक्त मूल पाठ में 'अभिधा' में दिये गये पाठ से भिन्नता है ।

द्रव्य की अपेक्षा जीव तथा अजीव की परिस्पंदन रूप—चलन रूप क्रिया—द्रव्यक्रिया है । द्रव्यक्रिया दो प्रकार की होती है—प्रायोगिक, वैस्रसिका । वह चाहे उपयोगपूर्वक हो या अनुपयोगपूर्वक हो अथवा आँख की पलक झपकने मात्र जितनी हो वे सब द्रव्य-क्रिया हैं ।

जिस क्रिया से कर्मबन्ध होता हो—वह भावक्रिया है ।

भावक्रिया के अनेक भेद हैं । यथा—प्रयोगक्रिया, उपायक्रिया, करणीयक्रिया, समुदानक्रिया, ऐर्यापथिकक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया इत्यादि ।

·१·६ विभिन्न क्रियाओं का विवेचन

[सामान्यतः कर्मबन्ध के निबन्धभूत कार्यों को क्रिया कहते हैं। अतः कर्मबन्ध के निबन्धभूत जितने भी कार्य हो सकते हैं उतने ही प्रकार की क्रियाएँ भी होनी चाहिये। आगमों में क्रियाओं के समग्र भेदों का एकत्र वर्णन नहीं मिलता है। 'समवायांग' में 'किरिया' तथा 'अकिरिया' के एक-एक भेद का वर्णन है। 'ठाणांग' में एक भेद, दो भेद, तीन भेद तथा पाँच भेद करके वर्णन मिलता है। 'ठाणांग' तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' में पाँच भेद करके पाँच पंचक मिलते हैं। 'पण्णवणा' तथा 'भगवई' में दो पंचकों (काइया तथा आरंभिया) का विवेचन मिलता है। 'समवायांग' में सिर्फ एक काइया पंचक का नामकरण मिलता है। 'सूयगडांग' तथा 'समवायांग' में 'किरियाठाण' के नाम से तेरह क्रियास्थानों का वर्णन मिलता है। 'भगवई', 'पण्णवणा' तथा अन्यत्र अठारह 'पापस्थान' का क्रियारूप में वर्णन मिलता है। *अन्यत्र भी कुछ क्रियाओं का अलग से विवेचन मिलता है।* इन क्रियाओं का हमने अलग-अलग विवेचन किया है तथा जहाँ द्वयक और पंचक के रूप में विवेचन है, वहाँ द्वयक और पंचक के रूप में भी विवेचन किया है। 'पापठाण' क्रियाओं का विवेचन सम्मिलित रूप में तथा अलग भी किया है।

क्रियाओं का अनुक्रम हमने अकारादि क्रम से न करके इस प्रकार किया है—प्रथम, जीव-अजीव दो क्रियाओं को लिया है। तत्पश्चात् क्रमशः पाँच पंचक की पचीस क्रियाओं को लिया है। पचीस क्रियाओं के शेष में 'इरियावहिया' क्रिया के रहने से उसके युगल 'संपराइया' क्रिया को लिया है। तत्पश्चात् 'सम्मत्त-मिच्छत्त' युगल को लिया है। मिच्छत्त क्रिया के भेद होने के कारण तत्पश्चात् 'अकिरिया' तथा 'अण्णाण' क्रिया को लिया है।

उसके बाद तेरह क्रियास्थानों में जो क्रियाएँ पचीस क्रियाओं में नहीं आयी हैं उनको लिया है। 'हिंसा दंडवत्तिए' को हमने 'पाणाइवाय' क्रिया में नहीं लिया है।

क्रियास्थान की क्रियाओं के बाद 'पापठाण' की अवशिष्ट क्रियाओं को लिया है। सर्व शेष में 'एयण' (कंपन-परिस्पंदन) क्रिया को लिया है।

क्रियाओं की परिभाषाएँ हमें आगमों में बहुत ही कम मिलीं। अतः हमने स्थान-स्थान पर टीकाकारों की परिभाषाएँ संकलित की हैं।

क्रिया का अर्थ जहाँ कर्म को काटने के साधनरूप में लिया गया है वहाँ हमने अलग विवेचन किया है। क्रियावाद, अक्रियावाद, अक्रिया तथा अन्तक्रिया का अन्यत्र (देखो ·६२·४, ·६२·५, ·७२ तथा ·७३) विवेचन किया है।]

·१७ मिच्छादंसणवत्तिया (मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी)

·१८ काइया (कायिकी)

·१९ अहिगरणिया (आधिकरणिकी)

·२० पाओसिया (प्राद्वेषिकी)

·२१ पारियावणिया (पारितापनिकी)

·२२ पाणाइवाय (प्राणातिपातिकी)

·२३ दिट्ठिया (दृष्टिका)

·२४ पुट्ठिया (पृष्टिका / स्पृष्टिका)

·२५ पाडुच्चिया (प्रातीत्यिकी)

·२६ सामन्तोवणिवाइया (सामन्तोपनिपातिकी)

·२७ साहत्थिया (स्वाहस्तिकी)

·२८ णेसत्थिया (नैसृष्टिकी)

·२९ आणवणिया (आज्ञापनिका / आनायनिका)

·३० वेयारणिया (वैदारणिकी / वैचारणिकी)

·३१ अणाभोगवत्तिया (अनाभोगप्रत्ययिकी)

·३२ अणवकंखवत्तिया (अनवकांक्षाप्रत्ययिकी)

·३३ पेज्जवत्तिया (रागप्रत्ययिकी)

·३४ दोसवत्तिया (द्वेषप्रत्ययिकी)

·३५ पओग (प्रायोगिकी)

·३६ समुदाण (सामुदानिकी)

·३७ इरियावहिया (ऐर्यापथिकी)

·३८ संपराइया (साम्परायिकी)

·३९ सम्मत्त (सम्यक्त्व)

·४० मिच्छत्त (मिथ्यात्व)

·४१ अकिरिया (अक्रिया-दुष्प्रयुक्त)

·४२ अण्णाण (अज्ञान)

·४३ अट्ठादंडवत्तिए (अर्थदंडप्रत्ययिकी)

·४४ अणट्ठादण्डवत्तिए (अनर्थदण्डप्रत्ययिकी)

·४५ हिंसादण्डवत्तिए (हिंसादंडप्रत्ययिकी)

·४६ अकम्हादंडवत्तिए (अकस्मात्-दंडप्रत्ययिकी)

·४७ दिट्ठिविपरियासिया दंडवत्तिए (दृष्टि-विपर्यास-प्रत्ययिकी)

·४८ मोसावत्तिए (मृषाप्रत्ययिकी)

·४९ अदिण्णादाणवत्तिए (अदत्तादानप्रत्ययिकी)

·५० अज्झत्थवत्तिए (अध्यात्म (मन) प्रत्ययिकी)

·५१ माणवत्तिए (मानप्रत्ययिकी)

·५२ मित्तदोसवत्तिए (मित्रद्वेषप्रत्ययिकी)

·५३ लोभवत्तिए (लोभप्रत्ययिकी)

·५४ मेहुण (मैथुन)

·५५ कोह (क्रोध)

·५६ कलह (कलह)

·५७ अब्भक्खाण (अभ्याख्यान)

·५८ पेसुन्न (पैशुन्य)

·५९ परपरिवाय (परपरिवाद)

·६० अरइरई (अरति-रति)

·६१ मायामोस (मायामृषा)

·६२ मिच्छादंसणसल्ल (मिथ्यादर्शनशल्य)

·६३ एयण (एजना)

·६४ क्रियाद्वयक

·६४·१ सम्मत्त-मिच्छत्त (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) क्रियाद्वयक

·६४·२ इरियावहिया-संपराइया (ऐर्यापथिकी-सांपरायिकी) क्रियाद्वयक

·६५ आरम्भिया (आरम्भिकी) क्रियापंचक

·६६ काइया (कायिकी) क्रियापंचक

·६७ त्रय-क्रियापंचक

·६७·१ दिट्ठिया (दृष्टिका) क्रियापञ्चक

·१०·७·२ आणवणिया (आज्ञापनिका / आनायनिका) क्रियापंचक

·१०·७·३ पेज्जवत्तिया (रागप्रत्ययिकी) क्रियापंचक

·१०·८ पापट्ठाण (पापस्थान) क्रिया

·११ जीवक्रिया

·११·१ परिभाषा / अर्थ

जीवस्य क्रिया व्यापारो जीवक्रिया ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

जीव का व्यापार जीवक्रिया है ।

·११·२ भेद—

जीवकिरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मत्तकिरिया चेव मिच्छत्तकिरिया चेव ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

जीवक्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—सम्यक्त्वक्रिया तथा मिथ्यात्वक्रिया ।

·११·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

·१ सम्यक्त्वक्रिया—देखो क्रमांक ·३८

·२ मिथ्यात्वक्रिया—देखो क्रमांक ·४०

नोट—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्रियाओं के [illegible] में विवेचन के लिये देखो क्रमांक ·६४·१

·१२ अजीवक्रिया

·१२·१ परिभाषा / अर्थ—

अजीवस्य—पुद्गलसमुदायस्य यत्कर्मतया परिणमनं सा अजीवक्रियेति ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

अजीव पुद्गलसमुदाय का जो कर्मरूप में परिणमन होता है वह अजीवक्रिया है ।

यहाँ विवक्षा क्रिया के कर्त्ता की अपेक्षा न होकर क्रिया से होने वाले कर्मबन्ध की अपेक्षा है ।

·१२·२ भेद—

अजीवकिरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—इरियावहिया चेव संपराइया चेव ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

अजीवक्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—ऐर्यापथिकी तथा साम्परायिकी ।

'१२'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

'१ ऐर्यापथिकी—देखो क्रमांक '३७।

'२ साम्परायिकी—देखो क्रमांक '३८

नोट—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रियाओं के द्वयक रूप में विवेचन के लिये—देखो क्रमांक '६४'२

'१३ आरम्भिकी क्रिया

'१३'१ परिभाषा / अर्थ—

(क) आरम्भणमारम्भः तत्र भवा आरम्भिकी।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) 'आरंभइ' त्ति आरभते पृथिव्यादीनि उपद्रवयति।

—भग० श ३। उ ३। प्र १२। टीका

(ग) आरम्भः—पृथिव्याद्युपमर्द्दः, उक्तं च—

संरंभो संकप्पो परितावकरो भवे समारम्भो।
आरम्भो उद्दवओ सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं॥

आरम्भः प्रयोजनं—कारणं यस्याः सा आरम्भिकी।

—पण्ण० प २२। सू १६२२। टीका

(घ) भूम्यादिकायोपघातलक्षणा शुष्कतृणादिच्छेदे लेखनादिका वाऽप्यारम्भ-क्रिया स्वपरभेदतः। —सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

(ङ) छेदनभेदनविशसनादिक्रियापरत्वमन्येन वाऽऽरम्भे क्रियमाणे प्रहर्षः प्रारम्भक्रिया। —सर्व० अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला १२

(च छेदनभेदनविस्रंसनादिक्रियापरत्वम्, अन्येन चारम्भे क्रियमाणे प्रहर्ष आरम्भक्रिया। —राज० अ ६। सू ५। पृ० ५१०। ला० १०-११

(छ) छेदनादिक्रियासक्तचित्तत्वं स्वस्य यद्भवेत्।
परेण तत्कृतौ हर्षः सेहारम्भक्रिया मता॥

—श्लोवा० अ ६। सू ५। पृ० ४४५। गा २३

आरम्भ अर्थात् पृथिवी आदि जीवों का उपमर्दन अथवा उनके प्रति उपद्रव करना। जिसमें आरम्भ—प्रयोजन या कारण हो वह क्रिया आरम्भिकी क्रिया कहलाती है।

'१३'२ भेद—

आरंभिया किरिया दुविहा पन्नता, तंजहा—जीव आरंभिया चेव अजीव आरंभिया चेव। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

(च) परिग्रहाविनाशार्था स्यात् पारिग्रहिकी क्रिया।

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा २४ । पृ० ४४५

परिग्रह अर्थात् धर्मोपकरण को छोड़ कर अन्य वस्तुओं को अपनाना तथा धर्मोपकरण में भी आसक्ति जिसका प्रयोजन हो वह पारिग्रहिकी क्रिया कहलाती है।

'१४'२ भेद—

एवं परिग्गहियावि (परिग्गहिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवपरिग्गहिया चेव अजीवपरिग्गहिया चेव)।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

पारिग्रहिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—जीवपारिग्रहिकी तथा अजीवपारिग्रहिकी।

'१४'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

'१ जीव पारिग्रहिकी

जीवपरिग्रहप्रभवत्वात् तस्या इति भावः।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

जीव परिग्रह के निमित्त से होनेवाली क्रिया जीव पारिग्रहिकी कहलाती है।

'२ अजीव पारिग्रहिकी

अजीवपरिग्रहप्रभवत्वात् तस्या इति भावः।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

अजीव परिग्रह के निमित्त से होने वाली क्रिया अजीवपारिग्रहिकी कहलाती है।

नोट :—पारिग्रहिकी क्रिया का विवेचन आरम्भिकी पंचक (क्रमांक '६५) में भी देखो।

'१४'४ पारिग्रहिकी क्रिया और जीवदण्डक :—

(क) अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता अत्थि xxx। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा जहा पाणाइवाए तहा xxx परिग्गहे।

(देखो '२२'४)

भग० श १ । उ ६ । प्र २०६ से २१५ । पृ० ४०३

(ख) अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता ! अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

—पण्ण० प २२ । सू ३ । पृ० ४७६

जीव परिग्रह की क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं। परिग्रह की क्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को,

(छ) मायापरवञ्चनवुद्धिस्तया दण्डो मायाप्रत्ययिकः।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १०। टीका

माया अर्थात् अनार्जव—शठता—कपट के निमित्त जो क्रिया होती है वह मायाप्रत्ययिकी क्रिया है। उपलक्षण से क्रोध, मान तथा लोभ के निमित्त से होनेवाली क्रिया भी इसमें सम्मिलित कर लेनी चाहिए।

·१५·२ भेद

मायावत्तिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—आयभाववंकणया चेव परभाववंकणया चेव। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

मायाप्रत्ययिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—आत्मभाववंकनता तथा परभाववंकनता।

·१५·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

·१ आत्मभाववंकनता

'आयभाववंकणया चेव' त्ति आत्मभावस्याप्रशस्तवंकनता—वक्रीकरणं प्रशस्तत्वोपदर्शनता आत्मभाववंकनता, वंकनानां च बहुत्वविवक्षायां भावप्रत्ययो न विरुद्धः, सा च क्रियाव्यापारत्वात्। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

जहाँ आत्मभाव अप्रशस्त हो लेकिन ऊपर से प्रशस्त भाव दिखलाया जाय (विषकुम्भम् पयोमुखम्) वहाँ आत्मभाववंकनता क्रिया होती है; अर्थात् झूठा प्रशस्त भाव दिखलाना आत्मभाववंकनता क्रिया है। वंकनता की बहुप्रकार की विवक्षा के कारण भाव-प्रत्यय विरुद्ध नहीं पड़ता है, क्योंकि वह वंकनता व्यापार रूप होने के कारण क्रिया है।

·२ परभाववंकनता

'परभाववंकणया चेव' त्ति परभावस्य वंकनता—वंचनता या कूटलेखकरणादिभिः, सा परभाववंकनतेति, यतो वृद्धव्याख्येयं—"तं तं भावमायरइ जेण परो वंच्चिज्जइ कूडलेहकरणाईहिं" ति। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

परभाववंकनता क्रिया अर्थात् झूठे दस्तावेज आदि द्वारा दूसरों को ठगने के अभिप्राय से की गई क्रिया।

एक वृद्धाचार्य कहते हैं—जो कूट लेखादि (झूठे दस्तावेजों) द्वारा दूसरों को ठगता है वह उन-उन (पूर्व लिखित) भावों में आचरण करता है।

नोट :—मायाप्रत्ययिकी क्रिया का विवेचन आरम्भिकी पंचक (क्रमांक ·६५) में भी देखो।

एवमेव माई मायं कट्टु नो आलोएइ, नो पडिक्कमेइ, नो निन्दइ, नो गहरइ, नो विउट्टइ, नो विसोहेइ, नो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, नो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ ; माई अस्सिं लोए पच्चायाइ, माई परंसि लोए पुणो पुणो पच्चायाइ निंदइ गरहइ पसंसइ निच्चरइ न नियट्टइ, निसिरियं दंडं छाएइ, माई असमाहड-सुहलेस्से यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। एक्कारसमे किरिय-ट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिए।
—सूय० श्रु २। अ २। सू १२। पृ० १४८

कई व्यक्ति गूढ़ाचारी होते हैं जो पहले विश्वास जमा कर पीछे धोखा देते हैं। कई व्यक्ति तमकापिका-मायाचारी—वगुलाभगत होते हैं जो अपने आचरण को छिपाकर लोगों को धोखे में रखते हैं। वे उल्लू के पंख के समान तुच्छ होने पर भी अपने को पर्वत के समान महान् वताते हैं। आर्य होते हुए भी वे अनार्य भाषा का प्रयोग करते हैं। वे जैसे हैं उससे अपने को अन्यथा भिन्न मानते हैं, यथा—नीम के पत्ते को आम का पत्ता मानना। उनसे पूछा कुछ और ही जाता है और वे जवाव कुछ और ही देते हैं। जहाँ जो कहना चाहिए वहाँ उससे विपरीत कहते हैं।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शल्य-शूल की आन्तरिक चोट लग गई हो और वह उस शल्य को न स्वयं निकालता है, न दूसरों से निकलवाता है, न औषधिदि के उपचार से उसका विनाश कराता है और जानता हुआ भी उस शूल की व्यथा को छिपाता है ; पूछने पर वतलाता भी नहीं है—भीतर ही भीतर शूलजनित पीड़ा—व्यथा से दुःखी होता है।

वैसे ही मायावी व्यक्ति छल-कपट करके या अकृत्य कार्य करके उसकी आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा नहीं करता है, उन दोषों को मिटाता नहीं है, उनका विशोधन नहीं करता है, भविष्यत् में ऐसा नहीं करने का निश्चय भी नहीं करता है, उन दोषों के यथायोग्य तपादि प्रायश्चित्त भी स्वीकार नहीं करता है। ऐसे मायावी व्यक्ति का इस लोक में भी कोई व्यक्ति विश्वास नहीं करता है ; परलोक में भी वार-वार नीच गति या योनि में उत्पन्न होता है। मायावी व्यक्ति पर की निन्दा करता है, गर्हा करता है, अपनी सच्ची-झूठी प्रशंसा करता है। वह अकार्य—वुरे काम करता है, उनको छोड़ता नहीं है वल्कि छिपाता है। यदि ऐसे मायावी व्यक्ति के शुभलेश्या हो भी तो वह असमाहित—अशुद्ध होती है। ऐसे मायावी व्यक्ति को इस प्रकार मायाप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है। यह ग्यारहवाँ मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान है।

·१५·६ मायाप्रत्ययिकी क्रिया और कर्मप्रकृति का वंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ वंधइ ?………(पूरे पाठ के लिये देखो ·२२·५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।
पण्ण० प २२। सू १५७६-८०। पृ० ४७६-८०

'१६'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

'१ जीव-अपच्चक्खाणकिरिया

जीवविषये प्रत्याख्यानाभावेन यो बन्धादिव्यापारः सा जीवाप्रत्याख्यान-क्रिया।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

जीव के सम्बन्ध में प्रत्याख्यान के अभाव से होने वाली क्रिया जीव-अप्रत्याख्यान-क्रिया होती है।

'२ अजीव-अपच्चक्खाणकिरिया

यदजीवेषु—मद्यादिष्वप्रत्याख्यानात् कर्मबन्धनं सा अजीवाप्रत्याख्यान-क्रियेति।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

अजीव अर्थात् मद्य आदि अजीव वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रत्याख्यान के अभाव से होने वाली क्रिया अजीव-अप्रत्याख्यानक्रिया कहलाती है।

'१६'४ जीव तथा अप्रत्याख्यानक्रिया की समानता :—

(क) से णूणं भन्ते। हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?

हंता, गोयमा ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य जाव कज्जइ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव कज्जइ ?

गोयमा ! अविरइं पडुच्च, से तेणट्ठेणं जाव कज्जइ।

—भग० श ७। उ ८। प्र ६। पृ० ५२२

(ख) से णूणं भंते ! सेट्ठियस्स य, तणुयस्स य, किवणस्स य, खत्तियस्स य समं चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?

हंता, गोयमा ! सेट्ठियस्स य, जाव (खत्तियस्स य समं चेव) अपच्चक्खाण-किरिया कज्जइ।

से केणट्ठेणं भंते !

अविरइं पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ सेट्ठियस्स य, तणुयस्स य, जाव-कज्जइ।

—भग० श १। उ ९। प्र ३०१-२। पृ० ४१३

अविरति की अपेक्षा—सेठ, गरीब, कृपण, क्षत्रिय (राजा), हाथी तथा कुंथु-कीट सब को समान अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है।

'१६'५ निक्षेपों की अपेक्षा से अप्रत्याख्यान क्रिया का विवेचन :—

णामंठवणादविए अइच्छ पडिसेहए य भावे य।
एसो पच्चक्खाणस्स छव्विहो होइ निक्खेवो॥

जिस प्रकार हिंसा—प्राणातिपात के सम्बन्ध में प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शनशल्य शेष पापकर्मों को नहीं करते हुए भी जीव के प्रत्याख्यान के अभाव में उन पापों की अपेक्षा अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है।

यहाँ इस अप्रत्याख्यान अर्थात् प्रत्याख्यान के अभाव से लगने वाली क्रिया का दार्शनिक तर्कों के आधार पर विवेचन है।]

नोट :—अप्रत्याख्यान क्रिया का विवेचन आरम्भिकी क्रियापंचक (क्रमांक '६५) में भी देखो।

'१६'६'१ आत्मा और अप्रत्याख्यान :—

आया अपच्चक्खाणीयावि भवइ। —सूय० श्रु २। अ ४। सू १। पृ० १६६

आत्मा अप्रत्याख्यानी भी होती है।

प्रत्याख्यान—त्याग देना, छोड़ देना।

पाप कर्मों का प्रत्याख्यान करना—पाप कर्म नहीं करने का संकल्प—प्रतिज्ञा-भावना—विचार करना।

मैं पाप कर्म नहीं करूँगा—ऐसी भावना होना—पापकर्म का प्रत्याख्यान करना है। जिस आत्मा के 'पाप कर्म नहीं करूंगा'—ऐसा संकल्प—प्रतिज्ञा-भावना—विचार नहीं है वह आत्मा अप्रत्याख्यानी है।

आत्मा प्रत्याख्यानी भी होती है, अप्रत्याख्यानी भी होती है।

'१६'६'२ अप्रत्याख्यानी जीव और पापकर्मबन्धन :—

(क) स्थापना :—अप्रत्याख्यानी जीव पापकर्म का बंध करता है :—

सुयं मे आउसं। तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पच्चक्खाण-किरिया—णामज्झयणे तस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते—"आया अपच्चक्खाणी यावि भवइ, आया अकिरिया-कुसले यावि भवइ, आया मिच्छासंठिए यावि भवइ, आया एगंतदंडे यावि भवइ, आया एगंतबाले यावि भवइ, आया एगंतसुत्ते यावि भवइ, आया अवियार-मण-वयण-कायवक्के यावि भवइ, आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपाव-कम्मे यावि भवइ, एस खलु भगवया अक्खाए असंजए, अविरए, अप्पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे, सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले, एगंतसुत्ते से बाले अवियार-मण-वयण-कायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ, पावे य से कम्मे कज्जइ।

—सूय० श्रु २। अ ४। सू १। पृ० १६६

आचार्य ने स्थापना की कि आत्मा अप्रत्याख्यानी, अकर्तव्यकुशल, मिथ्याविश्वास वाली, दूसरों को एकान्त कष्ट पहुँचाने वाली, एकान्त अज्ञानी, सोई हुई या मूढ़, मन-वचन-

चोयए एवं वयीइ अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वईए पावियाए वइवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरेणं कायेणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, हणंतस्स, समणक्खस्स, सवियार-मण-वयण-कायवक्कस्स सुविणमवि पासओ एवं गुण जातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ।

पुनरवि चोयए एवं वयीइ तत्थणं जे ते एवमाहंसु —असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वईए पावियाए, असंतएणं कायेणं पावएणं, अहणंतस्स, अमणक्खस्स, अवियार-मण-वयण-कायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ। तत्थणं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। —सूय० श्रु २। अ ४। सू २। पृ० १६६

आचार्य के उपर्युक्त कथन से प्रेरित होकर प्रवादी बोला—जिसके मन, वचन और काया पाप करने में लगे हुए न हों, जो हिंसा न करता हो, जिसके मन न हो या जिसके मन, वचन और काया की वक्रता या प्रवृत्ति अविचारपूर्वक होती हो या जो स्वप्नदर्शक जितनी भी चेतनावाला न हो वह पापकर्म का बंध नहीं करता है?

आचार्य ने पूछा—इसका क्या कारण है?

प्रवादी बोला—जिसके मन, वचन और काया पापमय हो उसे ही मन, वचन और काया-जनित पापकर्मों का बन्ध होता है। जो हिंसक है, मन वाला है और विचारपूर्वक मन, वचन और काया से प्रवृत्ति करता है अन्ततः स्वप्नदर्शक जितनी चेतना जिसमें है ऐसे गुणवाले व्यक्ति ही पापकर्म का संचय करते हैं।

प्रवादी ने आगे कहा—जिसके मन-वचन-काया पाप करने में लगे हुए नहीं हैं, जो हिंसा नहीं करता है, जिसके मन नहीं है, जो विचारपूर्वक मन-वचन-काया की प्रवृत्ति नहीं

करता है, जिसमें स्वप्नदर्शक जितनी चेतना भी नहीं है, वे जीव भी पापकर्म का बंध करते हैं—ऐसा जो आप कहते हैं वह गलत है।

(ग) स्थापना का समर्थन :—

तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी—'तं सम्मं जं मए पुव्वं वुत्तं। असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वइए पावियाए, असंतएणं कायेणं पावएणं, अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियार-मण वयण-कायवक्कस्स, सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ, तं सम्मं।'

कस्स णं तं हेउं ?

आयरिय आह—'तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पन्नता, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया ; इच्चेएहिं छहिं जीव-णिकाएहिं आया अपडिहय-पच्चक्खाय—पावकम्मे निच्चं पसढ-विउवाय-चित्तदंडे, तंजहा—पाणइवाए जाव परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। —सूय० श्रु २। अ ४। सू २। पृ० १६६-६७

प्रत्युत्तर देते हुए आचार्य ने कहा—जैसा मैंने पूर्व में कहा है कि हिंसा में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के बिना भी अप्रतिहत—अप्रत्याख्यात आत्मा के पापकर्म का वन्ध होता है—यह कथन समुचित है।

भगवान ने पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय—इन छः जीवनिकायों का प्रतिपादन किया है तथा इनको पापकर्मवन्ध का हेतु कहा है।

जो जीव इन छः जीवनिकायों के प्रति पाप करने में, उनका हनन करने में बाधा-रहित है, अविरत है तथा सदा जिसका चित्त हिंसा करने में, दण्ड देने में खुला है उसके पापकर्म का वन्ध होता है।

इसी प्रकार प्रत्याख्यान के अभाव में मृषावाद यावत् मिथ्या-दर्शनशल्य का भी बंध होता है।

टीकाकार कहते हैं—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के अव्यक्त-विज्ञान, अस्वप्नादि अवस्था होते हुए भी पापकर्म का वन्ध होता है क्योंकि उनकी आत्मा पापकर्म से अप्रतिहत-अविरत है।

(घ) स्थापना के समर्थन में वधक का दृष्टान्त :—

आयरिय आह—'तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पन्नत्ते। से जहानामए—वहए सिया गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि (सं) पहारमाणे, से किं नु हु नाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय

एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढ-विउवाय-चित्तदंडे भवइ।' —सूय० श्रु २। अ ४। सू २। पृ० १६७

आचार्य ने आगे कहा—"इस विषय को समझने के लिये अरिहन्त भगवान् ने वधक का दृष्टान्त प्रतिपादन किया है। जैसे कोई वधक किसी कारण से गृहपति, गृहपति के पुत्र, राजा या राजपुरुषों पर कुपित होकर यह विचार करता है—"अवसर पाकर उनके घर में प्रवेश करूँगा और कोई मौका पाकर या अवसर देख कर उनको मार डालूँगा।"

"ऐसा विचार करने वाला वह वधक रात में या दिन में, सोते हुए या जागते हुए गृहपति आदि का अमित्र, बुरे विचार वाला, नित्यमूढ़ और हिंसक चित्तवृत्ति वाला होता है। क्या वह (जीव का विनाश नहीं करते हुए भी) वधक है ?"१ ऐसा पूछनेपर प्रवादी ने कहा—"आपने समुचित कहा है, वह वधक है।"

वधक के दृष्टान्त से बाल अज्ञानी जीव की तुलना करते हुए आचार्य ने प्रवादी से कहा—"जिस प्रकार वह वधक रात में या दिन में, सोते हुए या जागते हुए—गृहपति आदि का अमित्र, मिथ्याभाव में स्थित, हिंसा अवसरापेक्षी है, उसी प्रकार बाल अज्ञानी जीव भी रात में या दिन में, सोते हुए या जागते हुए सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों के प्रति अमैत्री व बुरे भाव वाले, नित्यमूढ़, हिंसा अनुगत चित्तवृत्ति वाले हैं।"

अतः भगवान् ने कहा है कि ऐसे जीव असंयमी, अव्रती, पापकर्म करने में किसी भी वाधा-रुकावट से रहित, सक्रिय, असंवृत्त, एकान्त सावद्य प्रवृत्ति वाले, एकान्तवाल और एकान्त सुप्त है, मन-वचन-काया से विचाररहित तथा स्वप्न जितनी भी चेतना से रहित हैं फिर भी वे जीव (हिंसा नहीं करते हुए भी प्रत्याख्यान के अभाव में) पापकर्म का वन्ध करते हैं।

जैसा प्राणातिपात सम्बन्धी दृष्टान्त दिया वैसे मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के दृष्टान्त भी समझ लेने चाहिये।

जिस प्रकार वधक दिन में या रात में, सोये हुए या जागते हुए गृहपति, गृहपति के पुत्र, राजा या राजपुरुषों में से प्रत्येक के प्रति प्राणघात का विचार करता है तथा प्राणघात का विचार रखने वाला वह वधक उन गृहपति आदि प्रत्येक का अमित्र, दुष्ट विचार वाला, नित्यमूढ और हिंसक चित्तवृत्ति वाला है; उसी प्रकार वाल अज्ञानी एकेन्द्रियादिक जीव दिन में या रात में, सोते हुए या जागते हुए सर्व प्राण भूत-जीव-सत्त्वों में से हर एक के प्रति अमैत्री भाव वाले, दुष्ट विचार वाले, निरन्तर शठ और हिंसक चित्तवृत्ति वाले होते हैं। अतः उनको भी पापकर्म का वन्ध होता है।

(च) प्रतिस्थापक की आपत्ति :—

णो इणट्ठे समट्ठे (चोयए) इह खलु बहवे पाणा० (भूया-जीवा-सत्ता) जे इमेणं सरीर-समुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा नाभिमया वा वन्नाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेय चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढ-विउवाय-चित्तदण्डे, तंजहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। सूय० श्रु २। अ ४। सू ३। पृ० १६७

प्रवादी ने कहा कि आपका कथन यथार्थ नहीं है क्योंकि यह संभव नहीं है कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक का अमित्र—शत्रु हो। इस विशाल लोक में अनन्त प्राणी हैं उनमें से वहुत से प्राणी ऐसे हैं जिनका परस्पर में शरीर से संसर्ग नहीं हुआ है, आँखों से एक दूसरे को देखा नहीं है, कानों से सुना नहीं है, परिचय नहीं हुआ है तथा एक दूसरे के सम्वन्ध में विशेष जानकारी भी नहीं है। अतः एक दूसरे के प्रति विनाश का चिन्तन संभव नहीं है तथा रात्रि-दिवस, सोते, जागते वे परस्पर में अमित्र, बुरे विचार वाले, निरन्तर शठ, हिंसक चित्तवृत्ति वाले नहीं हो सकते हैं और इस कारण उनको पापकर्म—प्राणातिपात यावत्—मिथ्यादर्शनशल्य का वन्ध नहीं हो सकता है।

(छ) आपत्ति के निराकरण के लिये संज्ञी व असंज्ञी दृष्टान्त :—

आयरिय आह—'तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पन्नत्ता। तंजहा—सन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य।' —सूय० श्रु २। अ ४। सू ४। पृ० १६७

यदि वह प्रत्यक्षसंज्ञी जीव छहों जीवनिकायों द्वारा कोई कार्य करता है, कराता है तब वह यही बात कहता है कि मैं छहों जीवनिकायों के द्वारा कार्य करता हूँ और कराता हूँ। तब उसके विषय में ऐसा नहीं कह सकते हैं कि वह असुक-अमुक छहों जीवनिकायों के द्वारा कार्य करता है और कराता है लेकिन यही कहना होगा कि वह छहों जीवनिकायों के द्वारा कार्य करता है और कराता है। अतः वह सभी षड्जीवनिकायिक जीवों के विषय में असंयत, अविरत और पापकर्म के प्रत्याख्यान से रहित होता है।

उपर्युक्त विवेचन प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य अठारह पापों पर ही घटा लेना चाहिये।

अतः भगवान् ने कहा कि असंयत, अविरत, पापकर्म के प्रत्याख्यान से रहित जीव जो स्वप्न में भी पापकर्म नहीं देखता है उसको भी पापकर्म का (अप्रत्याख्यान की अपेक्षा) वंध होता है।

·२ असंज्ञी दृष्टान्त :—

से किं तं असन्निदिट्ठन्ते ?

जे इमे असन्निणो पाणा, तंजहा—पुढवीकाइया जाव वनस्सइकाइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा, जेसिं नो तक्का इ वा सन्ना इ वा पन्ना इ वा मणा इ वा वई इ वा सयं वा करणाए, अन्नेहिं वा कारवेत्तए, करंतं वा समणुजाणित्तए, ते वि णं वाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्त-भूया मिच्छासंठिया निच्चं पसढ विउवाय चित्तदंडा, तंजहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। इच्चेव जाव णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए, सोयणयाए, जूरणयाए, तिप्पणयाए, पिट्टणयाए, परित्तप्पणयाए, ते दुक्खण-सोयण जाव परितप्पण-वह-बंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरिया भवंति।

इति खलु से असन्निणो वि सत्ता अहोनिसिं पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसिं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति। [एवं भूयवाई]।

सव्व जोणिया वि खलु सत्ता सन्निणो हुचा असन्निणो होंति, असन्निणो हुचा सन्निणो होंति। होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी, तत्थ से अविविचित्ता, अविधूणित्ता, असंमुच्छित्ता, अणणुतावित्ता असन्निकायाओ वा सन्निकाए संकमंति, सन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति। सन्निकायाओ वा सन्निकायं संकमंति, असन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति। जे एए सन्नि वा असन्नि वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढ-विउवाय-चित्तदंडा, तंजहा—पाणाइवाए जाव मिच्छा-दंसणसल्ले।

—सूय० श्रु २। अ ४। सू ४। पृ० १६८

अतः भगवान ने उनको असंयत, अविरत, पापकर्मों के प्रत्याख्यान से रहित, सक्रिय, असंवृत्त, एकान्तहिंसक, एकान्त-अज्ञानी, एकान्तसुप्त कहा है तथा वे बाल अज्ञानी अविचारित मन-वचन-काया के परिणाम वाले तथा स्वप्न में भी पापकर्म नहीं देखने वाले होते हुए भी पाप कर्म का बंध (प्रत्याख्यान के अभाव में) करते हैं।

(ज) क्या करने से जीव के पापकर्म का बंध नहीं होता :—

चोयए—'से किं कुव्वं, किं कारवं, कहं संजयविरयप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे भवइ ?'

आयरिय आह—'तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकायहेऊ पन्नत्ता, तंजहा—पुढवीकाइया जाव तसकाइया। से जहानामए मम अस्सायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उवद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणे वा हम्ममाणे वा तज्जिज्जमाणे वा तालिज्जमाणे वा जाव उवद्दविज्जमाणे वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदंति। एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाव ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे णिइए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेइए। एवं से भिक्खू विरए पाणाइवायाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ। XXX।'

एस खलु भगवया अक्खाय संजय-विरय-पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे, अकिरिए, संवुडे, एगंतपंडिए भवइ त्ति बेमि।

—सूय० श्रु २। अ ४। सू ५। पृ० १६८-६६

प्रवादी ने पूछा—क्या करने से, क्या कराने तथा कैसे जीव संयत, विरत होता है तथा पापकर्मों से प्रत्याख्यानी बनता है अर्थात् कर्म के बंध से बचता है ?

आचार्य ने कहा—भगवान् ने पृथ्वीकाय यावत् त्रसकाय रूप छः जीवनिकाय को पापकर्मबंध का हेतु कहा है।

यदि कोई मुझको दंड से, अस्थि से, मुष्टि से, पत्थर से, कंकड़ से असाता—दुःख उत्पन्न करे—ताड़ना यावत् उद्वेग उत्पन्न करे यावत् जीव-काया से जुदा करे यावत् रोम उखाड़ने मात्र जितना कष्ट दे उससे जितना दुःख और भय मुझे अनुभूत होता है उसी प्रकार यह जानना चाहिए कि सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों को मेरी तरह दंड यावत् कंकड से, ताड़ना करने से यावत् उद्वेग पैदा करने से यावत् जीव-काया से जुदा करने से यावत् रोम उखाड़ने मात्र की हिंसा से उनको दुःख-भय अनुभूत होता है।

ऐसा जान करके सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वों का हनन नहीं करना चाहिए यावत् उप-

(ख) अप्रत्याख्यान क्रिया और दृष्टान्त :

(क) मलयगिरि

अस्य चेयं पूर्वाचार्योपदर्शिता भावना 'इह संसार-अडवीए परिब्भमंतेहिं सव्वजीवेहिं तेसु तेसु ठाणेसु सरीराविहाइणो विप्पमुक्का तेहि य सत्थभूएहिं जया कस्सइ स्वतः परितापनादयो भवंति तया तस्सामिणो भवंतरगयस्सवि तत्रानिवृत्तत्वात् किरियासंभव इति, व्युत्सृष्टेषु तु न भवति निवृत्तत्वात्. एत्थ उदाहरणं—वसंतपुरे णयरे अजियसेणस्स रण्णो पडिचारगा दुवे कुलपुत्तगा, तत्थेगो समणसड्ढो इयरो मिच्छदिट्ठि, अण्णया रयणीए रण्णो निस्सरणं संभमतुरंताण तेसिं घोडगारूढाणं खग्गा पब्भट्ठा, सड्ढेण जणकोलाहलो भग्गिओ न लहइ, इयरेण हसियं—किम्मणं ण होहि ? सड्ढेण अहिगरणंति कट्टु वोसिरियं. इयरे च खग्गग्गाहिणो चंडिग्गहसाहसिएहिं लद्धा, गहिओ अण्णेहिं रायवल्लहो पलायमाणो वावाइओ, तओ आरक्खिएहिं गहिऊण रायसमीवं नीया, कहिओ वुत्तंतो, कुविओ राया, पुच्छियं चणेण—कस्स तुब्भे ? तेहिं कहियं—अणाहा, कल्लं चिय, कप्पडिया, एए तुम्ह खग्गा कहिं लद्धत्ति, पुच्छिएहिं कहियं पडिया इति, तओ सामरिसेण रण्णा भणियं—गवेसह तुरियं मम अणवद्धवेरिणं ईसरपुत्ताणं महापमत्ताणं केसिं इमे खग्गेत्ति ?, तओ तेहिं निउणं गवेसिऊण विण्णत्तं रण्णो—सामि ! गुणचंदबालचंदाणमिति, ततो रण्णा पिहं पिहं सद्दावेऊण भणिया—लेह नियखग्गे, एक्केणगहियं, पुच्छिओ रण्णा कहं ते पणट्ठंति ? तेण कहियं जहावित्तं, कीस न गविट्ठं ? भणइ—सामि ! तुम्ह पसाएण एद्दहमेत्तमवि गवेसामि ? सड्ढो नेच्छइ, रण्णा ! पुच्छिओ—कीस न गेण्हसि ? तेण भणियं—सामि ! अम्हाणमेस ठिई चेव नत्थि जमेवं गेण्हिज्जइ अहिगरणत्तणओ, परं संभमेण मग्गंतेण वि न लद्धंति वोसिरियं अतो न कप्पइ मे गिण्हिउं, तओ रण्णा पमायकारी अणुसासिओ, इयरो विमुक्को, एस दिट्ठंतो इमो य से अत्थोवणओ—

जहा सो पमायगत्भेग अवोसिरियदोसेग अवराहं पत्तो एवं जीवोवि जम्मंतरत्थं देहोवहाइ अवोसिरंतो अणुमयभावत्तो पावेइ दोसं ? श्रूयते च जातिस्मरणादिना विज्ञाय पूर्वदेहमतिमोहात् (केचित् सुरनदीं प्रत्यस्थिशकलानि नयन्तीति ।

— पण्ण० प २२ । सू १५८८ । टीका

पूर्वाचार्यों द्वारा वताई हुई भावना इस प्रकार है—इस संसाररूपी अटवी में परिभ्रमण करते हुए सभी जीवों ने स्थान-स्थान पर शरीर-आयुधादि अधिकरण छोड़े हैं और उन शस्त्रों द्वारा जिस किसी को स्वतः भी पीड़ा आदि होती है तो भवान्तर में गये हुए उन शरीर-आयुधादि के स्वामी को यदि वह उससे निवृत्त नहीं हुआ है तो क्रिया का होना संभव है। परन्तु यदि उनका त्याग करे तो क्रिया का होना संभव नहीं है क्योंकि वह उससे निवृत्त हो चुका है। उदाहरण की एक कथा है :—

वसन्तपुर नगर में अजितसेन राजा की सेवा करने वालों में दो कुलपुत्र थे। उनमें से एक श्रमणोपासक था और दूसरा मिथ्यादृष्टि था। किसी रात को राजा को वाहर जाना हुआ। जल्दी में घोड़े पर चढ़ते हुए श्रावक कुलपुत्र की तलवार नीचे पड़ गयी। श्रावक कुलपुत्र ने उसकी खोज की परन्तु मनुष्यों की भीड़ और कोलाहल में तलवार नहीं मिली। दूसरा कुलपुत्र हँसा कि क्या दूसरी तलवार नहीं मिल सकती।

शस्त्र को अधिकरण समझ कर श्रावक कुलपुत्र ने वोसरा दिया—परित्याग कर दिया। उस तलवार को कुछ लोगों ने उठा लिया। उन तलवार उठाने वालों ने राजा के एक प्रिय आदमी को पकड़ा था और जव वह भागने लगा तो उसको मार दिया। उसके वाद आरक्षक लोग उनको पकड़ कर राजा के पास ले गये और सारा वृत्तान्त कहा। राजा क्रोधित हो गया। उसने पूछा कि तुम कौन हो? उन्होंने कहा—"हम अनाथ हैं, एक समय हम कार्पटिक भिक्षुक थे।" "यह तलवार तुमको कहाँ मिली?" उन्होंने उत्तर में कहा—"पड़ी हुई थी।"

इसके वाद राजा ने क्रोधपूर्वक कहा कि जिनके साथ मेरा वैर नहीं है—ऐसे महाप्रमादी कुलपुत्रों की खोज करो और पता लगाओ कि यह तलवार किसकी है। इस पर राजपुरुषों ने अच्छी तरह खोज की और राजा को जनाया कि यह गुणचन्द्र और वालचन्द्र की तलवार है।

इसके वाद राजा ने दोनों को अलग-अलग बुलाया और कहा—"यह तुम्हारी तलवार लो"। एक कुलपुत्र ने तलवार ले ली। राजा ने पूछा "तुम्हारी तलवार कैसे खोई"। उसने जैसा हुआ था वैसा कहा। पूछा गया कि तुमने खोज क्यों नहीं की? उसने जवाव दिया—"आपकी हमारे पर अत्यन्त कृपा है अतः इस तलवार मात्र की खोज क्यों करूं?"।

मिथ्यात्वनिमित्त से जो क्रिया होती है वह मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

'१७'२ भेद—

मिच्छादंसणवत्तिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—ऊणाइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव तव्वइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—ऊनातिरिक्त मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी तथा तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी।

'१७'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

'१ ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी

ऊणाइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव' त्ति ऊनं—स्वप्रमाणाद्धीनमतिरिक्तं—ततोऽधिकमात्मादिवस्तु तद्विषयं मिथ्यादर्शनमूनातिरिक्तमिथ्यादर्शनं तदेव प्रत्ययो यस्याः सा ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्ययेति, तथाहि—कोऽपि मिथ्यादृष्टिरात्मानं शरीरव्यापकमपि अंगुष्ठपर्वमात्रं (यवमात्रं) श्यामाकतन्दुलमात्रं वेति हीनतया वेति तथाऽन्यः पञ्चधनुःशतिकं सर्वव्यापकं वेत्यधिकतयाऽभिमन्यते।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

आत्मादि वस्तुओं के प्रमाण से अधिक या कम मानने या कहने रूप जो मिथ्यादर्शन है उस मिथ्यादर्शन निमित्त से जो क्रिया होती है वह मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

यथा प्रमाण वात तो यह है कि आत्मा शरीरव्यापक है, फिर भी यदि कोई उसे अंगुष्ठपर्वमात्र, यवमात्र या श्यामाक जाति के चावल के कणमात्र छोटी कहे अथवा कोई पाँच सौ धनुष प्रमाण बड़ी कहे अथवा सर्वव्यापक कहे तो उसे जो क्रिया लगती है वह ऊनातिरिक्त मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है।

'२ तद्व्यतिरिक्त-मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी

'तव्वइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव' त्ति तस्माद्—ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनाद् व्यतिरिक्तं मिथ्यादर्शनं—नास्त्येवात्मेत्यादिमतरूपं प्रत्ययो यस्याः सा तथेति।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

उपर्युक्त ऊनातिरिक्त मिथ्यादर्शन से भिन्न मिथ्यादर्शन निमित्त से—यथा 'आत्मा नहीं है' इत्यादि मान्यता रूप मिथ्यादर्शन निमित्त से जो क्रिया होती है वह तद्व्यतिरिक्त-मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

नोट :—मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी का विवेचन आरम्भिकी क्रियापंचक (क्रमांक '६५) में भी देखो। (क्रमांक '४० तथा '६२) भी देखो।

(ख) 'काइय' त्ति चीयते इति कायः शरीरं, तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता कायिकी। भग० श ३ । उ ३ । प्र १ टीका

(ग) 'काइया' इत्यादि चीयते इति कायः शरीरं काये भवा कायेन निर्वृत्ता वा कायिकी। पण्ण० प २२ । सू १५६८ टीका

(घ) प्रदुष्टस्य मनोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया।

सर्व० अ ६ । सू ५ । पृ० ३२२ । ला २

(ङ) कृत्यनिमित्तः कायः, निमित्तवान् प्रदोषः। प्रदुष्टस्य मनोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया। राज० अ ६ । सू ५ । पृ० ५०९ । ला ३१

(च) तत्कार्यत्वात्सहेतुत्वात् क्रोधादेर्या मनोगतात्।
प्रदुष्टस्योद्यमो हन्तुं गदिता कायिकी क्रिया॥

— श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा ८९ । पृ० ४४५

काय सम्बन्धी या काय द्वारा की गई क्रिया। प्रदुष्ट काय शरीर के निमित्त से हुई अथवा शरीर के द्वारा हुई क्रिया कायिकी क्रिया कहलाती है।

·८२ भेद—

(क) काइया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा— अणुवरयकायकिरिया चेव दुप्पउत्तकायकिरिया चेव। ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

(ख) काइया णं भंते ! किरिया कइविहा पन्नत्ता ?

मंडिअपुत्ता ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा— अणुवरयकायकिरिया य, दुप्पउत्तकायकिरिया य। —भग० श ३ । उ ३ । प्र २ । पृ० ४५६

(ग) काइया णं भंते ! किरिया कइविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा— अनुवरयकाइया य दुप्पउत्तकाइया य।

— पण्ण० प २२ । सू १५६८ । पृ० ४७८

(घ) कायक्रिया द्विविधा, प्रदुष्टस्य मिथ्यादृष्टेरुद्यमो यः पराभिभवात्मको वाङ्मनोनिरपेक्षः सा तु परतः कायक्रिया, प्रमत्तसंयतस्यानेककर्तव्यतासु बहुप्रकारा दुष्प्रयोगकायक्रिया। —सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

कायिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—अनुपरतकायिकी तथा दुष्प्रयुक्तकायिकी।

·१८·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

·१ अणुवरयकायकिरिया

(क) 'अणुवरयकायकिरिया चेव' त्ति अनुपरतस्य—अविरतस्य सावद्यात् मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा कायक्रिया- उत्क्षेपादिलक्षणा कर्मबन्धनिबन्धनमनुपरत-कायक्रिया।
—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) 'अनुवरयकायकिरिया य' त्ति अनुपरतोऽविरतः, तस्य कायक्रिया—अनुपरतकायक्रिया, इयम्—अविरतस्य भवति।
—भग० श ३। उ ३। प्र २। टीका

(ग) उपरतो—देशतः सर्वतो वा सावद्ययोगाद्विरतः नोपरतोऽनुपरतः कुतश्चिदप्यनिवृत्त इत्यर्थः तस्य कायिकी अनुपरतकायिकी क्रियेति वर्त्तते, इयं प्रतिप्राणिनि वर्त्तते, इयमविरतस्य वेदितव्या, न देशविरतस्य सर्वविरतस्य वा।
—पण्ण० प २२। सू १५६८। टीका

देश से या सर्व से जो सावद्य योग—पापकारी प्रवृत्ति से निवृत्त नहीं हुआ है उसकी कायिकी क्रिया अनुपरतकायिकी क्रिया कहलाती है। यह क्रिया अविरति के समझनी चाहिये, लेकिन यह देशविरति या सर्वविरति के नहीं होती है।

·१८·३·२ दुप्पउत्तकायकिरिया

(क) 'दुप्पउत्तकायकिरिया चेव' त्ति दुष्प्रयुक्तस्य—दुष्टप्रयोगवतो दुष्प्रणिहितस्येन्द्रियाण्याश्रित्येष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् संवेगनिर्वेदगमनेन तथा अनिन्द्रियमाश्रित्याशुभमनःसंकल्पद्वारेणापवर्गमार्गं प्रति दुर्व्यवस्थितस्य प्रमत्तसंयतस्येत्यर्थः कायक्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रियेति।
—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) 'दुप्पउत्तकायकिरिया य' त्ति दुष्टं प्रयुक्तो दुष्प्रयुक्तः, स चासौ कायश्च दुष्प्रयुक्तकायः—तस्य क्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रिया अथवा दुष्टं प्रयुक्तं प्रयोगो यस्य स दुष्प्रयुक्तः, तस्य कायक्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रिया, इयं प्रमत्तसंयतस्यापि भवति, विरतिमतः प्रमादे सति कायदुष्टप्रयोगस्य सद्भावात्।—भग० श ३। उ ३। प्र २। टीका

(ग) दुष्टं प्रयुक्तं—प्रयोगः कायादीनां यस्य स दुष्प्रयुक्तस्तस्य कायिकी दुष्प्रयुक्त-कायिकी, इयं प्रमत्तसंयतस्यापि भवति, प्रमत्ते सति कायदुष्प्रयोगसम्भवात्।
—पण्ण० प २२। सू १५६८। टीका

जिनका कायादि व्यापार दुष्प्रयुक्त है; अथवा जिनकी इन्द्रियों के आश्रय से इष्ट-अनिष्ट विषय की प्राप्ति में किंचित् भी संवेग-निर्वेद की भावना हो उनकी कायिकी क्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रिया होती है। यह प्रमत्तसंयतों के भी होती है, क्योंकि प्रमत्त अवस्था में काया का दुष्प्रयोग—अशुभ व्यापार सम्भव है तथा ठाणांग टीकाकार के अनुसार अनि-

करणम् अनुष्ठानं बाह्यं वा वस्तु, इह च बाह्यं विवक्षितं खड्गादि, तत्र भवा आधिकरणिकीति। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) अधिक्रियते स्थाप्यते नरकादिष्वात्माऽनेनेति अधिकरणं अनुष्ठानविशेषो बाह्यं वा वस्तु चक्रखड्गादि तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता आधिकरणिकी।

—पण्ण० प २२ । सू १५६८ । टीका

(ग) अधिक्रियते येनात्मा दुर्गतिप्रस्थानं प्रति तदधिकरणं परोपघाति कूटगलपाशादिद्रव्यजातं तद्विषयाऽधिकरणक्रिया। —सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

(घ) हिंसोपकरणादानादाधिकरणिकी क्रिया।

—सर्व० अ ६ । सू ५ । ३२२ । ला २

—राज० अ ६ । सू ५ । पृ० ५०६ । ला ३१-३२

(ङ) हिंसोपकरणादानं तथाधिकरणक्रिया।

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा ६ । पृ० ४४५

जिसके द्वारा नरकादि गति में आत्म-स्थापन हो वह अधिकरण—क्रियाविशेष, अथवा खड्ग, चक्र आदि वस्तु, उनके निमित्त से हुई या उनके द्वारा हुई क्रिया अथवा अधिकरणों (हिंसा की साधन वस्तुओं) से होने वाली क्रिया आधिकरणिकी क्रिया कहलाती है।

·१६·२ भेद—

(क) अहिगरणिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—संजोयणाहिगरणिया चेव निव्वत्तणाहिगरणिया चेव। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

(ख) अहिगरणिया णं भंते ! किरिया कइविहा पन्नत्ता ?

मंडियपुत्ता ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—संजोयणाहिगरणकिरिया य, निव्वत्तणाहिगरणकिरिया य। —भग० श ३ । उ ३ । प्र ३ । पृ० ४५६

(ग) अहिगरणिया णं भंते ! किरिया कइविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—संजोयणाहिगरणिया य निव्वत्तणाहिगरणिया य। —पण्ण० प २२। सू १५६६। पृ० ४७८

(घ) सा (अहिगरणिया किरिया) द्विधा–निर्वर्तने संयोजने च।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १२

आधिकरणिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा संयोजनाधिकरणिकी तथा निर्वर्तनाधिकरणिकी।

·१६·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

·१ संयोजनाधिकरणिकी—

(क) 'संजोयणाहिगरणिया चेव' त्ति यत्पूर्वं निर्वर्तितयोः खड्गतन्मुष्ट्यादिकयोरर्थयोः संयोजनं क्रियते सा संयोजनाऽधिकरणिकी।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) 'संजोयणाहिगरणकिरिया य' त्ति संयोजनम्—हल-गर-विष-कूट-यन्त्राद्यङ्गानां पूर्वनिर्वर्तितानां मीलनम्—तदेव अधिकरणक्रिया संयोजनाधिकरणक्रिया।

—भग० श ३। उ ३। प्र ३। टीका

(ग) तत्र संयोजनं—पूर्वनिर्वर्त्तितानां हलगरविषकूटयन्त्राद्यङ्गानां मीलनं तदेव संसारहेतुत्वादाधिकरणिकी संयोजनाधिकरणिकी, इयं हलाद्यङ्गानि पूर्वनिर्वर्त्तितानि संयोजयितुर्भवति। —पण्ण० प २२। सू० १५६६। टीका

संयोजन अर्थात् पूर्व में बनाए हुए हलगर, कूट, यंत्रादि रखना अधिकरण है। संसार का हेतु होने के कारण—उसके निमित्त से, होनेवाली क्रिया संयोजनाधिकरणिकी क्रिया कहलाती है। यह क्रिया पूर्व में बनाए हुए हलादि के अवयव—जोड़ी तैयार करने वाले के होती है।

·१६·३·२ निर्वर्तनाधिकरणिकी—

(क) 'णिव्वत्तणाहिगरणिया चेव' त्ति यच्चादितस्तयोनिर्वर्तनं सा निर्वर्तनाधिकरणिकीति। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) 'निव्वत्तणाहिगरणकिरिया य' त्ति निर्वर्त्तनम्—असि-शक्ति-तोमरादीनां निष्पादनम्, तदेव अधिकरणक्रिया निर्वर्तनाधिकरणक्रिया।

—भग० श ३। उ ३। प्र ३। टीका

(ग) निर्वर्त्तनं - असिशक्तिकुन्ततोमरादीनां मूलतो निष्पादनं तदेवाधिकरणिकी निर्वर्त्तनाधिकरणिकी, पंचविधस्य वा शरीरस्य निष्पादनं निर्वर्त्तनाधिकरणिकी, देहस्यापि दुष्प्रयुक्तस्य संसारवृद्धिहेतुत्वात्।

—पण्ण० प २२। सू० १५६६। टीका

(ङ) क्रोधावेशात्प्रद्वेषो यः सा प्राद्वेषिकी क्रिया।

स्थाना० अ ६ । सू ५ । गा ८ । पृ० ४४५

प्रद्वेष—मत्सर, कर्मबन्ध का कारण जीव का अशुभ परिणाम विशेष— उसके निमित्त हुई अथवा उसके द्वारा की गई अथवा मत्सररूप क्रिया प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

'२०'२ भेद —

(क) पाओसिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवपाउसिया चेव अजीवपाउसिया चेव। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

(ख) पाओसिया णं भंते। किरिया कइविहा पन्नत्ता ? मंडियपुत्ता ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवपाओसिया य अजीवपाओसिया य।

—भग० श ३ । उ ३ । प्र ४ । पृ० ४५६

(ग) पाओसिया णं भंते ! किरिया कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! तिविहा पन्नत्ता, तंजहा जे णं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असुभं मणं पहारेइ (संपधारेइ), से त्तं पाओसिया किरिया। —पण्ण० प २२। सू १५७० । पृ० ४७८

(घ) प्राद्वेषिकी द्विविधा—जीवाजीवद्वैविध्यात्।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

प्राद्वेषिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—जीवप्राद्वेषिकी तथा अजीवप्राद्वेषिकी।

·२०·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ –

·१ जीवप्राद्वेषिकी

(क) जीवे प्रद्वेषाज्जीवप्राद्वेषिकी। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) 'जीवपाओसिया य' त्ति जीवस्य आत्मनः, परस्य, तदुभयरूपस्य उपरि प्रद्वेषाद् या क्रिया, प्रद्वेषकरणमेव वा। —भग० श ३ । उ ३ । प्र ४ । टीका

(ग) जीवप्राद्वेषिकी तावत् पुत्रकलत्रादिस्वपरजनविषया।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

जीव के अपने पर, दूसरे पर अथवा दोनों पर प्रद्वेष से ; या जीव के जीव के प्रति प्रद्वेष करने मात्र से होने वाली क्रिया जीव प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

·२ अजीवप्राद्वेषिकी

(क) अजीवे—पाषाणादौ स्खलितस्य प्रद्वेषादजीवप्राद्वेषिकीति।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) 'अजीवपाओसिया य' त्ति अजीवस्योपरि प्रद्वेषाद्या क्रिया, प्रद्वेषकरणमेव वा, इति। —भग० श ३ । उ ३ । प्र ४ । टीका

(ग) अजीवप्राद्वेषिकी तु क्रोधोत्पत्तिनिमित्तभूतकण्टकशर्करादिविषया।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

निर्जीव पदार्थ पर जो प्रद्वेष भाव उत्पन्न हो वह अजीव प्राद्वेषिकी क्रिया, यथा पत्थर से ठोकर खाकर असावधानी के कारण गिरने से पत्थर पर जो प्रद्वेषभाव उत्पन्न होता है।

·२१ पारितापनिकी क्रिया

·२१·१ परिभाषा/ अर्थ

(क) परितापनं—ताडनादिदुःखविशेषलक्षणं तेन निर्वृत्ता पारितापनिकी।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) 'सहत्थपारियावणिया य' त्ति स्वहस्तेन स्वस्य, परस्य, तदुभयस्य वा परितापनाद् असातोदीरणाद् या क्रिया, परितापनाकरणमेव वा सा स्वहस्तपारितापनिकी।

—भग० श ३। उ ३। प्र ५। टीका

(ग) येन प्रकारेण कश्चित् कुतश्चित् हेतोरविवेकत आत्मन एवासातां—दुःखरूपां वेदनामुत्पादयति। —पण्ण० प २२। सू १५७१। टीका

(घ) तत्र स्वदेहपरितापकारिणी पुत्रकलत्रादिवियोगदुःखभाराद्यतिपीड़ितस्यात्मनस्ताड़नशिरस्फोटनादिलक्षणा। —सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १२

अपने हाथ से अपने को, दूसरों को अथवा दोनों को दुःख-कष्ट अथवा पीड़ा पहुँचाना स्वहस्तपारितापनिकी क्रिया है। सिद्धसेनगणि के अनुसार स्त्री-पुत्रादि स्वजन के वियोग-जनित शोक से संतप्त होकर अपनी छाती पीटने अथवा शिर फोड़ने आदि की क्रिया स्वहस्तपारितापनिकी क्रिया कहलाती है।

२ परहस्तपारितापनिकी—

(क) परहस्तेन तथैव (स्वदेहस्य परदेहस्य वा परितापनं कुर्वतः) च तत्कारयतः परहस्तपारितापनिकी। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) एवं परहस्तपारितापनिकी अपि (परहस्तेन स्वस्य, परस्य, तदुभयस्य वा परितापनाद् असातोदीरणाद् या क्रिया, परितापनाकरणमेव वा सा परहस्तपारितापनिकी) —भग० श ३। उ ३। प्र ५। टीका

(ग) परपरितापकारिणी पुत्रशिष्यकलत्रादिताड़नम्।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १२

जिस क्रिया द्वारा दूसरे के हाथ से अपने को, दूसरे को अथवा दोनों को परिताप—दुःख-कष्ट पहुँचे अथवा जो क्रिया उनके दुःख-कष्ट आदि का कारण बने वह परहस्तपारितापनिकी क्रिया कहलाती है। सिद्धसेनगणि के अनुसार स्त्री-पुत्र-शिष्यादि को मारने की क्रिया परहस्तपारितापनिकी क्रिया कहलाती है।

·२२ प्राणातिपातिकी क्रिया

·२२·१ परिभाषा / अर्थ—

[प्राणातिपातिकी क्रिया के दो रूप हैं, एक है कायिकी क्रियापंचक के अंगरूप तथा दूसरा है अठारह पापस्थान के अंगरूप। कायिकी क्रियापंचक वाली प्राणातिपातिकी क्रिया जीव—काया के जुदा होने से अर्थात् जीव की मृत्यु होने से ही होती है, जैसे किसी जीव पर खड्गादि का प्रहार किया गया लेकिन उससे उस जीव की प्राणहानि नहीं हुई

टीका—'पाणाइवायकिरिया' इति प्राणा इन्द्रियादयस्तेषामतिपातो विनाश-स्तद्विषया प्राणातिपात एव वा क्रिया प्राणातिपातक्रिया।

(ग) आयुरिन्द्रियबलोच्छ्वासनिःश्वासप्राणानां वियोगकरणात् प्राणाति-पातिकी क्रिया। —सर्व० अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला ३४

(घ) आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकरणात् प्राणातिपातिकी (क्रिया)।

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५०६। ला ३२-३३

जिससे जीव के प्राण—इन्द्रियादि, आयु, बल, श्वास-निःश्वास का अतिपात—नाश हो वह प्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती है।

·२२·२ भेद—

(क) पाणाइवायकिरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सहत्थपाणाइवायकिरिया चेव, परहत्थपाणाइवायकिरिया चेव। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

(ख) पाणाइवायकिरिया णं भंते! किरिया कइविहा पन्नत्ता? मंडियपुत्ता! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सहत्थपाणाइवायकिरिया य, परहत्थपाणाइवायकिरिया य।

—भग० श ३। उ ३। प्र ६। पृ० ४५६

(ग) पाणाइवायकिरिया णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—जेणं अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा जीवियाओ ववरोवेइ, से त्तं पाणाइवायकिरिया। —पण्ण० पृ २२ । सू १५७२ । पृ० ४७८

(घ) प्राणातिपातक्रियाऽपि द्विविधा—स्वपरव्यापादनभेदात्।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

प्राणातिपातिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा स्वहस्तप्राणातिपातिकी तथा परहस्तप्राणातिपातिकी। अन्य अपेक्षा से स्व, पर व दोनों के प्राण-हनन के कारण इसके तीन भेद होते हैं।

'२२'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ स्वहस्तप्राणातिपातिकी क्रिया—

(क) स्वहस्तेन स्वप्राणान् निर्वेदादिना परप्राणान् वा क्रोधादिना अतिपातयतः स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) स्वप्राणातिपातजननी गिरिशिखरप्रपातज्वलनप्रवेशजलप्रवेशास्त्रपाटनादिका। —सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

निराश होकर अथवा क्रोधावेश में गिरिशिखर से गिरकर अग्नि अथवा जल में प्रवेश कर अथवा शस्त्रों के आघात से अपने हाथों अपने अथवा दूसरों के हाथों से प्राण-हनन करना स्वहस्तप्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती है।

'२ परहस्तप्राणातिपातिकी क्रिया—

(क) परहस्तेनापि तथैव (स्वप्राणान् निर्वेदादिना परप्राणान् वा क्रोधादिना अतिपातयतः) परहस्तप्राणातिपातक्रिया। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) परप्राणातिपातजननी तु मोहलोभक्रोधाविष्टा प्राणव्यपरोपणलक्षणा क्रियते। —सिद्ध अ ६ । सू ६ । पृ० १२

लोभ, मोह, क्रोध अथवा निर्वेद के वशीभूत होकर दूसरे के हाथ से अपने अथवा दूसरे के प्राण का हनन करना परहस्तप्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती है।

'२२'४ प्राणातिपातक्रिया और जीवदंडक

(क) अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ? जाव निव्वाघाएणं छद्दिसिंवाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं। सा भंते ! किं कडा कज्जइ अकडा कज्जइ ? गोयमा ! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ। सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जइ, परकडा कज्जइ, तदुभयकडा कज्जइ ? गोयमा ! अत्तकडा कज्जइ, णो परकडा

·२२ ५ प्राणतिपात क्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा। एवं णेरइए जाव निरंतरं वेमाणिए।

जीवा णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविह-बंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि। नेरइया णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा. अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य, अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य।

एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा।

पुढविआउतेउवाउवणस्सइकाइया य एए सव्वे वि जहा ओहिया जीवा, अवसेसा जहा नेरइया एवं एए जीवेगिंदियवज्जा तिण्णि तिण्णि भंगा सव्वत्थ भाणियव्व त्ति। —पण्ण० प २२। सू १५८१-४। पृ० ४७९-८०

जीव प्राणातिपात (क्रिया) द्वारा सात कर्मप्रकृति बांधता है या आठ कर्मप्रकृति बांधता है। इसी प्रकार नारकी से लेकर वैमानिक तक (एकवचन की अपेक्षा) जानना। जिस समय आयुष कर्म का बंधन नहीं होता तब सात कर्मप्रकृति का बंधन होता है तथा जब आयुष कर्म का भी बंधन होता है तब आठ कर्मप्रकृति का बंधन होता है।

जीवों की अपेक्षा अनेक जीव प्राणातिपात (क्रिया) द्वारा सात कर्मप्रकृति बांधते हैं अनेक जीव आठ कर्मप्रकृति बांधते हैं।

नारकियों की अपेक्षा—(१)—सर्वनारकी जीव सात कर्मप्रकृति बांधते हैं या (२) कोई एक आठ कर्मप्रकृति बांधता है तथा शेष सब सात कर्मप्रकृति बांधते हैं, (३) या अनेक नारकी सात कर्मप्रकृति बांधते हैं तथा अनेक आठ कर्मप्रकृति बाँधते हैं।

नारकियों की तरह असुरकुमारों से यावत् स्तनितकुमारों तक जानना।

एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में औघिक जीवों की तरह जानना।

अवशेष दंडक के जीवों को बहुवचन की अपेक्षा नारकियों की तरह जानना। जीव और एकेन्द्रिय जीवों को बाद देकर सभी के तीन-तीन भंग विकल्प जानना। दंडक अर्थात् (१) सभी सात कर्मप्रकृति बांधते हैं, (२) या कोई एक आठ कर्मप्रकृति बांधता है तथा शेष सब सात कर्मप्रकृति बांधते हैं, (३) या अनेक सात तथा अनेक आठ कर्मप्रकृति बांधते हैं।

'२३ दृष्टिका क्रिया

'२३'१ परिभाषा / अर्थ

(क) 'दिट्ठिया चेव' त्ति दृष्टेर्जाता दृष्टिजा अथवा दृष्टं दर्शनं वस्तु वा निमित्ततया यस्यामस्ति सा दृष्टिका दर्शनार्थं या गतिक्रिया, दर्शनाद्वा यत्कर्मोदेति सा दृष्टिजा दृष्टिका वा। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) रागार्द्रीकृतत्वात् प्रमादिनः रमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया।

—सर्व० अ ६ । सू ५ । पृ० ३२३ । ला १५

—राज० अ ६ । सू ५ । पृ० ५०९ । ला ३१-३२

(ग) रागार्द्रस्य प्रमत्तस्य मुहुरालोकनाशयः स्याद्दर्शनक्रिया।

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । श्लो १२ । पृ० ४४५

दृष्टि से उत्पन्न 'दृष्टिजा' अथवा वस्तु को देखने के निमित्त से जो क्रिया होती है वह दृष्टिका—दर्शन के लिये जो गति की जाय, दर्शन से या दर्शन के लिये जो क्रिया होती है वह दृष्टिजा अथवा दृष्टिका।

'२३'२ भेद

(क) दिट्ठिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवदिट्ठिया चेव अजीवदिट्ठिया चेव। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

(ख) दर्शनक्रिया द्विधा जीवाजीवविषयत्वात्।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

दृष्टिका क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवदृष्टिका तथा अजीवदृष्टिका।

'२३'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ जीवदृष्टिका क्रिया—

(क) 'जीवदिट्ठिया चेव' त्ति या अश्वादिदर्शनार्थं गच्छतः (या सा जीवदृष्टिकेति)। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) तत्र प्रमादिनो नृपनिर्याणप्रवेशस्कन्धावारसन्निवेशनटनर्तकमल्लमेषवृषयुद्धादिष्वालोकनादरो यः सा जीवविषया दृशिक्रिया।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

अश्वादि सजीव प्राणियों को देखने के लिए जाने की क्रिया जीवदृष्टिका क्रिया होती है।

सिद्धसेनगणि के अनुसार राजा के राजमहल से बाहर निकलते अथवा उसमें प्रवेश करते समय उसके निकट नट, नर्तक, मल्ल, मेष, वृष आदि के युद्ध वगैरह को देखने की

तीव्र इच्छा अथवा चेष्टा करना जीव सम्बन्धी दृष्टिका अर्थात् जीवदृष्टिका क्रिया कहलाती है।

·२ अजीवदृष्टिका क्रिया—

(क) 'अजीवदिट्ठिया चेव' त्ति अजीवानां चित्रकर्मादीनां दर्शनार्थं गच्छतो या सा अजीवदृष्टिकेति। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) देवकुलसभाप्रपोदकाशपत्रपुस्तकाद्यालोकनलक्षणा रागार्द्रचेतसोऽजीवविषया दर्शनक्रिया। —सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

अजीव पदार्थों, यथा—चित्रकर्म आदि को देखने के लिये जाने की क्रिया को अजीव-दृष्टिका क्रिया कहते हैं।

·२४ पृष्टिका / स्पृष्टिका क्रिया

·२४·१ परिभाषा / अर्थ

(क) 'पुट्ठिया चेव' त्ति पृष्टिः—पृच्छा ततो जाता पृष्टिजा प्रश्नजनितो व्यापारः, अथवा पृष्टं—प्रश्नः वस्तु वा तदस्ति कारणत्वेन यस्यां सा पृष्टिकेति, अथवा स्पृष्टिः स्पर्शनं ततो जाता स्पृष्टिजा, तथैव स्पृष्टिकाऽपीति।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) प्रमादवशात् स्पृष्टव्यसंचेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया।

—सर्व० अ० ६ । सू ५ । पृ० ३२२ । ला ५-६

—राज० अ ६ । सू ५ । पृ० ५०६ । ला ३५

(ग) स्पर्शो स्पृष्टधीः स्पर्शनक्रिया।

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा १२ । पृ० ४४५

ठाणांग टीकाकार ने 'पुट्ठिया' के पृष्टि तथा स्पृष्टि की दृष्टि से पृष्टिजा, पृष्टिका, स्पृष्टिजा तथा स्पृष्टिका ये चार अर्थ ग्रहण किये हैं। पुट्ठिया अर्थात् प्रश्न से उत्पन्न होनेवाली क्रिया अथवा प्रश्न के निमित्त से होनेवाली क्रिया पृष्टिजा—पृष्टिका।

पुट्ठिया अर्थात् स्पर्श से उत्पन्न होने वाली क्रिया अथवा स्पर्श के निमित्त से होने वाली क्रिया स्पृष्टिजा—स्पृष्टिका।

·२४·२ भेद

(क) एवं पुट्ठियावि (पुट्ठिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवपुट्ठिया चेव अजीवपुट्ठिया चेव)। —ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

(ख) स्पर्शनक्रिया द्विविधा—जीवाजीवभेदात्।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

पृष्टिका / स्पृष्टिका क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवपृष्टिका / जीवस्पृष्टिका तथा अजीवपृष्टिका / अजीवस्पृष्टिका।

·२४·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

·१ जीवपृष्टिका/स्पृष्टिका—

(क) जीवं ××× रागद्वेषाभ्यां पृच्छतः स्पृशतो वा या सा जीवपृष्टिका / जीवस्पृष्टिका वा। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) तत्र जीवस्पर्शनक्रिया योषित्पुरुषनपुंसकाङ्गस्पर्शनलक्षणा रागद्वेषमोह-भाजः। —सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १२

राग-द्वेष तथा मोह के वशीभूत होकर जीव अर्थात् स्त्री-पुरुष-नपुंसकों के अंगों का स्पर्श करना अथवा उनसे प्रश्न करना जीवपृष्टिका / जीवस्पृष्टिका क्रिया कहलाती है।

·२ अजीवपृष्टिका / स्पृष्टिका—

(क) अजीवं रागद्वेषाभ्यां पृच्छतः स्पृशतो वा या सा ××× अजीवपृष्टिका अजीवस्पृष्टिका वेति। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(२) अजीवस्पर्शनक्रिया मृगरोमकुतपपट्टशाटकनील्युपधानादि विषया। —सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १२

राग-द्वेषवश पशुओं के रोम से बने हुए कम्बल तथा अन्य वस्त्र, यथा पट्ट, शाटक, नीली और तकिया आदि के स्पर्श से होनेवाली क्रिया अजीवस्पृष्टिका क्रिया कहलाती है।

·२५ प्रातीत्यिकी क्रिया

·२५·१ परिभाषा / अर्थ—

(क) 'पाडुच्चिया चेव' त्ति बाह्यं वस्तु प्रतीत्य—आश्रित्य भवा प्रातीत्यिकी। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) प्रत्ययक्रिया तु यदपूर्वस्य पापादानकारिणोऽधिकरणस्योत्प्रेक्ष्य स्वस्वबुद्ध्या निष्पादनम्। —सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १२

(ग) अपूर्वाधिकरणोत्पादनात्प्रात्ययिकी क्रिया। —सर्व० अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला ६

(घ) ननु इन्द्रियग्रहणादेव सिद्धेर्दर्शनस्पर्शनग्रहणमनर्थकमिति; नैष दोषः; पूर्वत्रेन्द्रियविज्ञानग्रहणम्, इह तत्पूर्वपरिस्पन्दग्रहणम्। अपूर्वाधिकरणोत्पादनात् प्रात्ययिकी क्रिया। —राज० अ ६। सू ५। पृ० ५१०। ला १-२

(ङ) अपूर्वप्राणिघातार्थोपकरणप्रवर्तनम् ।

क्रिया प्रात्ययिकी ज्ञेया हिंसा हेतुस्तथा परा ॥

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा १४ । पृ० ४४५

बाह्य वस्तु के आश्रय से होने वाली क्रिया प्रातीत्यिकी क्रिया होती है। नये-नये पापादानकारी अधिकरणों के उत्पन्न करने से उनके द्वारा प्रातीत्यिकी—प्रात्ययिकी क्रिया होती है।

'२५'२ भेद

पाडुच्चिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवपाडुच्चिया चेव अजीवपाडुच्चिया चेव।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ०१८६

प्रातीत्यिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—जीवप्रातीत्यिकी तथा अजीवप्रातीत्यिकी।

'२५'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ जीव प्रातीत्यिकी—

'जीवपाडुच्चिया चेव' त्ति जीवं प्रतीत्य यः कर्मबन्धः सा।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

अन्य जीव के आश्रय से होने वाली क्रिया जीवप्रातीत्यिकी।

'२ अजीवप्रातीत्यिकी—

'अजीवपाडुच्चिया चेव' त्ति अजीवं प्रतीत्य यो रागद्वेषोद्भवस्तज्जो वा बन्धः सा अजीवप्रातीत्यिकी।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

अजीव के आश्रय से उत्पन्न रागद्वेष से होने वाली क्रिया अजीवप्रातीत्यिकी क्रिया होती है।

'२६ सामन्तोपनिपातिकी क्रिया

'२६'१ परिभाषा / अर्थ

(क) 'सामन्तोवणिवाइया चेव' त्ति समन्तात्—सर्वत उपनिपातो—जनमीलकस्तस्मिन् भवा सामन्तोपनिपातिकी।

—ठाण स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) समन्तानुपातक्रिया स्त्री-पुरुषनपुंसकपशुसम्पातदेशे उपनीय वस्तुत्यागः।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १२

(ग) स्त्रीपुरुषपशुसंपातिदेशे अन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया।

—सर्व० अ ६ । सू ५ । पृ० ३२२ । ला ६-७

राज० अ ६ । सू ५ । पृ० ५१० । ला २-३

(घ) स्त्र्यादिसंपातिदेशांतर्मलोत्सर्गः (देशांऽतर्मलोत्सर्गः ?) प्रमादिनः।
शक्तस्य यः क्रियेष्टेह सा समन्तानुपातिकी ॥

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा १५ । पृ० ४४८

चारों तरफ से एकत्र जन-समुदाय में होने वाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है।

वार्तिककारों (राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थसिद्ध, सर्वार्थसिद्ध) के अनुसार स्त्री-पुरुष से भरे—जनाकीर्ण स्थान में मलोत्सर्ग करने से प्रमादियों को लगनेवाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है।

'२६'२ भेद

एवं सामन्तोवणिवाइयावि (सामन्तोवणिवाइया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा जीवसामन्तोवणिवाइया चेव अजीवसामन्तोवणिवाइया चेव)।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

सामन्तोपनिपातिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवसामन्तोपनिपातिकी तथा अजीवसामन्तोपनिपातिकी।

'२६'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ जीवसामन्तोपनिपातिकी—

कस्यापि षण्डो रूपवानस्ति तं च जनो यथा-यथा प्रलोकयति प्रशंसयति च तथा तथा तत्स्वामी हृष्यतीति जीवसामन्तोपनिपातिकी।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

यदि किसी का कोई पशु सुन्दर हो तथा जनता उसकी जैसे-जैसे प्रशंसा करे उस प्रशंसा को सुन कर उस पशु का स्वामी वैसे-वैसे यदि हर्षित होता है इस निमित्त से उस पशु-स्वामी को जो क्रिया होती है वह जीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहलाती है।

'२ अजीवसामन्तोपनिपातिकी—

रथादौ तथैव हृष्यतोऽजीवसामन्तोपनिपातिकीति।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

यदि किसी के रथादि सुन्दर हो तथा जनता उनकी जैसे-जैसे प्रशंसा करे उस प्रशंसा को सुनकर उन रथादि वस्तुओं का स्वामी वैसे-वैसे हर्षित होता है। इस निमित्त से उस रथादि के स्वामी को जो क्रिया होती है वह अजीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहलाती है।

'२७ स्वाहस्तिकी क्रिया

'२७'१ परिभाषा / अर्थ

(क) 'साहत्थिया चेव' त्ति स्वहस्तेन निर्वृत्ता स्वाहस्तिकी।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) स्वहस्तक्रिया अभिमानारूपितचेतसाऽन्यपुरुषप्रयत्न-निर्वृत्या या स्वहस्तेन क्रियते।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १३

(ग) यां परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया।

—सर्व० अ ६ । सू ५ । पृ ३२२ । ला ८

—राज० अ ६ । सू ५ । पृ० ५१० । ला ५-६

(घ) परनिर्वर्त्यकार्यस्य स्वयं करणमत्र यत्।
सा स्वहस्तक्रियावद्यप्रधाना धीमतां मता॥

—श्लोवा अ ६ । सू ५ । गा १७ । पृ० ४४५

क्रोध, अभिमान अथवा रुष्ट होने के कारण दूसरों को काम से हटा स्वयं अपने हाथों से काम करने से जो क्रिया लगती है वह स्वाहस्तिकी क्रिया कहलाती है।

'२७'२ भेद

साहत्थिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवसाहत्थिया चेव अजीव-साहत्थिया चेव।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

स्वाहस्तिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवस्वाहस्तिकी तथा अजीव-स्वाहस्तिकी।

'२७'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ जीवस्वाहस्तिकी—

यत् स्वहस्तगृहीतेन जीवेन जीवं मारयति सा जीवस्वाहस्तिकी ××× अथवा स्वहस्तेन जीवं ताडयतः एका।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

जहाँ अपने हाथ में धारण किये हुए जीव द्वारा किसी जीव को मारा जाय अथवा अपने हाथ से किसी जीव को मारा जाय तो उस निमित्त से हुई क्रिया जीवस्वाहस्तिकी क्रिया होती है।

'२ अजीवस्वाहस्तिकी—

यच्च स्वहस्तगृहीतेनैवाजीवेन खड्गादिना जीवं मारयति सा अजीवस्वाहस्तिकी ××× स्वहस्तेन ××× अजीवं ताडयतः अन्येति।

—ठाण० स्था । २ । उ १ । सू ६० । टीका

(घ) म्यादिसंपातिदेशांतर्मलोत्सर्गः (देशांऽतर्मलोत्सर्गः ?) प्रमादिनः ।
शक्तस्य यः क्रियेष्टेह सा समन्तानुपातिकी ॥

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा १५ । पृ० ४४५

चारों तरफ से एकत्र जन-समुदाय में होने वाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है।

वार्तिककारों (राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थसिद्ध, सर्वार्थसिद्ध) के अनुसार स्त्री-पुरुष से भरे—जनाकीर्ण स्थान में मलोत्सर्ग करने से प्रमादियों को लगनेवाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है ।

·२६·२ भेद

एवं सामन्तोवणिवाइयावि (सामन्तोवणिवाइया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा जीवसामन्तोवणिवाइया चेव अजीवसामन्तोवणिवाइया चेव) ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

सामन्तोपनिपातिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवसामन्तोपनिपातिकी तथा अजीवसामन्तोपनिपातिकी ।

·२६·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

·१ जीवसामन्तोपनिपातिकी—

कस्यापि षण्डो रूपवानस्ति तं च जनो यथा-यथा प्रलोकयति प्रशंसयति च तथा तथा तत्स्वामी हृष्यतीति जीवसामन्तोपनिपातिकी ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

यदि किसी का कोई पशु सुन्दर हो तथा जनता उसकी जैसे-जैसे प्रशंसा करे उस प्रशंसा को सुन कर उस पशु का स्वामी वैसे-वैसे यदि हर्षित होता है इस निमित्त से उस पशु-स्वामी को जो क्रिया होती है वह जीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहलाती है ।

·२ अजीवसामन्तोपनिपातिकी—

रथादौ तथैव हृष्यतोऽजीवसामन्तोपनिपातिकीति ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

यदि किसी के रथादि सुन्दर हो तथा जनता उनकी जैसे-जैसे प्रशंसा करे उस प्रशंसा को सुनकर उन रथादि वस्तुओं का स्वामी वैसे-वैसे हर्षित होता है । इस निमित्त से उस रथादि के स्वामी को जो क्रिया होती है वह अजीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहलाती है।

·२७ स्वाहस्तिकी क्रिया

·२७·१ परिभाषा / अर्थ

(क) 'साहत्थिया चेव' त्ति स्वहस्तेन निर्वृत्ता स्वाहस्तिकी।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) स्वहस्तक्रिया अभिमानारूपितचेतसाऽन्यपुरुषप्रयत्न-निर्वृत्या या स्वहस्तेन क्रियते।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

(क) यां परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया।

—सर्व० अ ६। सू ५। पृ ३२२। ला ८

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५१०। ला ५-६

(घ) परनिर्वर्त्यकार्यस्य स्वयं करणमत्र यत्।
सा स्वहस्तक्रियावद्यप्रधाना धीमतां मता॥

—श्लोवा अ ६। सू ५। गा १७। पृ० ४४५

क्रोध, अभिमान अथवा रुष्ट होने के कारण दूसरों को काम से हटा स्वयं अपने हाथों से काम करने से जो क्रिया लगती है वह स्वाहस्तिकी क्रिया कहलाती है।

·२७·२ भेद

साहत्थिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवसाहत्थिया चेव अजीव-साहत्थिया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

स्वाहस्तिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवस्वाहस्तिकी तथा अजीव-स्वाहस्तिकी।

·२७·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

·१ जीवस्वाहस्तिकी—

यत् स्वहस्तगृहीतेन जीवेन जीवं मारयति सा जीवस्वाहस्तिकी ××× अथवा स्वहस्तेन जीवं ताडयतः एका।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

जहाँ अपने हाथ में धारण किये हुए जीव द्वारा किसी जीव को मारा जाय अथवा अपने हाथ से किसी जीव को मारा जाय तो उस निमित्त से हुई क्रिया जीवस्वाहस्तिकी क्रिया होती है।

·२ अजीवस्वाहस्तिकी—

यच्च स्वहस्तगृहीतेनैवाजीवेन खङ्गादिना जीवं मारयति सा अजीवस्वाहस्तिकी ××× स्वहस्तेन ××× अजीवं ताडयतः अन्येति।

—ठाण० स्था। २। उ १। सू ६०। टीका

(घ) स्त्र्यादिसंपातिदेशांतर्मलोत्सर्गः (देशेऽन्तर्मलोत्सर्गः ?) प्रमादिनः ।
शक्तस्य यः क्रियेष्टेह सा समन्तानुपातिकी ॥

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा १५ । पृ० ४४८

चारों तरफ से एकत्र जन-समुदाय में होने वाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है।

वार्तिककारों (राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थसिद्ध, सर्वार्थसिद्ध) के अनुसार स्त्री-पुरुष से भरे—जनाकीर्ण स्थान में मलोत्सर्ग करने से प्रमादियों को लगनेवाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है ।

'२६'२ भेद

एवं सामन्तोवणिवाइयावि (सामन्तोवणिवाइया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा जीवसामन्तोवणिवाइया चेव अजीवसामन्तोवणिवाइया चेव)।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

सामन्तोपनिपातिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवसामन्तोपनिपातिकी तथा अजीवसामन्तोपनिपातिकी ।

'२६'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ जीवसामन्तोपनिपातिकी—

कस्यापि षण्डो रूपवानस्ति तं च जनो यथा यथा प्रलोकयति प्रशंसयति च तथा तथा तत्स्वामी हृष्यतीति जीवसामन्तोपनिपातिकी ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

यदि किसी का कोई पशु सुन्दर हो तथा जनता उसकी जैसे-जैसे प्रशंसा करे उस प्रशंसा को सुन कर उस पशु का स्वामी वैसे-वैसे यदि हर्षित होता है इस निमित्त से उस पशु-स्वामी को जो क्रिया होती है वह जीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहलाती है ।

'२ अजीवसामन्तोपनिपातिकी—

रथादौ तथैव हृष्यतोऽजीवसामन्तोपनिपातिकीति ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

यदि किसी के रथादि सुन्दर हो तथा जनता उनकी जैसे-जैसे प्रशंसा करे उस प्रशंसा को सुनकर उन रथादि वस्तुओं का स्वामी वैसे-वैसे हर्षित होता है। इस निमित्त से उस रथादि के स्वामी को जो क्रिया होती है वह अजीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहलाती है।

'२७ स्वाहस्तिकी क्रिया

'२७'१ परिभाषा / अर्थ

(क) 'साहत्थिया चेव' त्ति स्वहस्तेन निर्वृत्ता स्वाहस्तिकी ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

(ख) स्वहस्तक्रिया अभिमानारूपितचेतसाऽन्यपुरुषप्रयत्न-निर्वृत्या या स्वहस्तेन क्रियते ।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १३

(क) यां परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया ।

—सर्व० अ ६ । सू ५ । पृ ३२२ । ला ८

—राज० अ ६ । सू ५ । पृ० ५१० । ला ५-६

(घ) परनिर्वर्त्यकार्यस्य स्वयं करणमत्र यत् ।
सा स्वहस्तक्रियावद्यप्रधाना धीमतां मता ॥

—श्लोवा अ ६ । सू ५ । गा १७ । पृ० ४४५

क्रोध, अभिमान अथवा रुष्ट होने के कारण दूसरों को काम से हटा स्वयं अपने हाथों से काम करने से जो क्रिया लगती है वह स्वाहस्तिकी क्रिया कहलाती है ।

'२७'२ भेद

साहत्थिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीवसाहत्थिया चेव अजीव-साहत्थिया चेव ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

स्वाहस्तिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवस्वाहस्तिकी तथा अजीव-स्वाहस्तिकी ।

'२७'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

१' जीवस्वाहस्तिकी—

यत् स्वहस्तगृहीतेन जीवेन जीवं मारयति सा जीवस्वाहस्तिकी ××× अथवा स्वहस्तेन जीवं ताडयतः एका ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

जहाँ अपने हाथ में धारण किये हुए जीव द्वारा किसी जीव को मारा जाय अथवा अपने हाथ से किसी जीव को मारा जाय तो उस निमित्त से हुई क्रिया जीवस्वाहस्तिकी क्रिया होती है ।

'२ अजीवस्वाहस्तिकी—

यच्च स्वहस्तगृहीतेनैवाजीवेन खड्गादिना जीवं मारयति सा अजीवस्वाहस्तिकी ××× स्वहस्तेन ××× अजीवं ताडयतः अन्येति ।

—ठाण० स्था । २ । उ १ । सू ६० । टीका

(घ) स्त्र्यादिसंपातिदेशांतर्मलोत्सर्गः (देशेऽतर्मलोत्सर्गः ?) प्रमादिनः ।
शक्तस्य यः क्रियेष्टेह सा समन्तानुपातिकी ॥

—श्लोवा० अ ६ । सू ५ । गा १५ । पृ० ४४७

चारों तरफ से एकत्र जन-समुदाय में होने वाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है।

वार्तिककारों (राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थसिद्ध, सर्वार्थसिद्ध) के अनुसार स्त्री-पुरुष से भरे—जनाकीर्ण स्थान में मलोत्सर्ग करने से प्रमादियों को लगनेवाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है।

'२६'२ भेद

एवं सामन्तोवणिवाइयावि (सामन्तोवणिवाइया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा जीवसामन्तोवणिवाइया चेव अजीवसामन्तोवणिवाइया चेव)।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । पृ० १८६

सामन्तोपनिपातिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीवसामन्तोपनिपातिकी तथा अजीवसामन्तोपनिपातिकी।

'२६'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ जीवसामन्तोपनिपातिकी—

कस्यापि पण्डो रूपवानस्ति तं च जनो यथा-यथा प्रलोकयति प्रशंसयति च तथा तथा तत्स्वामी हृष्यतीति जीवसामन्तोपनिपातिकी।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

यदि किसी का कोई पशु सुन्दर हो तथा जनता उसकी जैसे-जैसे प्रशंसा करे उस प्रशंसा को सुन कर उस पशु का स्वामी वैसे-वैसे यदि हर्षित होता है इस निमित्त से उस पशु-स्वामी को जो क्रिया होती है वह जीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहलाती है।

'२ अजीवसामन्तोपनिपातिकी—

रथादौ तथैव हृष्यतोऽजीवसामन्तोपनिपातिकीति।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ६० । टीका

यदि किसी के रथादि सुन्दर हो तथा जनता उनकी जैसे-जैसे प्रशंसा करे उस प्रशंसा को सुनकर उन रथादि वस्तुओं का स्वामी वैसे-वैसे हर्षित होता है। इस निमित्त से उस रथादि के स्वामी को जो क्रिया होती है वह अजीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहलाती है।

राजा आदि की आज्ञा से यंत्रादि की सहायता से जल के उत्क्षेपण अथवा गुरु आदि के समीप शिष्य अथवा पुत्र को (शिक्षार्थ) छोड़ने के निमित्त से उत्पन्न होने वाली क्रिया जीवनैसृष्टिकी क्रिया कहलाती है।

·२ अजीवनैसृष्टिकी—

यत्तु काण्डादीनां धनुरादिभिः निसर्जनं) सा अजीव नैसृष्टिकीति, ××× अथवा (गुर्व्वादौ) अजीवं पुनरेषणीयभक्तपानादिकं निसृजतो—ऽत्यजतः अन्येति।

ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

धनुष आदि द्वारा बाणादि फेंकने के निमित्त से होने वाली अथवा गुरु आदि को शुद्ध भक्त-पानादि का दान देने के निमित्त से होनेवाली क्रिया अजीवनैसृष्टिकी क्रिया कहलाती है।

·२६ आज्ञापनिका / आनायनिका क्रिया

·२६·१ परिभाषा / अर्थ

(क) 'आणवणिया चेव' त्ति आज्ञापनस्य—आदेशनस्येयमाज्ञापनमेव वेत्याज्ञापनी सैवाज्ञापनिका तज्जः कर्मवन्धः, आदेशनमेव वेति, आनायनं वा आनायनी। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) स्वयं (आ) नयनक्रिया अन्यैर्वाऽऽनायनं स्वच्छन्दतो (आ) नयनक्रिया।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

(ग) यथोक्तामाज्ञामावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथा प्ररूपणात् आज्ञाव्यापादिका (की) क्रिया।

—सर्व० अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला ६-१०
—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५१०। ला ७-८

(घ) आवश्यकादिषु ख्यातामर्हदाज्ञामुपासितुम्।
अशक्तस्यान्यथा ख्यानादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया॥

—श्लोवा० अ ६। सू ५। गा २०। पृ० ४४५

आज्ञापन अर्थात् आदेश करने से जो क्रिया हो वह अथवा आज्ञा—हुक्म देने से जो कर्मवन्ध हो अथवा कोई वस्तु मँगवाने के निमित्त से जो कर्मवन्ध हो अथवा कोई वस्तु मँगवाने के निमित्त से जो क्रिया हो वह आज्ञापनिका / आनायनिका क्रिया होती है।

·२६·२ भेद

जहेव णेसत्थियाओ (आणवणिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीव-आणवणिया चेव अजीवआणवणिया चेव)।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

आज्ञापनिका / आनायनिका क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—जीवआज्ञापनिका / जीवआनायनिका तथा अजीव आज्ञापनिका / अजीव-आनायनिका।

·२९·३ भेदों की परिभाषा/अर्थ

·१ जीव-आज्ञापनिका / जीव-आनायनिका—

जीवमाज्ञापयत अनाययतो वा परेण जीवाज्ञापनी जीवानायनी वा।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

जीव के आज्ञा करने अथवा लाने के निमित्त से होने वाली अर्थात् दूसरे द्वारा जीव को आज्ञा करने अथवा लाने के निमित्त से होने वाली क्रिया जीवआज्ञापनिका / जीव-आनायनिका क्रिया कहलाती है।

·२ अजीव-आज्ञापनिका / अजीव-आनायनिका—

एवमेवाजीवविषया अजीवाऽऽज्ञापनी अजीवानायनी वेति।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

इसी प्रकार अजीव से सम्बन्धित अजीव-आज्ञापनिका अथवा अजीव-आनायनिका क्रिया होती है।

·३० वैदारणिकी / वैचारणिकी क्रिया

·३०·१ परिभाषा/अर्थ

(क) 'वेयारणिया चेव' त्ति विदारणं विचारणं वितारणं वा स्वार्थिकप्रत्ययोपादानाद् वैदारिणीत्यादि वाच्यमिति। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) पराचरिताप्रकाशनीयसावद्यप्रकाशीकरणं विदारणक्रिया। भाषाद्व्याभिज्ञः पुरुषो यथैकं विचारयति अर्हत्प्रणीताज्ञोल्लंघनेन स्वमनीषया जीवितादिपदार्थप्ररूपणं (वा)। —सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

(ग) पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया।

—सर्व अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला ९

(घ) आलस्याद्वा प्रशस्तक्रियाणामकरणं पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया।

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५१०। ला ६-७

(ङ) पराचित सावद्यप्रकाशनमिह स्फुटम्।
विदारणक्रिया त्वन्या स्यादन्यत्र विशुद्धितः॥

श्लोवा० अ ६। सू ५। गा १९। पृ० ४४५

किसी चीज को फाड़ने से या विचारने से अथवा दूसरों के द्वारा की गई सावद्यादि

क्रियाओं को प्रकाशन करने के निमित्त से होने वाली क्रिया वैदारणिकी अथवा वैचारणिकी क्रिया कहलाती है।

'३०'२ भेद

जहेव णेसत्थियाओ (वेयारणिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीव-वेयारणिया चेव अजीववेयारणिया चेव)।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

वैदारणिकी अथवा वैचारणिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीव-वैदारणिकी / जीव-वैचारणिकी तथा अजीव-वैदारणिकी / अजीव-वैचारणिकी।

'३०'३ भेदों की परिभाषा/अर्थ

'१ जीव-वैदारणिकी / जीव-वैचारणिकी—

'२ अजीव-वैदारणिकी / अजीव-वैचारणिकी—

जीवमजीवं वा विदारयति—स्फोटयतीति, अथवा जीवमजीवं वाऽऽसमान-भाषेषु विक्रीणति सति द्वैभाषिको विचारयति परियच्छावेइत्ति भणितं होति, अथवा जीवं पुरुषं वितारयति—प्रतारयति वञ्चयतीत्यर्थं असद्गुणैरेतादृशः तादृशस्त्वमिति, पुरुषादिविप्रतारणबुद्ध्यैव वाऽजीवं भणत्येतादृशमेतदिति यत्सा जीववेयारणिआऽजीववेयारणिया वा।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

किसी जीव-अजीव वस्तु का फाड़ना—विदारण करना—जीव-अजीव-वैदारणिकी क्रिया है। किसी जीव (घोड़ा, गाय इत्यादि) या अजीव (मूर्ति-शंख इत्यादि) वस्तु को बेचते हुए ठगने के अभिप्राय से उनमें न होने वाले गुणों का वर्णन करना—जीव-अजीव-वैचारणिकी क्रिया है।

'३१ अनाभोगप्रत्ययिकी क्रिया

'३१'१ परिभाषा/अर्थ

(क) अनाभोगः—अज्ञानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) अनाभोगक्रिया अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जिते देशे शरीरोपकरणनिक्षेपः।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

(ग) अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया।

—सर्व० अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला ७

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५१०। ला ३

आज्ञापनिका / आनायनिका क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—जीवआज्ञापनिका / जीवआनायनिका तथा अजीव आज्ञापनिका / अजीव-आनायनिका।

·२९·३ भेदों की परिभाषा अर्थ

·१ जीव-आज्ञापनिका / जीव-आनायनिका—

जीवमाज्ञापयत अनाययतो वा परेण जीवाज्ञापनी जीवानायनी वा।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

जीव के आज्ञा करने अथवा लाने के निमित्त से होने वाली अर्थात् दूसरे द्वारा जीव को आज्ञा करने अथवा लाने के निमित्त से होने वाली क्रिया जीवआज्ञापनिका / जीव-आनायनिका क्रिया कहलाती है।

·२ अजीव-आज्ञापनिका / अजीव-आनायनिका—

एवमेवाजीवविषया अजीवाऽऽज्ञापनी अजीवानायनी वेति।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

इसी प्रकार अजीव से सम्बन्धित अजीव-आज्ञापनिका अथवा अजीव-आनायनिका क्रिया होती है।

·३० वैदारणिकी / वैचारणिकी क्रिया

·३०·१ परिभाषा/अर्थ

(क) 'वेयारणिया चेव' त्ति विदारणं विचारणं वितारणं वा स्वार्थिकप्रत्ययोपादानाद् वैदारिणीत्यादि वाच्यमिति। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) पराचरितप्रकाशनीयसावद्यप्रकाशीकरणं विदारणक्रिया। भाषाद्यभिज्ञः पुरुषो यथैकं विचारयति अर्हत्प्रणीताज्ञोल्लंघनेन स्वमनीषया जीवितादिपदार्थप्ररूपणं (वा)।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

(ग) पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया।

—सर्व अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला ६

(घ) आलस्याद्वा प्रशस्तक्रियाणामकरणं पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया।

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५१०। ला ६-७

(ङ) पराचित सावद्यप्रकाशनमिह स्फुटम्।
विदारणक्रिया त्वन्या स्यादन्यत्र विशुद्धितः॥

श्लोवा० अ ६। सू ५। गा १६। पृ० ४४५

किसी चीज को फाड़ने से या विचारने से अथवा दूसरों के द्वारा की गई सावद्यादि

क्रियाओं को प्रकाशन करने के निमित्त से होने वाली क्रिया वैदारणिकी अथवा वैचारणिकी क्रिया कहलाती है।

'३०'२ भेद

जहेव णेसत्थियाओ (वेयारणिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जीव-वेयारणिया चेव अजीववेयारणिया चेव)।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

वैदारणिकी अथवा वैचारणिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा जीव-वैदारणिकी / जीव-वैचारणिकी तथा अजीव-वैदारणिकी / अजीव-वैचारणिकी।

'३०'३ भेदों की परिभाषा/अर्थ

'१ जीव-वैदारणिकी / जीव-वैचारणिकी—

'२ अजीव-वैदारणिकी / अजीव-वैचारणिकी—

जीवमजीवं वा विदारयति—स्फोटयतीति, अथवा जीवमजीवं वाऽऽसमान-भाषेपु विक्रीणति सति द्वैभापिको विचारयति परियन्छावेइत्ति भणितं होति, अथवा जीवं पुरुषं वितारयति—प्रतारयति वञ्चयतीत्यर्थ असद्गुणैरेतादृशः तादृशस्त्वमिति, पुरुपादिविप्रतारणबुद्ध्यैव वाऽजीवं भणत्येतादृशमेतदिति यत्सा जीववेयारणिआऽ जीववेयारणिया वा। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

किसी जीव-अजीव वस्तु का फाड़ना—विदारण करना—जीव-अजीव-वैदारणिकी क्रिया है। किसी जीव (घोड़ा, गाय इत्यादि) या अजीव (मूर्ति-शंख इत्यादि) वस्तु को वेचते हुए ठगने के अभिप्राय से उनमें न होने वाले गुणों का वर्णन करना—जीव-अजीव-वैचारणिकी क्रिया है।

'३१ अनाभोगप्रत्ययिकी क्रिया

'३१'१ परिभाषा/अर्थ

(क) अनाभोगः—अज्ञानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) अनाभोगक्रिया अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जिते देशे शरीरोपकरणनिक्षेपः।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

(ग) अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया।

—सर्व० अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला ७

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५१०। ला ३

माया तथा लोभ प्रेम अर्थात् राग के लक्षण हैं। इनके निमित्त से होनेवाली क्रिया रागप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

'३३'२ भेद

पेज्जवत्तिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—मायावत्तिया चेव, लोहवत्तिया चेव। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६-८७

रागप्रत्ययिकी क्रिया के दो भेद होते हैं; यथा—मायाप्रत्ययिकी क्रिया तथा लोभ-प्रत्ययिकी क्रिया।

'३३'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ मायाप्रत्ययिकी क्रिया—
देखिये क्रमांक............('१५)

'२ लोभप्रत्ययिकी क्रिया—
देखिये क्रमांक ....('५३)

'३३'४ रागप्रत्ययिकी क्रिया और जीवदंडक

(क) (अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं) एवं ××× पेज्जेणं ×××। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेणं (सु) भाणियव्वा निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति। —पण्ण० प २२। सू० १५८०। पृ० ४७६

किसी जीव या अजीव वस्तु के प्रति प्रेम—स्नेहभाव लाना राग है। ये भावकषाय

(ग) शाठ्यालस्यवशादर्हत्प्रोक्ताचारविधौ तु यः।
अनादरः स एव स्यादनाकांक्षक्रिया विदाम् ॥

—श्लोवा० अ ६। सू ५। गा २१। पृ० ४४५

आलस्य तथा प्रमाद के वश होकर अपने शरीर की अपेक्षा नहीं करने अथवा शास्त्रोक्त विधि-व्यवहारों को नहीं करने से जो क्रिया लगती है वह अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

·३२·२ भेद

अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—आयसरीरअणवकंखवत्तिया चेव, परसरीरअणवकंखवत्तिया चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६

अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—आत्मशरीर-अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया तथा परशरीर-अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया।

·३२·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ—

·१ आत्मशरीर-अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया—

(क) तत्रात्मशरीरानवकांक्षाप्रत्यया स्वशरीरक्षतिकारिकर्माणि कुर्वतः।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) तत्र स्वानवकांक्षा जिनोक्तेषु कर्तव्यविधिषु प्रमादवशवर्तितानादरः।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

अपने शरीर के नाश करने वाले कार्यों को करने में अपने शरीर की अनपेक्षा के निमित्त से होने वाली क्रिया आत्मशरीर-अनवकांक्षा क्रिया कहलाती है।

२· परशरीर-अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया

(क) परशरीरक्षतिकराणि तु कुर्वतः। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) अनाद्रियमाणः परमपि नावकांक्षतीति परानवकांक्षा क्रियेति।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १३

दूसरों के शरीर को नष्ट करनेवाले कार्यों को करने के निमित्त से जो क्रिया होती है वह परशरीर-अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

·३३ रागप्रत्ययिकी क्रिया

·३३·१ परिभाषा / अर्थ

प्रेम—रागो मायालोभलक्षणः। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

माया तथा लोभ प्रेम अर्थात् राग के लक्षण हैं। इनके निमित्त से होनेवाली क्रिया रागप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

'३३'२ भेद

पेज्जवत्तिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—मायावत्तिया चेव, लोहवत्तिया चेव। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८६-८७

रागप्रत्ययिकी क्रिया के दो भेद होते हैं; यथा—मायाप्रत्ययिकी क्रिया तथा लोभप्रत्ययिकी क्रिया।

'३३'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ मायाप्रत्ययिकी क्रिया—
देखिये क्रमांक············('१५)

'२ लोभप्रत्ययिकी क्रिया—
देखिये क्रमांक ············('५३)

'३३'४ रागप्रत्ययिकी क्रिया और जीवदंडक

(क) (अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं) एवं ××× पेज्जेणं ×××। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेणं (सु) भाणियव्वा निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति। —पण्ण० प २२। सू० १५८०। पृ० ४७६

किसी जीव या अजीव वस्तु के प्रति प्रेम—स्नेहभाव लाना राग है। ये भावकषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं, रागक्रिया अजीव तथा जीव सभी द्रव्यों के प्रति जीव करते हैं। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों के प्रति राग से क्रिया करते हैं।

(ख अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। ×××। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। (देखिये क्रमांक '२२'४)

जीव राग से क्रिया करते हैं। राग-क्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। राग-क्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रम-पूर्वक की जाती है विना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी रागक्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औघिक जीव की तरह यावत् अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडको में नारकी के समान कहना चाहिये।

एकेन्द्रियों का कथन औधिक जीव की तरह कहना चाहिये।

'३३'५ रागप्रत्ययिकी क्रिया और कर्मप्रकृति का बन्ध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?..........(पूरे पाठ के लिये देखो '२२'५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्लेणं।

—पण्ण० प २२। सू.१५८४। पृ० ४७६-८०

रागप्रत्ययिकी क्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बन्ध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बन्ध करता है।

'३४ द्वेषप्रत्ययिकी क्रिया

'३४'१ परिभाषा / अर्थ

द्वेषः क्रोधमानलक्षण इति। —ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

क्रोध और मान द्वेष के लक्षण हैं। इनके निमित्त से होने वाली क्रिया द्वेषप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

'३४'२ भेद—

दोसवत्तिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—कोहे चेव माणे चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। पृ० १८७

द्वेषप्रत्ययिकी क्रिया के दो भेद होते हैं, यथा—क्रोधप्रत्ययिकी तथा मान-प्रत्ययिकी।

'३४'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ क्रोधप्रत्ययिकी—

क्रोध के निमित्त से होने वाली क्रिया क्रोधप्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

नोट :—टीकाकारों ने सुगमता के कारण इसकी व्याख्या नहीं की है।

.........(देखिये क्रमांक '५६)

'२ मानप्रत्ययिकी—

......(देखिये क्रमांक '५१)

'३४'४ द्वेषप्रत्ययिकी क्रिया और जीवदंडक

(क) (अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते ? जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइ-

·३६ सामुदानिकी क्रिया

·३६·१ परिभाषा / अर्थ—

(क) 'समुदाणं' त्ति प्रयोगक्रिययैकरूपतया गृहीतानां कर्म्मवर्गणानां समितिः— सम्यक् प्रकृतिबन्धादिभेदेन देशसर्वोपघातिरूपतया च आदानं स्वीकरणं समुदाननिपातनात्तदेव क्रिया—कर्म्मेति समुदानक्रियेति।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

(ख) अपूर्वापूर्वविरतिप्रत्याभिमुख्यमुत्पद्यते यत् तपस्विनः सा समादानक्रिया।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १२

(ग) संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुखं (ख्यं) समादानक्रिया।

—सर्व० अ ६। सू ५। पृ ३२१। ला १३

—राज० अ ६। सू ५। पृ ५०६। ला १६-२०

(घ) नो कायवाङ्मनोयोगान्नो निवर्तयितुं क्षमाः।
पुद्गलास्तदुपादानं स्वहेतुद्वयतोऽन्यथा॥
संयतस्य सतः पुंसोऽसयमं प्रति यद्भवेत्।
आभिमुख्यं समादानक्रिया सा वृत्तघातिनी॥

विग्रहः, प्रथमसमयवर्तिनीत्यर्थः द्वितीयादिसमयवर्तिनी तु परम्परसमुदानक्रियेति, प्रथमाप्रथमसमयापेक्षया तु तदुभयसमुदानक्रियेति।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

अनन्तर अर्थात् प्रथम समय की समुदानक्रिया अनन्तर-समुदानक्रिया।

परम्पर अर्थात् प्रथम समय को छोड़कर द्वितीयादि समय की समुदानक्रिया परम्पर-समुदानक्रिया।

प्रथम तथा अप्रथम अर्थात् दोनों समयों की अपेक्षा से होने वाली समुदानक्रिया तदुभय-समुदानक्रिया।

·३७ ऐर्यापथिकी क्रिया

·३७·१ परिभाषा / अर्थ

ईरणमीर्या तस्यास्तया वा पंथा ईर्यापथस्तत्र भवमीर्यापथिकमेतच्च शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तम्। प्रवृत्तिनिमित्तं त्विदं सर्वत्रोपयुक्तस्य निकषायस्य समीक्षितमनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया तया यत्कर्म तदीर्यापथिकं सैव वा क्रिया ईर्यापथिकेत्युच्यते।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १४। टीका

(ख) ईरणं ईर्या तस्यास्तया वा पन्था ईर्यापथः स विद्यते यस्य तदीर्यापथिकम्। एतच्च शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तम्। प्रवृत्तिनिमित्तं तु इदम्। सर्वत्रोपयुक्तस्य निकषायस्य समीक्षितमनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया तया यत्कर्म तदीर्यापथिकं सैव वा क्रिया ईर्यापथिका।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १४। दीपिका

(ग) 'इरियावहिय' त्ति—ईरणमीर्या—गमनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, व्युत्पत्तिमात्रमिदम्। प्रवृत्तिनिमित्तं तु यत्केवलयोगप्रत्ययमुपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्म्मतया अजीवस्य पुद्गलराशेर्भवनं सा ऐर्यापथिकी क्रिया।

इह जीवव्यापारेऽप्यजीवप्रधानत्वविवक्षयाऽजीवक्रियेयमुक्ता, कर्म्मविशेषो वैर्यापथिकी क्रियोच्यते।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(घ) 'इरियावहियं' त्ति ईर्या गमनम्, तद्विषयः पन्था मार्गः—ईर्यापथः, तत्र भवा ऐर्यापथिकी—केवलकाययोगप्रत्ययः कर्मबन्ध इत्यर्थः।

—भग० श १। उ १०। प्र ३२५। टीका

(ङ) ईर्यापथकर्मणो याऽति (हि ?) निमित्तभूतावध्यमानवेद्यमानस्य सेर्यापथक्रिया। अत्र च काश्चित् साम्परायिककर्मणः आश्रवः, काश्चिच्च न (?)।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० १२

(च) ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया।

—सर्व० अ ६। सू ५। पृ० ३२२। ला १

(छ) ईर्यापथकर्मनिमित्ता ईर्यापथक्रिया।

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५०६। ला २

(ज) ईर्यापथक्रिया तत्र प्रोक्ता तत्कर्महेतुका।

—श्लोवा० अ ६। सू ५। गा ७। पृ० ४४५

'ईरणमीर्या' गमन का विशिष्ट पथ या तरीका वह ईर्यापथ उससे होनेवाली क्रिया—ऐर्यापथिकी क्रिया—यह शाब्दिक—व्यौत्पत्तिक अर्थ होता है।

जहाँ केवल योगनिमित्त से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है वहाँ ऐर्यापथिकी क्रिया होती है। अजीव-कर्मपुद्गल का बन्ध होता है। अतः इसको अजीवक्रिया का भेद कहा है यद्यपि यह जीव का व्यापार है। कर्मविशेष के बन्ध की प्रधानता की अपेक्षा इसको अजीव-ऐर्यापथिकी क्रिया कहा गया है। (देखो अजीवक्रिया '१२)

दूसरे शब्दों में योगनिमित्त—जाने, खड़े होने, सोने, बैठने तथा वस्त्र-पात्रादि के लेने-रखने यावत् आँखों के पलक के हिलाने मात्र से जो क्रिया होती है वह ऐर्यापथिकी क्रिया। इस क्रिया से सातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

'३७'२ इरियावहिया किरिया दुविहा—बज्झमाणा वेइज्जमाणा य।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

ऐर्यापथिकी क्रिया दो प्रकार की होती है—बध्यमान तथा वेद्यमान।

'३७'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'१ बज्झमाणा ऐर्यापथिकी क्रिया, जा (ब) पढमसमये बद्धा।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

जो ऐर्यापथिकी क्रिया प्रथम समय में बध्यमान हो वह बध्यमान-ऐर्यापथिकी क्रिया है।

'२ वेइज्जमाणा ऐर्यापथिकी क्रिया, बीयसमये वेइया।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

जो ऐर्यापथिकी क्रिया द्वितीय समय में वेद्यमान हो वह वेद्यमान-ऐर्यापथिकी क्रिया है।

'३७'४ ऐर्यापथिकी क्रिया किसके, कैसे, कियत्कालीन होती है :—

(क) अहावरे तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ। इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स ईरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाण-भंडमत्तनिक्खेवणासमियस्स उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स

मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिदियस्स गुत्तबंभयारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं निसीयमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हनिवायमवि अत्थि विमाया सुहुमा किरिया ईरियावहिया नाम कज्जइ। सा पढमसमए वद्धा पुट्ठा विईयसमए वेइया तइयसमए निज्जिण्णा सा। वद्धा, पुट्ठा, उदीरिया, वेइया, निज्जिण्णा सेयकाले अकम्मे या वि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं (सावज्जं) ति आहिज्जइ, तेरसमे किरियट्ठाणे ईरियावहिए त्ति आहिज्जइ।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १४। पृ० १४६

टीका—आत्मनो भाव आत्मत्वं तदर्थमात्मत्वार्थं संवृतस्य मनोवाक्कायैः। परमार्थत एवंभूतस्यैवात्मभावोऽपरस्य त्वसंवृतस्यात्मतत्त्वमेव नास्ति सद्भूतात्मकार्यकारणात्। तदेवमात्मार्थं संवृतस्यानगारस्येर्यापथिकादिभिः पंचभिः समितिभिर्मनोवाक्कायैः समितस्य तथा तिसृभिर्गुप्तस्य। पुनर्गुप्तिग्रहणमेताभिरेव गुप्तिभिर्गुप्तो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावनायात्यादरख्यापनार्थं वेति। तथा गुप्तेन्द्रियस्य नवब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतब्रह्मचारिणश्च। सततस्तथोपयुक्तं गच्छतस्तिष्ठतो निषीदतो मुनेस्त्वक्वर्तनां कुर्वाणस्य तथोपयुक्तमेव वस्त्रं पतद्ग्रहं कंबलं वा पादपुंछनकं वा गृह्णतो निक्षिपतो वा यावच्चक्षुःपक्ष्मनिपातमप्युपयुक्तं कुर्वतः सतोऽत्यंतमुपयुक्तस्याप्यस्ति विद्यते विविधा मात्रा विमात्रा तदेवं विधा सूक्ष्माक्षिपक्ष्मसंचलनरूपादिकेर्यापथिकानामक्रिया केवलिनापि क्रियते।

तथाहि। सयोगी जीवो न शक्नोति क्षणमप्येकं निश्चलः स्थातुमग्निना ताप्यमानोदकवत्कार्मणशरीरानुगतः सदा परिवर्तयन्नेवास्ते। ×××। तदेवं केवलिनोपि सूक्ष्मगात्रसंचारा भवन्तीह च कारणे कार्योपचारात्तया क्रियया यद्बध्यते कर्म तस्य कर्मणो या अवस्थास्ताः क्रियाः। ता एव दर्शयितुमाह।

या सावकापिणः क्रिया तया यद्बध्यते कर्म तत्प्रथमसमयएव वद्धं स्पृष्टं चेति कृत्वा तत्क्रियैव वद्धस्पृष्टेत्युक्ता तथा द्वितीयसमये वेदितेत्यनुभूततृतीयसमयेऽतिजीर्णा। एतदुक्तं भवति। कर्मयोगनिमित्तं वध्यते तत्स्थितिश्च कषायायत्ता तदभावाच्च न तस्य सांपरायिकस्येव स्थितिः किन्तु योगसद्भावाद्वध्यमानमेव स्पृष्टतां संश्लेषं याति। द्वितीयसमये त्वनुभूयते तच्च प्रकृतितः सातावेदनीयं स्थितितो द्विसमयस्थितिकमनुभावतः शुभानुभावं अनुत्तरोपपातिकदेवसुखातिशायि देशतो वहुप्रदेशमस्थिरवंधं वहुव्ययं च तदेवं सेर्यापथिका क्रिया प्रथमसमये वद्धस्पृष्टा द्वितीयसमये उदिता वेदिताऽतिजीर्णा

भवति। (सेयं काले त्ति) आगामिनि तृतीयसमये तत्कर्मापेक्षया कर्मतापि च भवति। एवं तावद्वीतरागस्येर्यापथिकं कर्माधीयते संबध्यते।

(ख) अत्तत्ता संवुडस्स अणगारस्स ईरियासमियस्स जाव गुत्तबंभयारियस्स आउत्तं गच्छमाणस्स, चिट्ठमाणस्स, निसीयमाणस्स, तुयट्टमाणस्स, आउत्तं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणं गेण्हमाणस्स, णिक्खिवमाणस्स, जाव चक्खुपम्हनिवायमवि वेमाया सुहुमा ईरियावहिया किरिया कज्जइ, सा पढमसमयबद्धपुट्ठा, बिइयसमयवेइया तइयसमयनिज्जरिया, सा बद्धा, पुट्ठा, उदीरिया, वेइया, निज्जिण्णा, सेयकाले अकम्मं वा वि भवइ। —भग० श ३। उ ३। प्र १५। पृ० ४५७-५८

टीका—'अत्तत्ता संवुडस्स' आत्मनि आत्मना संवृतस्य प्रतिसंलीनस्य इत्यर्थः। एतदेव 'ईरियासमियस्स' इत्यादिना प्रपंचयति। 'आउत्तं' ति आयुक्तम्—उपयोगपूर्वकमित्यर्थः। 'जाव चक्खुपम्हनिवायमवि' त्ति किं बहुना आयुक्तगमनादिना स्थूलक्रियाजालेनोक्तेन ? यावच्चक्षुःपक्ष्मनिपातोऽपि -- प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः—उन्मेषनिमेषमात्रक्रियाऽप्यस्ति, आस्तां गमनादिका तावदिति शेषः। 'वेमाय' त्ति विविधमात्रा अन्तर्मुहूर्तादिर्देशोनपूर्वकोटीपर्यन्तस्य क्रिया, कालस्य विचित्रत्वात्। वृद्धाः पुनरेवमाहुः—"यावता चक्षुषोर्निमेषोन्मेषमात्राऽपि क्रिया क्रियते, तावताऽपि कालेन विमात्रया—स्तोकयाऽपि मात्रया इति। क्वचित् 'विमात्रा' इत्यस्य स्थाने 'सपेहाए'त्ति दृश्यते। तत्र च स्वप्रेक्षया—स्वेच्छया चक्षुःपक्ष्मनिपातः, न तु परकृतः। 'सुहुम' त्ति सूक्ष्मबंधादिकाला, 'ईरियावहिय' त्ति ईर्यापथो गमनमार्गः: तत्र भवा ऐर्यापथिकी—केवलयोगप्रत्यया इति भावः। 'किरिय' त्ति कर्म सातवेदनीयमित्यर्थः। 'कज्जइ' त्ति क्रियते भवति—इत्यर्थः। उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-लक्षणगुणस्थानकत्रयवर्तिवीतरागोऽपि हि सक्रियत्वात् सातवेद्यं कर्म बध्नाति—इति भावः। 'से' त्ति ईर्यापथिकी क्रिया 'पढमसमयबद्धपुट्ठ' त्ति बद्धा कर्मतापादनात्, स्पृष्टा जीवप्रदेशैः स्पर्शनात्, ततः कर्मधारये, तत्पुरुषे च सति—प्रथमसमयबद्धस्पृष्टा। तथा द्वितीये समये वेदिता अनुभूतस्वरूपा—द्वितीयसमयवेदिता। एवं -तृतीयसमये निर्जीर्णा—अनुभूतस्वरूपत्वेन जीवप्रदेशेभ्यः परिशाटिता—इति। एतदेव वाक्यान्तरेणाऽऽह—सा बद्धा स्पृष्टा प्रथमे समये, द्वितीये तु उदीरिता—उदयमुपनीता। किमुक्तं भवति ? वेदिता, नहि एकस्मिन् समये उदीरणा, उदयश्च संभवति—इत्येवं व्याख्यातम्। तृतीये तु निर्जीर्णा ततश्च 'सेयकाले' त्ति एष्यत्काले, 'अकम्मं वा वि' त्ति अकर्म अपि च भवति। इह च यद्यपि तृतीयेऽपि समये कर्म अकर्म भवति, तथापि तत्क्षण एव अतीतभावकर्मत्वेन द्रव्यकर्मत्वात् तृतीये निर्जीर्णकर्म—इति व्यपदिश्यते, चतुर्थादिसमयेषु तु अकर्म इति।

(ख) 'संपराइयं च' त्ति सम्परैति भ्रमति प्राणी भवे एभिरिति सम्परायाः कपायाः, तत्प्रत्यया या सा साम्परायिकी —कपायहेतुकः कर्मबन्ध इत्यर्थः।

—भग० श १। उ १०। प्र ३२५। टीका

(ग) सम्परायः संसारः। तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकम्।

—सर्व० अ ६। सू ४। पृ० ३२१। ला १

(घ) समन्तात्पराभव आत्मनः सम्परायः। कर्मणि समन्तादात्मनः पराभवोऽभिभवः सम्पराय इत्युच्यते। तत्प्रोजनं साम्परायिम्। तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते यथा ऐन्द्रमहिकमिति। —राज० अ ६। सू ४। पृ० ५०८। ला १३-१६

(ङ) सम्परत्यस्मिन्नात्मेति सम्परायः चातुर्गतिकः संसारः। समित्ययं समन्ताद्भावे संकीर्णादिवत् परा भृशार्थे सम्परायते च, स सम्परायः प्रयोजनमस्य कर्मणः साम्परायिकः—संसारपरिभ्रमणहेतुः। —सिद्ध० अ ६। सू ५। पृ० ८

(च) समन्ततः पराभूतिः संपरायः पराभवः।
जीवस्य कर्मभिः प्रोक्तस्तदर्थं साम्परायिकम्॥

—श्लोवा० अ ६। सू ४। गा ४। पृ० ४४४

सम्पराय अर्थात् भव—संसार में भ्रमण। जिस क्रिया से भव—संसार में प्राणी भ्रमण करे वह साम्परायिकी क्रिया।

'सम्परायाः अर्थात् कषायाः' कषायों के निमित्त से जो क्रिया हो वह साम्परायिकी क्रिया।

ऐर्यापथिकी क्रिया की तरह अजीवकर्मबन्ध की विवक्षा से इसे अजीवक्रिया का भेद कहा है।

·३६ सम्यक्त्व क्रिया

·३६·१ परिभाषा / अर्थ

(क) सम्यक्त्वं- तत्त्वं श्रद्धानं तदेव जीवव्यापारत्वात् क्रिया सम्यक्त्वक्रिया।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया।

—सर्व० अ० ६। सू ५। पृ० ३२१। ला-१२

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५०६। ला १६-१७

(ग) तत्र चैत्यश्रुताचार्यपूजास्तवादिलक्षणा।
सम्यक्त्ववर्धनी ज्ञेया विद्भिः सम्यक्त्वसत्क्रिया॥

—श्लोवा० अ ६। सू ५। गा २। पृ० ४४५

(घ) तत्र सम्यक्त्वक्रिया—सम्यक्त्वकारणम्। सम्यक्त्वं च मोहशुद्धदलिकानुभवः प्रायेण तत्प्रवृत्ता क्रिया सम्यक्त्वक्रिया।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० ११

सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वश्रद्धान से जीव के व्यापार द्वारा होने वाली क्रिया को सम्यक्त्वक्रिया कहते हैं।

·४० मिथ्यात्वक्रिया

·४०·१ परिभाषा / अर्थ

(क) मिथ्यात्वं अतत्त्वश्रद्धानं तदपि जीवव्यापार एवेति।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) अतो विपरीता मिथ्यात्वक्रिया तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणा।

—सिद्ध० अ ६। सू ६। पृ० ११-१२

(ग) अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका (की) प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया।

—सर्व० अ ६। सू ५। पृ० ३२१। ला १२-१३

—राज० अ ६। सू ५। पृ० ५०६। ला १७-१८

(घ) कुचैत्यादिप्रतिष्ठादिर्या मिथ्यात्वप्रवर्धनी।
सा मिथ्यात्वक्रिया वोध्या मिथ्यत्वोदयसंस्तृता॥

श्लोवा० अ ३। सू ५। गा ३। पृ० ४४५

मिथ्यात्व अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान से जीव के व्यापार द्वारा अथवा अन्य देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा अथवा उनके पूजनादि रूप से होनेवाली क्रिया मिथ्यात्व क्रिया है।

नोट : देखिए ·१७ तथा ·६३।

·४०·२ भेद

तिविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तंजहा—अकिरिया, अविणए, अण्णाणे।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। पृ० २१५

मिथ्यात्व के तीन भेद हैं यथा—अक्रिया, अविनय, तथा अज्ञान।

·४०·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'अकिरिय' त्ति नञिह दुःशब्दार्थो यथा अशीला दुःशीलेत्यर्थः, ततश्चाक्रिया—दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युपहतस्यामोक्षसाधकमनुष्ठानं यथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमिति, एवमविनयोऽपि, अज्ञानम्—असम्यग्ज्ञानमिति।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

मिथ्यात्व आदि से उपहत की अमोक्षसाधक अनुष्ठानरूप दुष्टक्रिया अक्रिया है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञानक्रिया है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि का विनय अविनयक्रिया है।

·४१ अक्रिया (दुष्प्रयुक्तक्रिया)

·४१·१ परिभाषा / अर्थ

'अकिरिय' त्ति नञिह दुःशब्दार्थो यथा अशीला दुःशीलेत्यर्थः, ततश्चाक्रिया—दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युपहतस्यामोक्षसाधकमनुष्ठानम्।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

यहाँ नकारात्मक 'अ' उपसर्ग दुःशब्द का द्योतक है जैसे अशील को दुःशील कहा जाता है अतः अक्रिया अर्थात् मिथ्यात्व आदि से उपहत व्यक्ति का मोक्षसाधक अनुष्ठान—दुष्टक्रिया अर्थात् अक्रिया।

·४१·२ भेद

अकिरिया तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—पओगकिरिया, समुदानकिरिया, अन्नाणकिरिया।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। पृ० २१५

अक्रिया के तीन भेद होते हैं, यथा प्रयोगक्रिया, समुदानक्रिया तथा अज्ञानक्रिया।

·४१·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

·४१·३·१ प्रयोगक्रिया—

तत्र वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतवीर्येणात्मना प्रयुज्यते—व्यापार्यत इति प्रयोगो—मनोवाक्कायलक्षणस्तस्य क्रिया—करणं व्यापृतिरिति प्रयोगक्रिया, अथवा प्रयोगैः - मनःप्रभृतिभिः क्रियते—वध्यत इति प्रयोगक्रिया कर्मेत्यर्थः, सा च दुष्टत्वादक्रिया।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उद्भूत वीर्य से आत्मा जो व्यापार करती है वह प्रयोग है। मन, वचन, काय का प्रयोग प्रयोगक्रिया। दुष्टत्व से प्रवर्त्तित प्रयोग-क्रिया प्रयोग-अक्रिया।

·४१·३·२ समुदानक्रिया—

'समुदाणं' ति प्रयोगक्रिययैकरूपतया गृहीतानां कर्मवर्गणानां समितिः—सम्यक् प्रकृतिबन्धादिभेदेन देशसर्वोपघातिरूपतया च आदानं—स्वीकरणं समुदानं नैपातनात्तदेव क्रिया—कर्मेति समुदानक्रियेति।

प्रयोगक्रिया की एकरूपता से गृहीत कर्मवर्गणाओं का सम्यक् रूप से—देशसर्वोपघाति रूप से—आदान—स्वीकरण समुदानक्रिया।

'४१'३'३ अज्ञानक्रिया—

अज्ञानात् वा चेष्टा कर्म्म वा सा अज्ञानक्रियेति।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

अज्ञान से जो कर्म अथवा चेष्टा हो वह अज्ञानक्रिया।

'४२ अज्ञानक्रिया (अक्रिया का भेद)

'४२'१ परिभाषा / अर्थ

अज्ञानम्—असम्यग्ज्ञानमिति, अक्रिया हि अशोभना क्रियेवातोऽक्रिया। ××× अज्ञानात् वा चेष्टा कर्म्म वा सा अज्ञानक्रियेति।

—ठा० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

असम्यग्ज्ञान—अज्ञान। अज्ञान में जो कर्म अथवा चेष्टा हो वह अज्ञानक्रिया है।

'४२'२ भेद

अण्णाणकिरिया तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—मइअण्णाणकिरिया, सुयअण्णाणकिरिया विभंगअण्णाणकिरिया। —ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। पृ २१६

अज्ञानक्रिया के तीन भेद होते हैं, यथा—मतिअज्ञानक्रिया, श्रुतअज्ञानक्रिया, तथा विभंगअज्ञानक्रिया।

'४२'३ भेदों की परिभाषा / अर्थ

'४२'३'१ मतिअज्ञानक्रिया—

'अन्नाणकिरिय' त्ति अविसेसिया मइच्चिय सम्मदिट्ठिस्स सा मइन्नाणं। मइअन्नाणं मिच्छादिट्ठिस्स सुयंपि एमेव ॥१॥ त्ति। मत्यज्ञानात् क्रिया—अनुष्टानं मत्यज्ञानक्रिया एवमितरे अपि। —ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

सम्यग्दृष्टि वाली मति अर्थात् मतिज्ञान। मिथ्यादृष्टि वाली मति मतिअज्ञान हुआ। मतिअज्ञान अर्थात् मिथ्यादृष्टि वाली मति द्वारा की गई क्रिया मतिअज्ञान क्रिया है।

'४२'३'२ श्रुतअज्ञानक्रिया—

मइअन्नाणं मिच्छादिट्ठिस्स सुयंपि एमेव।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका।

मतिअज्ञान अर्थात् मिथ्यादृष्टि वाली मति से होने वाली मतिअज्ञान क्रिया की तरह ही श्रुतअज्ञान से होने वाली क्रिया श्रुतअज्ञान क्रिया होती है।

'४२'३'३ विभंगअज्ञानक्रिया—

विभंगो मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभङ्गाज्ञानमिति।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १८७। टीका

मिथ्यादृष्टि का अवधिज्ञान विभंग है। मिथ्यादृष्टि की अवधि वाला अज्ञान विभंग-अज्ञान है। इस विभंग-अज्ञान से होनेवाली क्रिया विभंग-अज्ञानक्रिया होती है।

'४३ अर्थदंडप्रत्ययिक क्रिया (स्थान)

'४३'१ परिभाषा/अर्थ

मूल—से जहानामए—केइ पुरिसे आयहेउं वा नाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा नागहेउं वा भूयहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव निसिरइ अन्नेण वि निसिरावेइ अन्नंपि निसिरंतं समणुयाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिए।
—सूय० श्रु २। अ २। सू २। पृ० १४५

टीका - दण्डः पापोपादानसंकल्पस्तस्य समादानं ग्रहणं—(दण्ड-समादानं)। ×××। आत्मार्थाय स्वप्रयोजनकृते दण्डोऽर्थदण्डः पापोपादानम्।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १। टीका

यदि कोई व्यक्ति अपने लिए, जाति, घर, परिवार, मित्र, नाग, भूत और यक्ष के लिए किन्हीं त्रस-स्थावर प्राणियों के प्राण का घात स्वयं करे, दूसरे से करावे और घात करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करे, तो उसको अर्थदंडप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है।

यह १३ क्रियास्थानों में पहला अर्थदंडप्रत्ययिक दंडसमादान है।

प्रथम पाँच क्रियास्थानों को दंड-समादान नाम दिया गया है क्योंकि इनमें प्रायः दूसरे जीवों का उपघात होता है।

'४४ अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रिया (स्थान)

'४४'१ परिभाषा/अर्थ

से जहानामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति, ते नो अच्चाए नो अजिणाए नो मंसाए नो सोणियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए नहाए ण्हारुणिए अट्ठीए अट्ठिमंजाए नो हिंसिसु मे त्ति, नो हिंसंति मे त्ति, नो हिंसिस्संति मे त्ति ; नो पुत्त-पोसणाए नो पसु-पोसणाए नो अगार-परिवूहणयाए नो समण-माहण-वत्तणाहेउं नो तस्स सरीरगस्स

किंचि विप्परियाइत्ता भवंति ; से हंता छेत्ता भेत्ता लुम्पइत्ता विलुम्पइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स अभागी भवइ अणट्ठादंडे।

से जहानामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति। तंजहा—इक्कडा इ वा, कडिणा इ वा, जंतुगा इ वा, परगा इ वा, मोक्खा इ वा, तणा इ वा, कुसा इ वा, कुच्छगा इ वा, पव्वगा इ वा, पलाला इ वा, ते नो पुत्त-पोसणाए, नो पसुपोसणाए, नो अगार-परिवूहणयाए, नो समण-माहण-पोसणयाए, नो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवंति ; से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवइ, अणट्ठादंडे।

से जहानामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा नूमंसि वा गहणंसि वा गहण-विदुग्गंसि वा वणंसि वा वण-विदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वय-विदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं निसिरइ अन्नेण वि अगणिकायं निसिरावेइ, अन्नं पि अगणिकायं निसिरंतं समणुजाणइ अणट्ठादंडे।

एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। दोच्चे दंड-समादाणे अणट्ठा-दंडवत्तिए त्ति आहिए। —सूय० श्रु० २। अ २। सू ३। पृ० १४५-४६

कोई एक व्यक्ति शरीर, चमड़ी, मांस, खून, हृदय, पित्त, वसा (चरबी), पंख, पूँछ, बाल, सींग, दाँत, दाढ़, नख, स्नायु, हड्डी और अस्थि-मज्जा आदि के लिए त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता है या इसने मुझे पहले मारा था, मारता है या मारेगा—यह विचार कर या पुत्र-पशु के पालन के लिए, गृहस्थाश्रम की उन्नति के लिए, श्रमण-ब्राह्मण का पालन करने के लिए या अपने शरीर की रक्षा के लिए, हिंसा नहीं करता है परन्तु विवेक के अभाव में व्यर्थ क्रीड़ार्थ—व्यसनार्थ ही त्रस प्राणियों को छेदता है, भेदता है, काटता है, उनकी चमड़ी उधेड़ता है और उन्हें उद्वेग पहुँचाता है वह अज्ञानी उनके वैर का भागी बनता है। यह त्रस की अपेक्षा अनर्थदंड है।

कोई एक व्यक्ति संसार में जो स्थावर प्राणी होते हैं यथा—इक्कड, तृण, वंशग, जंतुग, परग, मोक्ख, तृण, कुश, कुच्छग, पर्वक, पलालादि (पत्र, फल, पुष्पादि) प्राणियों का उपर्युक्त की तरह पुत्रादि के पोषण के लिए यावत् स्वशरीररक्षार्थ नहीं परन्तु विवेक के अभाव में क्रीड़ा आदि निमित्त दंडादि के प्रहार से हनन करता है, छेदता है, भेदता है, अंग—अवयव काटता है, छाल उतारता है, नाना प्रकार की पीड़ा उपजाता है वह अज्ञानी केवल वैर का भागी होता है। यह स्थावर-वनस्पतिकाय की अपेक्षा अनर्थदंड है।

कच्छार, जलाशयादि, झीलादि, जल से परिवेष्टित स्थान, घास से परिपूर्ण स्थान, अटवी, गहन अटवी, उतारभूमि, वन, वन के दुर्गमस्थल, पर्वत, पर्वत के दुर्गमस्थलों पर

तृण के ढेर एकत्रित करके स्वयं उनको अकारण—निरुद्देश्य अग्नि से प्रज्ज्वलित करता है, दूसरे से प्रज्ज्वलित करवाता है तथा प्रज्ज्वलित करने वालों का अनुमोदन करता है—यह अग्निकाय की अपेक्षा अनर्थदंड है।

उपर्युक्त तीनों व्यक्तियों को अनर्थदंडप्रत्यायिक सावद्यक्रिया लगती है।

यह दूसरा अनर्थदंड प्रत्ययिक दंड-समादान है।

टीका—**निष्प्रयोजनमेव सावद्यक्रियानुष्ठानमनर्थदण्डः।**

—सूय० श्रु २। अ। २ सू १। टीका

·४५ हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रिया (स्थान)

·४५·१ परिभाषा / अर्थ—

से जहानामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा अन्नं वा अन्निं वा हिंसिसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव निसिरइ, अन्नेण वि निसिरावेइ, अन्नं पि निसिरंतं समणुजाणइ हिंसादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। तच्चे दंड-समादाणे हिंसा-दंड-वत्तिए त्ति आहिए।

—सूय० श्रु २। अ २। सू ४। पृ० १४६

टीका—**हिंसनं हिंसा—प्राण्युपमर्दरूपा तया सैव वा दण्डो हिंसादण्डः।**

—सूय० श्रु २। अ २। सू १। टीका

यदि कोई व्यक्ति यह सोचकर कि अमुक त्रस या स्थावर प्राणी ने मुझको या मेरे परिवार को या स्वजन को या अन्य किसी को मारा है, मारता है तथा मारेगा उस त्रस या स्थावर जीव के प्राण का स्वयमेव हनन करता है, दूसरे से करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है उस व्यक्ति को हिंसादंड-प्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है।

यह तीसरा हिंसादंडप्रत्ययिक दंड-समादान है।

·४६ अकस्मात् दंडप्रत्ययिक क्रिया (स्थान)

·४६·१ परिभाषा/अर्थ—

से जहानामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वण-विदुग्गंसि वा मियवत्तिए मिय-संकप्पे मिय-पणिहाणे मिय-वहाए गंता एए मिय त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ताणं निसिरेज्जा; 'समियं वहिस्सामि'—त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविं वा कविंजलं वा विंधित्ता भवइ, इह खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसइ अकम्हा-दंडे।

से जहानामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा निलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं निसिरेज्जा, से सामगं तणगं कुमुदुगं वीही-ऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामि-त्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिंदित्ता भवइ, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसइ अकम्हा-दंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं आहिज्जइ। चउत्थे दंड-समादाणे अकम्हा-दंड-वत्तिए आहिए। —सूय० श्रु २। अ २। सू ५। पृ १४६-४७

टीका—अकस्मादनुपयुक्तस्य दण्डोऽकस्माद्दण्डः; अन्यस्य क्रिययाऽन्यस्य व्यापादनमिति। —सूय० श्रु २। अ २। सू १। टीका

यदि कोई बहेलिया—शिकार से आजीविका चलाने वाला व्यक्ति मृग को मारने के संकल्प से मृग की खोज में, शिकार के लिए कच्छार यावत् दुर्गम वनस्थलों में जाकर वहाँ किसी मृग-पशु को देखकर उसको मारने के विचार से धनुष से तीर छोड़े लेकिन बीच में ही अचानक वह तीर किसी तीतर, बटेर, चिड़िया, लावक, कबूतर, बन्दर, चातक पक्षी आदि को बींध दे—यह किसी एक को मारने के उद्देश्य से हठात् किसी अन्य को मारने वाला अकस्मात्-दंड है। यह त्रस की अपेक्षा अकस्मात्दंड है।

यदि कोई व्यक्ति—किसान शाली, व्रीहि, कोद्रव, कंगू, परक, राल आदि धान्य के खेत में निरान करते हुए श्यामादिक तृण विशेष को उखाड़ने के लिए दांती-हँसिया चलावे लेकिन बीचमें ही अचानक वह शस्त्र शालि, व्रीहि, कोद्रव, कंगू, परक, राल आदि धान्य को भी काट दे। श्यामादिक तृणविशेष को छेदने के उद्देश्य से हठात् शालि आदि धान्य को छेदने वाला यह स्थावर—वनस्पतिकाय की अपेक्षा अकस्मात्-दंड है।

उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों को अकस्मात्-दंडप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है।

यह चौथा अकस्मात्-दंडप्रत्ययिक दंड-समादान है।

·४७ दृष्टिविपर्यासप्रत्ययिक क्रिया (स्थान)

·४७·१ परिभाषा/अर्थ—

से जहानामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूयाहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्त-मेव मन्नमाणे मित्ते हय-पुव्वे भवइ दिट्ठि-विपरियासियादंडे।

से जहानामए—केइ पुरिसे गाम-घायंसि वा नगर-घायंसि वा खेड-घायंसि कब्बड़-घायंसि मडंब-घायंसि वा दोण-मुह-घायंसि वा पट्टण-घायंसि वा आसम-घायंसि वा संनिवेस-घायंसि वा निगम-घायंसि वा रायहाणि-घायंसि वा अतेणं

तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हय-पुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासियादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। पंचमे दंड-समादाणे दिट्ठि-विपरियासिया-दंडवत्तिए त्ति आहिए।
—सूय० श्रु २ । अ २ । सू ६ । पृ० १४७

टीका—दृष्टेर्विपर्यासो रज्जुमिव सर्पबुद्धिस्तया दंडो दृष्टिविपर्यासोऽबुद्धिदण्डः। तद्यथा लेष्टुकादिबुद्ध्या शराद्यभिघातेन चटकादिव्यापादनम्।
—सूय० श्रु २ । अ २ । सू १ । टीका

यदि कोई व्यक्ति माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि के सहवास में रहता हुआ ज्ञातिका परिपालन करने के लिये अपने मित्र को शत्रु समझ कर, भ्रम से उसे मारता है। यह मित्र को शत्रु के भ्रम से मारने वाला दृष्टिविपर्यासदंड है।

यदि कोई व्यक्ति गाँव, नगर, खेड (नदी से परिवेष्टित), खर्वट (पहाड़ियों के बीच में बसा हुआ गाँव), मंडव (जिसके आस-पास कोसों की दूरी पर कोई गाँव न हो), द्रोणमुख (बंदरगाह), पट्टण (रत्न आदि की खदान वाला गाँव), आश्रम (तापसों का निवासस्थान), सन्निवेश (कटकादि का वास या मंडी), निगम (व्यापार का मुख्य केन्द्रस्थल), राजधानी पर डाकूदल या अन्य के द्वारा धावा होने पर मार-काट के समय जो चोर नहीं है उसे चोर के भ्रम में मार देता है। यह अचोर को चोर के भ्रम में मारने वाला दृष्टि-विपर्यासदंड है।

उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों को दृष्टिविपर्यासदंडप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है।

यह पाँचवाँ दृष्टिविपर्यासदंड-प्रत्ययिक दंडसमादान है।

·४८ मृषावाद क्रिया (स्थान)

·४८·१ परिभाषा / अर्थ--

(क) सतोऽपलापोऽसतश्च प्ररूपणं मृषावादः, स च लोकालोकगतसमस्तवस्तु-विषयोऽपि घटते।
—पण्ण० प २२ । सू १५७६ । टीका

(ख) मृषावादप्रत्ययिकः स च सद्भूतनिह्नवासद्भूतारोपणः।
—सूय० श्रु २ । अ २ । सू १ । टीका

(ग) मृषा—मिथ्यावदनं वादो मृषावादः, स च द्रव्यभावभेदात् द्विधा, अभूतोद्भावनादिभिश्चतुर्धा वा।
—ठाण० स्था १ । सू ४८ । टीका

झूठ बोलना मृषावाद है। सत्य वस्तु का अपलाप करना तथा असत्य का प्रतिपादन करना मृषावाद है। लोकालोक में स्थित समस्त वस्तु के विषय में मृषावाद क्रिया हो सकती है।

·४८·२ मृपावादक्रिया और जीव —

से जहानामए—केइ पुरिसे आयहेउं वा नाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवार-हेउं वा सयमेव मुसं वयइ, अन्नेणं पि मुसं वाएइ, मुसं वयंतं पि अन्नं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। छट्ठे किरिय-ट्ठाणे मोसावत्तिए त्ति आहिए।
—सूय० श्रु २। अ २। सू ७। पृ० १४७

कोई व्यक्ति अपने लिए, जाति, गृहस्थी या परिवार के लिए स्वयं झूठ बोले, दूसरे से झूठ बुलवाए या झूठ बोलते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करे तो उसको मृपावादप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है। यह छठा मृपावादप्रत्ययिक क्रियास्थान है।

·४८·३ मृपावादक्रिया और जीवदंडक :—

(क) अत्थि णं भंते! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ? ······ एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा मुसावाए। (देखो क्रमांक ·२२·४)
—भग० श १। उ ६। प्र २०६ से २१५। पृ० ४०३

(ख) अत्थि णं भंते! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ? गोयमा! सव्वदव्वेसु, एवं निरंतरं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।
—पण्ण० प २२। सू १५७६। पृ० ४७६

जीव मृपावाद की क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं। मृपावाद की क्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को और कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। मृपा-वाद की क्रिया कृत है, अकृत नहीं है, मृपावाद की क्रिया आत्मकृत है, परकृत या तदुभय-कृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है बिना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी मृपावाद की क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा वह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव की तरह अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औधिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

·४८·४ मृपावादक्रिया और कर्मप्रकृति का बन्ध :—

जीवे णं भंते! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ? ······ (पूरे पाठ के लिए देखो क्रमांक २२·५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।
—पण्ण० प २२। सू १५८१ से १५८४। पृ० ४७९-८०

मृषावादक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है—[देखो क्रमांक २२·५]

·४९ अदत्तादान क्रिया (स्थान)

·४९·१ परिभाषा / अर्थ—

(क) अदत्तस्य परकीयस्याऽऽदानं स्वीकरणमदत्तादानं स्तेयम्।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १। टीका

(ख) यद् वस्तु ग्रहीतुं धारयितुं वा शक्यते तद्विषयमादानं भवति न शेषविषयम् अतोऽदत्तादानसूत्रे 'गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु' इत्युक्तम्।

—पण्ण० प २२। सू १५७७। टीका

(ग) अदत्तस्य—स्वामिजीवतीर्थंकरगुरुभिरवितीर्णस्याननुज्ञतस्य सचित्ताचित्तमिश्रभेदस्य वस्तुनः आदानं—ग्रहणमदत्तादानं चौर्यमित्यर्थः, तच्च विविधोपाधिवशादनेकविधमिति।

—ठाण० स्था १। सू ४८। टीका

दूसरे की वस्तु को उसके स्वामी आदि की आज्ञा के बिना ग्रहण करना, स्वीकार करना, धारण करना अदत्तादान- चोरी करना अदत्तादान है। अदत्तादान जो द्रव्य या वस्तु ग्रहण की जा सकती है या धारण की जा सकती है उसीके विषय में हो सकता है अन्य विषयों में नहीं। अदत्तादान के निमित्त से होने वाली क्रिया—अदत्तादानक्रिया।

·४९·२ अदत्तादानक्रिया और जीव :—

से जहानामए—केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिण्णं आदियइ, अन्नेण वि अदिण्णं आदियावेइ, अदिण्णं आदियंतं अन्नं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। सत्तमे किरिय-ट्ठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिए।

—सूय० श्रु० २। अ २। सू ८। पृ० १४७

यदि कोई व्यक्ति अपने लिए, जाति, गृहस्थी या परिवार के लिए स्वयं अदत्तादान ग्रहण करे अर्थात् चोरी करे, दूसरे से करवाए और चोरी करते हुए का अनुमोदन करे तो उस व्यक्ति को अदत्तादानप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है। यह सातवाँ अदत्तादानप्रत्ययिक क्रियास्थान है।

·४९·३ अदत्तादानक्रिया और जीवदण्डक :—

(क) अत्थि णं भंते! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ? ××× । एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा। जहा पाणाइवाए ××× तहा अदिन्नादाणे (देखो क्रमांक ·२२·४)

भग० श १। उ ६। प्र० २०६ से २१५। पृ० ४०३

(ख) अत्थि णं भंते! जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते! जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ? गोयमा! गहण-धारणिज्जेसु दव्वेसु, एवं नेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

—पण्ण० प २२। सू १५७७। पृ० ४७६

जीव अदत्तादानक्रिया ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्यों के विषय में करते हैं। अदत्तादानक्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को और कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। अदत्तादान क्रिया कृत है, अकृत नहीं है; अदत्तादानक्रिया आत्मकृत है, परकृत या तदुभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है बिना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है। जो क्रिया की जा रही है तथा की जायेगी—यह सब अनुक्रमपूर्वक की जाती है किन्तु बिना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी अदत्तादानक्रिया ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव की तरह अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औघिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

·४९·४ अदत्तादानक्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते! पाणइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ? .... (पूरे पाठ के लिए देखो क्रमांक २२·५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२। सू १५८१ से १५८४। पृ० ४७९-८०

अदत्तादानक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्म-प्रकृति का बन्ध करता है जैसा प्राणातिपातक्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है। (देखो क्रमांक ·२२·५)

·५० अध्यात्म-प्रत्ययिक क्रिया (स्थान)

·५०·१ परिभाषा / अर्थ :—

से जहानामए—केइ पुरिसे नत्थि णं केइ किंचि विसंवादेइ सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहय-मणसंकप्पे चिंता-सोग-सागर-संपविट्ठे करयल-पल्हत्थ-मुहे अट्टज्झाणोवगए-भूमि-गय-दिट्ठिए झियाइ, तस्स णं अज्झत्थया आसंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति, तंजहा—कोहे, माणे, माया, लोहे, अज्झत्थमेव कोह-माण-माया-

लोहे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिए त्ति आहिए।
—सूय० श्रु २। अ २। सू ६। पृ० १४७

टीका— आत्मन्यध्यध्यात्म, तत्र भव आध्यात्मिको दण्डस्तद्यथा--निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन ह्रियमाणश्चिन्तासागरावगाढः सन्तिष्ठते।
—सूय० श्रु २। अ २। सू १। टीका

यदि कोई व्यक्ति विषाद का कोई कारण न होने पर भी हीन-दीन-दुष्ट और बुरे विचार करता रहता है ; अनवस्थित—अस्थिर संकल्प वाला होता है ; चिन्ता-शोकसागर में डूबता रहता है; हथेली में मुँह रखकर, आर्तध्यान में लीन होकर भूमि की ओर एकाग्रचित्त से देखता रहता है। उसकी आत्मा में क्रोध-मान-माया-लोभ के भाव स्वचित्त से उत्पन्न होते रहते हैं तथा इस प्रकार स्वतः उत्पन्न क्रोध-मान-माया-लोभ की भावना से बिना निमित्त उसका अध्यात्म दुष्ट होता रहता है ऐसे अपने आपमें शोक मग्न व्यक्ति के अध्यात्मप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है। यह आठवाँ अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान है। बुरे विचार उस व्यक्ति की आत्मा में स्वतः बिना किसी बाह्य निमित्त के उत्पन्न होते रहते हैं तथा उसकी आत्मा में ही रमण करते हैं इसलिए इनको अध्यात्म कहा है तथा इनके कारण से होनेवाली क्रिया अर्थात् कर्मबंध को अध्यात्मप्रत्ययिक सावद्यक्रिया कहा है।

'५१ मानप्रत्ययिकी क्रिया (स्थान)

'५१'१ परिभाषा / अर्थ—

जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, प्रज्ञा आदि के मद-अहंकार-अभिमान-गर्व-घमंड के निमित्त से होने वाली क्रिया मानप्रत्ययिकी क्रिया है। सर्व द्रव्यों के विषय में मानप्रत्ययिकी क्रिया हो सकती है।

जाति, कुलादि मद के कारण अन्य के प्रति अवहेलना, निन्दा, घृणा, भर्त्सना, पराभव और तिरस्कार—अपमान के भाव होना या अन्य की अवहेलना आदि करना मानप्रत्ययिकी क्रिया के लक्षण हैं।

'५१'२ मानप्रत्ययिकी क्रिया और जीवदंडक :—

(क) अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि ! कम्हि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं ××× माणेणं ×××। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।
—पण्ण० प २२। सू १५७६। पृ० ४७६

किसी जीव या अजीव वस्तु के प्रति अहंकार, अभिमान या मद के भाव लाना मान है। ये भाव कषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं। मान की क्रिया अजीव तथा जीव सभी द्रव्यों के प्रति जीव करते हैं। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों के प्रति मान की क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि ××× । एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले । (देखो क्रमांक '२२'४)

—भग० श १ । उ ६ । प्र २१५ । पृ० ४०३

जीव मान से क्रिया करते हैं। मानक्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। मानक्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है विना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी मानक्रिया सव द्रव्यों के विषय में करते हैं। यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औघिक जीव की तरह यावत् अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सव दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औघिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

'५१'३ मानप्रत्ययिक क्रिया और जीव—

(क) से जहानामए—केइ पुरिसे जाइ-मएण वा, कुल-मएण वा, वल-मएण वा, रूव-मएण वा, तव-मएण वा, सुय-मएण वा, लाभ-मएण वा, इस्सरिय-मएण वा, पन्नामएण वा, अन्नयरेण वा, मय-ट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेइ, निंदेइ, खिंसइ, गरहइ, परिभवइ, अवमन्नेइ, इत्तरिए अयं, अहमंसि पुण विसिट्ठ-जाइ-कुल-वलाइ-गुणोववेए—एवं अप्पाणं समुक्कस्से, देह-च्चुए कम्म-विइए अवसे पयाइ । तंजहा—गब्भाओ गब्भं, जम्माओ जम्मं, माराओ मारं, नरगाओ नरगं, चंडे, थद्धे चवले माणी यावि भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । नवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिए त्ति आहिए । —सूय० श्रु २ । अ २ । सू १० । पृ० १४७-४८

यदि कोई व्यक्ति जातिमद, कुल, वल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, प्रज्ञामद आदि के मद में उन्मत्त होकर दूसरे मनुष्यों की अवहेलना, निन्दा, घृणा, भर्त्सना, पराभव और तिरस्कार करता है तथा मन में सोचता है कि ये व्यक्ति इतर—नीच पामर हैं तथा मैं विशिष्ट जाति, कुल, वलादि गुणों से युक्त हूँ। इस प्रकार अहंकार में चूर वह व्यक्ति देह को छोड़कर

कर्म के वशीभूत संसार में परवश परिभ्रमण करता है यथा गर्भ के पश्चात् गर्भ को, जन्म के पश्चात् जन्म को, मृत्यु के पश्चात् मृत्यु को, नरक के पश्चात् नरक को प्राप्त होता रहता है। ऐसे रौद्र अहंकारी, विनयहीन, चपल, अभिमानी व्यक्ति को मानप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है। यह नववाँ मानप्रत्ययिक क्रियास्थान है।

टीका—जात्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनाः परावमदर्शी तस्य मानप्रत्ययिको दण्डो भवति। —सूय० श्रु २। अ २। सू १ टीका

'५१'४ मानप्रत्ययिक क्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ?......... (पूरे पाठ के लिए देखो क्रमांक '२२'५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२। सू १५८४। पृ० ४७९-८०

मानप्रत्ययिक क्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है (देखो क्रमांक '२२'५)

'५२ मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रिया (स्थान)

'५२'१ परिभाषा/अर्थ :—

से जहानामए—केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहा-लहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ, तंजहा—सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवइ, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवइ, अगणि-कायेणं कायं उवडहित्ता भवइ, जोत्तेण वा वेत्तेण वा नेत्तेण वा तयाइ वा (कण्णेण वा छियाए वा) लयाए वा (अन्नयरेण वा दव-रएण वा) पासाइं उद्दालित्ता भवइ, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवइ। तहप्पगारे पुरिसजाए संवसमाणे दुम्मणा भवइ, पवसमाणे सुमणा भवइ। तहप्पगारे पुरिसजाए दंड-पासी दंड-गुरुए, दंड-पुरक्कडे अहिए, इमंसि लोगंसि अहिए, परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसी-यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। दसमे किरियट्ठाणे मित्त-दोस-वत्तिए त्ति आहिए।

—सूय० श्रु २। अ २। सू ११। पृ० १४८

यदि कोई व्यक्ति माता, पिता, भाई, भगिनी, स्त्री, पुत्री, पुत्र, पुत्रवधू आदि अन्य परिजनों के साथ रहते हुए उनमें से किसी के थोड़े से अपराध के वदले क्रोधित होकर भारी

या कठोर दंड देता है, जैसे कि शीतकाल में ठण्डे पानी में डुबोना, गर्मी के दिनों में गरम जल छिड़कना, आग से शरीर को दागना, बेंत, छड़ी, रस्सी, चाबुक, कोड़े आदि से मार-मार कर पीठ की खाल उधेड़ देना और डंडे से, हाड़ से, मुष्टि से, पत्थर से, ठीकरे से शरीर पर प्रहार करना। क्षुद्र अपराध के लिए कठोर दंड देने वाले इस प्रकार के व्यक्ति के साथ रहने से मन में बड़ी अशान्ति होती है तथा उसको छोड़कर अलग रहने से शान्ति मिलती है। छोटे अपराध के लिए बड़ा दंड देने वाला ऐसा व्यक्ति छोटी सी बात पर अत्यन्त क्रोधित होता है, क्रूर दंड देता है तथा सदा दंड देने के लिए तत्पर रहता है। वह व्यक्ति इस लोक में भी अपना अहित करता है, परलोक में भी अहित करता है क्योंकि वह जीव क्षण-क्षण में ईर्ष्या से जलता है, क्रोधित होता है, पीठ पीछे निन्दा करता है। ऐसे व्यक्ति को मित्रद्वेषप्रत्ययिक सावद्यक्रिया लगती है। यह दशवाँ मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रिया-स्थान है।

टीका—मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोषस्तत्प्रत्ययिको दण्डो भवति।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १। टीका

'५३ लोभप्रत्ययिक क्रिया (स्थान)

'५३'१ परिभाषा / अर्थ—

(क) लोभप्रत्ययिको लोभनिमित्तो दण्ड इति।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १। टीका

किसी जीव-अजीव द्रव्य की कामना—लिप्सा-लालसा-आसक्ति-मूर्च्छा से होनेवाली क्रिया लोभप्रत्ययिकक्रिया है।

'५३'२ लोभप्रत्ययिक क्रिया और जीवदण्डक :—

(क) अत्थि णं भंते! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ? हंता, अत्थि! कम्हि णं भंते! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ? गोयमा! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं एवं xxx लोभेणं xxx। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेसु) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।

(ख) अत्थि णं भंते ! जीवा णं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि । ××× । एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले । (देखो क्रमांक '२२ ४)

—भग० श १ । उ ६ । प्र २१५ । पृ० ४०३

जीव लोभ से क्रिया करते हैं । लोभक्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है । लोभक्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है । यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है, विना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है ।

नारकी जीव भी लोभक्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औघिक जीव की तरह यावत् अनुक्रम-पूर्वक की जाती है ।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दण्डकों में नारकी के समान कहना चाहिए ।

एकेन्द्रियों का कथन औघिक जीव की तरह कहना चाहिए ।

'५३'३ लोभप्रत्ययिक क्रिया का सदृष्टान्त विवेचन :—

जे इमे भवंति, तंजहा—आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुई— रहस्सिया नो बहु-संजया नो बहु-पडि-विरया सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेहिं ते अप्पणो सच्चा-मोसाइं एवं विउज्जंति । अहं न हंतव्वो, अन्ने हंतव्वा, अहं न अज्जावेयव्वो, अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं न परिघेयव्वो, अन्ने परिघेयव्वा, अहं न परितावेयव्वो, अन्ने परितावेयव्वा, अहं न उद्दवेयव्वो, अन्ने उद्दवेयव्वा । एवमेव ते इत्थि-कामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया गरहिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउ-पंचमाइं, छ-दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोग-भोगाइं काल-मासे कालं किच्चा अन्नयरेसु किव्विसि-एसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति । तओ विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइ-मूयत्ताए पच्चायंति । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिए ।

— सूय० श्रु २ । अ २ । सू १३ । पृ० १४८-४९

कई व्यक्ति अरण्यवासी हैं; कई पर्णकुटीवासी हैं, कई ग्राम के समीप रहने वाले हैं, कई रहस्यवादी—गुप्त साधना करने वाले हैं । ऐसे श्रमण-ब्राह्मण पूरे संयत नहीं होते हैं, सर्वव्रतपालक भी नहीं होते हैं तथा सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्व की हिंसा से निवृत्त नहीं होते हैं वे अधूरे संयति सत्यासत्य मिश्रभाषा बोलते हैं—यथा—वर्णोत्तम को नहीं मारना चाहिए, उन पर आज्ञा नहीं चलानी चाहिए, उनका परिघात नहीं करना चाहिए, उनको परिताप

·५४ मैथुन (अब्रह्मचर्य) पापस्थान क्रिया

·५४ १ परिभाषा / अर्थ :—

(क) मैथुनाध्यवसायोऽपि चित्रलेपकाष्ठादिकर्मगतेषु रूपेषु रूपसहगतेषु वा—स्त्र्यादिषु ततो मैथुनसूत्रे उक्तम्—'रूवेसु वा रूवसहगएसु वा' इति।

—पण्ण० प २२। सू १५७८। टीका

(ख) तथा मिथुनस्य—स्त्री-पुंसलक्षणस्य कर्म मैथुनम्—अब्रह्म।

—ठाण० स्था १। सू ४८। टीका

चित्रित अथवा दारु-कार्यादिगत रूप में अध्यवसाय से अथवा रूपवान् द्रव्य (स्त्र्यादि) के विषय में जीव मैथुनक्रिया करता है। नारकी से लेकर वैमानिक देवों तक के जीव इसी प्रकार मैथुनक्रिया करते हैं।

·५४·२ भेद

(क) पडिक्कमामि ××× अट्ठारसविहे अबंभे।

—आव ० आ ४। सू ६। पृ० ११६८-६६

(ख) तथा मिथुनस्य—स्त्रीपुंसलक्षणस्य कर्म मैथुनम्—अब्रह्म, तत् मनोवाक्कायानां कृतकारितानुमतिभिरौदारिकवैक्रियशरीरविषयाभिरष्टादशधा विविधोपाधितो बहुविधतरं वेति।

—ठाण० स्था १। सू ४८। टीका

स्त्री-पुरुष के सम्पर्क से मैथुनक्रिया होती है। यह मन-वचन-काय की अपेक्षा से तीन प्रकार की तथा इन तीनों की कृत-कारित-अनुमोदित (करता हूँ, कराता हूँ, किये हुए का अनुमोदन करना) की अपेक्षा से नौ भेद हुए। फिर इन नौ भेदों के औदारिक तथा वैक्रिय शरीरके भेद की अपेक्षा मैथुनक्रिया के कुल अठारह भेद हुए। अथवा अन्य नामों से (उपाधि से) इसके अनेक भेद हैं या हो सकते हैं।

·५४·३ मैथुन (अब्रह्मचर्य) क्रिया तथा जीवदंडक :—

(क) अत्थि णं भंते! जीवा णं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? ×××। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× मेहुणे। (देखो ·२२·४)

—भग० श १। उ ६। प्र २१५। पृ० ४०३

(ख) अत्थि णं भंते! जीवा णं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते! जीवा णं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा! रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु, एवं नेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

—पण्ण० प २२। सू १५७८। पृ० ४७६

जीव मैथुन की क्रिया रूप अथवा रूपवान् द्रव्य (स्त्र्यादि) के विषय में करते हैं।

मैथुनक्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को और कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। मैथुन की क्रिया कृत है, अकृत नहीं है, मैथुन की क्रिया आत्मकृत है, परकृत या तदुभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है बिना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी मैथुन की क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा वह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव को तरह यावत अनुक्रमपूर्वक की जाती है। एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक नारकी की तरह कहना चाहिए। एकेन्द्रियों का कथन औधिक जीव की तरह कहना चाहिए।

'५४'४ अब्रह्मचर्य क्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? ......(पूरे पाठ के लिये देखो क्रमांक '२२'५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२ । सू १५८४ । पृ० ४७६-८०

मैथुन (अब्रह्मचर्य) क्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है।

(देखो क्रमांक '२२'५)

'५५ क्रोधप्रत्ययिक पापस्थान क्रिया

'५५'१ परिभाषा / अर्थ :—

किसी वस्तु—द्रव्य के प्रति किसी कारण प्रद्वेष—अप्रीति हो जाने से उस वस्तु—द्रव्य के प्रति क्रोध-कोप-रोष-गुस्सा-रीस-उग्रता-अक्षमा भाव होने के निमित्त से होनेवाली क्रिया क्रोधक्रिया है। यह क्रिया सब द्रव्यों के प्रति हो सकती है।

'स्वपरात्मनोऽप्रीतिलक्षणः क्रोधः' अर्थात् स्व-पर या सर्व द्रव्यों के प्रति अप्रीति भाव होना क्रोध का लक्षण है।

'५५'२ क्रोधप्रत्ययिक क्रिया और जीवदण्डक—

(क) अत्थि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं

नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं कोहेणं ×××। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति ×××।

—पण्ण० प २२। सू. १५७६-८०। पृ० ४७६

किसी जीव या अजीव वस्तु के प्रति उग्र या रोप भाव लाना क्रोध है। ये भाव कषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं। क्रोधक्रिया अजीव तथा जीव सभी द्रव्यों के प्रति जीव करता है। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों के प्रति क्रोध से क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ? जाव निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं। सा भंते! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ ? गोयमा! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ। सा भंते! किं अत्तकडा कज्जइ, परकडा कज्जइ, तदुभयकडा कज्जइ ? गोयमा! अत्तकडा कज्जइ, नो परकडा कज्जइ, नो तदुभयकडा कज्जइ। सा भंते! किं आणुपुव्विं कडा कज्जइ, अणाणुपुव्विं कडा कज्जइ ? गोयमा! आणुपुव्विं कडा कज्जइ, णो अणाणुपुव्विं कडा कज्जइ, जा य कडा जा य कज्जइ जाय कज्जिसइ सव्वा सा आणुपुव्विकडा नो अणाणुपुव्वि कडत्ति वत्तव्वं सिया।

अत्थि णं भंते! नेरइयाणं पाणाइवायकिरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ? जाव नियमा छद्दिसिं कज्जइ, सा भंते! किं कडा कज्जइ अकडा कज्जइ ? तं चेव जाव नो अणाणुपुव्वि कडत्ति वत्तव्वं सिया।

जहा नेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा, जाव वेमाणिया, एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ×× कोहे जाव मिच्छादंसण-सल्ले। —भग० श १। उ ६। प्र २०६ से २१५। पृ० ४०२-३

जीव क्रोध से क्रिया करते हैं। क्रोध-क्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। क्रोध-क्रिया आत्मकृत है, परकृत या तदुभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है विना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी क्रोध-क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव की तरह यावत् अनुक्रम-पूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औघिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

'५५'३ क्रोधप्रत्ययिक क्रिया और कर्मप्रकृति का बन्ध :—

जीवे णं भंते! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बन्धइ?......(पूरे पाठ के लिए देखो क्रमांक '२२'५) एवं (जाव) मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२। सू १५८४। पृ० ४७६-८०

क्रोधप्रत्ययिक क्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बन्ध करता है।

[देखो क्रमांक '२२'५]

'५६ कलह पापस्थान क्रिया :—

'५६'१ परिभाषा / अर्थ—

(क) तत्र कलहो—राटी। —ठाणा० स्था १। सू ४८। टीका

(ख) कलहो—राटिः। —पण्ण० प २२। सू १५८०। टीका

कलह अर्थात् लड़ाई-झगड़ा-विग्रह-राड़-कजिया।

'५६'२ कलहक्रिया और जीवदण्डक—

(क) अत्थि णं भंते! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ? गोयमा! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं ××× कलहेणं ×××। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।

—पण्ण० प २२। सू १५७९। पृ० ४७९

किसी जीव या अजीव वस्तु के साथ राग-द्वेष वश लड़ाई-झगड़ा-विग्रह-राड़-कजिया आदि करना कलह है। कलह करने के भाव कषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं। कलह की क्रिया अजीव-जीव सभी द्रव्यों के साथ जीव करता है। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों के साथ कलह की क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते! जीवा णं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ? हंता, अत्थि ×××। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। (देखो क्रमांक '२२'४)

—भग० श १। उ ६। प्र २१५। पृ० ४०३

जीव कलह से क्रिया करते हैं। कलह-क्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। कलह-क्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है विना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी कलह-क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव की तरह यावत अनुक्रम-पूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औघिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

'५६'३ कलहक्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ वंधइ?……(पूरे पाठ के लिए देखो क्रमांक '२२'५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२। सू १५८४। पृ० ४७६-८०

कलहक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है।

'५७ अभ्याख्यान पापस्थान क्रिया

'५७'१ परिभाषा / अर्थ—

(क) अभ्याख्यानं—प्रकटमसद्दोषारोपणम्।

—ठाण० स्था १। सू ४८। टीका

(ख) अभ्याक्खानं—असद्दोपारोपणं यथा—अचौरेऽपि चौरस्त्वमपारदारिकेऽपि पारदारिकस्त्वमित्यादि, इदं मृषावादेऽप्यन्तर्गतं परमुत्कृष्टोऽयं दोष इति पृथगुपात्तम्।

—पण्ण० प २२। सू ३। टीका

खोटे-झूठे दोष का आरोपण करना—लगाना—अभ्याख्यान है। जैसे जो चोर नहीं है उसको चोर कहना, जो परस्त्री-गमन नहीं करता है उसको परस्त्री-लम्पट कहना। अभ्याख्यान का मृषावाद में समावेश हो जाता है लेकिन यह महान् दोष है अतः इसको अलग ग्रहण किया गया है।

'५७'२ अभ्याख्यानक्रिया और जीवदंडक :—

(क) अत्थि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं XXX अब्भक्खाणेणं XXX। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।

—पण्ण० प २२। सू १५८०। पृ० ४७६

किसी जीव या अजीव वस्तु के ऊपर द्वेषवश झूठा कलंक लगाना, झूठा दोषारोपण करना—अभ्याख्यान है। अभ्याख्यान के भाव कषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं। अभ्याख्यानक्रिया अजीव तथा जीव सभी द्रव्यों के प्रति जीव करते हैं। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों के प्रति अभ्याख्यान से क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते ! जीवा णं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। XXX। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा XXX कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। (देखो '२२'४)

—भग० श १। उ ६। प्र २१५। पृ० ४०३

जीव अभ्याख्यान से क्रिया करते हैं। अभ्याख्यान-क्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। अभ्याख्यान-क्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है बिना अनुक्रपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी अभ्याख्यान-क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव की तरह यावत् अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औधिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

'५७'३ अभ्याख्यानक्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?..... (पूरे पाठ के लिए देखो '२२'५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२। सू १५८४। पृ० ४७६-८०

अभ्याख्यानक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है।

·५८ पैशुन्य पापस्थान क्रिया

·५८·१ परिभाषा / अर्थ—

(क) पैशुन्यं—पिशुनकर्म प्रच्छन्नं सदसद्दोषाविर्भावनम्।

—ठाण० स्था १। सू ४८। टीका

(ख) पैशुन्यं—परोक्षे सतोऽसतो वा दोषस्योद्घाटनम्।

—पण्ण० प २२। सू १५८०। टीका

पीठ पीछे किसी के ऊपर झूठा या सच्चा दोष लगाना या चुगली खाना—पैशुन्य है।

·५८·२ पैशुन्यक्रिया और जीवदंडक :—

(क) अत्थि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं ××× पेसुन्नेणं ×××। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।

—पण्ण० प २२। सू १५८०। पृ० ४७६

किसी जीव या अजीव वस्तु के ऊपर द्वेषवश पीठ पीछे चुगली खाना—पैशुन्य है। पैशुन्य के भाव कषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं। पैशुन्य की क्रिया अजीव तथा जीव सभी द्रव्यों के विषय में जीव करता है। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों के विषय में पैशुन्य की क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते ! जीवा णं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। ×××। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। (देखो ·२२·४)

—भग० श १। उ ६। प्र २१५। पृ० ४०३

जीव पैशुन्य से क्रिया करते हैं। पैशुन्यक्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। पैशुन्य-क्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है, बिना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी पैशुन्यक्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव की तरह यावत् अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडको में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औधिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

'५८'३ पैशुन्यक्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ······(पूरे पाठ के लिए देखो '२२'५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२ । सू १५८४ । पृ ४७६-८०

पैशुन्यक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है।

'५९ परपरिवाद पापस्थान क्रिया

'५९'१ परिभाषा/अर्थ—

(क) परेषां परिवादः परपरिवादो विकत्थनमित्यर्थः।

—ठाण० स्था १ । सू ४८ । टीका

(ख) परपरिवादः प्रभूतजनसमक्षं परदोषविकत्थनम्।

—पण्ण० प २२ । सू ३ । टीका

दुनिया के सामने या जनसमूह के समक्ष दूसरे पर दोष लगाना—निन्दा करना, बुराई करना—परपरिवाद है।

'५९'२ परपरिवादक्रिया और जीवदंडक :—

(क) अत्थि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं एवं ××× परपरिवाएणं ×××। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।

—पण्ण० प २२ । सू १५८० । पृ० ४७६

किसी जीव या अजीव वस्तु की द्वेषवश जन-समूह के सामने या लोगों या जन-जन में निन्दा करना, बुराई करना—परपरिवाद है। परपरिवाद के भाव कषाय मोहनीयकर्म

के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं। परपरिवाद-क्रिया जीव-अजीव सभी द्रव्यों के विषय में जीव करते हैं। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों के विषय में परपरिवाद क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते ! जीवा णं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। ××× । एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। (देखो '२२'४)

—भग० श १ । उ ६ । प्र २१५ । पृ० ४०३

जीव पर-परिवाद से क्रिया करते हैं। परपरिवाद-क्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। परपरिवाद-क्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है, विना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी परपरिवाद-क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औघिक जीव की तरह यावत् अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औघिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

'५६'३ पर-परिवादक्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?........(पूरे पाठ के लिये देखो '२२'५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२ । सू १५८४ । पृ ४७६-८०

पर-परिवादक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है।

'६० रति-अरति पापस्थानक्रिया

'६०'१ परिभाषा / अर्थ—

(क) अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजश्चित्तविकार उद्वेगलक्षणो रतिश्च तथाविधानन्दरूपा अरतिरति इत्येकमेव विवक्षितं, यतः क्वचन विषये या रतिस्तामेव

विषयान्तरापेक्षया अरतिं व्यपदिशन्त्येवमरतिमेव रतिमित्यौपचारिकमेकत्वमनयोरस्तीति। —ठाण० स्था १। सू ४८। टीका

(ख) यदुदयाद् बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रमोदमाधत्ते तत् रतिमोहनीयं, यदुदयवशात् पुनर्बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु अप्रीतिं करोति तदरतिमोहनीयम्।

—पण्ण० प २३। उ २। सू १६६१। टीका

किसी द्रव्य के विषय में विकार-अप्रीति-उद्वेग आना अरति है तथा किसी द्रव्य के विषय में आनन्द-प्रमोद-सुख अनुभूत होना रति है। रति-अरति का विवेचन एक साथ है क्योंकि जिस द्रव्य के विषय में कभी अरति होती है उसी द्रव्य के विषय में कालान्तर—विषयान्तर से रति भी होती है। यद्यपि नोकषायमोहनीय के भेदों में अरति-रति की अलग-अलग गणना की गई है। यथा—

नोकसायवेयणिज्जे णं भंते! कम्मे कइविहे पन्नत्ते? गोयमा! णवविहे पन्नत्ते, तंजहा—इत्थीवेए (वेयणिज्जे) पुरिसवेए (वेयणिज्जे) नपुंसगवेए (वेयणिज्जे), हासे, रई, अरई, भए, सोगे, दुगुंछा। —पण्ण० प २३। उ २। सू १६६१। पृ० ४६०

·६०·२ रति-अरतिक्रिया और जीवदंडक :—

(क) (अत्थि णं भंते! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ? गोयमा! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं) एवं xxx अरइरईए xxx। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।

—पण्ण० प २२। सू १५८०। पृ० ४७६

बाह्य-आभ्यन्तर वस्तु में प्रमोद-आनंद-सुख की अनुभूति होना रति है तथा बाह्य-आभ्यंतर वस्तु में अप्रीति-उद्वेग आना अरति है। रति-अरति के भाव नोकषायमोहनीय के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं। रति-अरति की क्रिया जीव तथा अजीव सभी द्रव्यों में जीव करता है। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों में रति-अरति की क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते! जीवा णं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ? हंता, अत्थि। xxx। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा xxx कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। (देखो क्रमांक ·२२·४)।

—भग० श १। उ ६। प्र० २१५। पृ० ४०३

जीव रति-अरति से क्रिया करते हैं। रति-अरति-क्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार

दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। रति-अरति-क्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है विना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी रति-अरतिक्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव की तरह यावत् अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औधिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

·६०·३ रति-अरतिक्रिया और कर्मप्रकृति का वंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?........ (पूरे पाठ के लिए देखो '२२·५) (एवं) **जाव मिच्छादंसणसल्ले।**

—पण्ण० प २२। सू १५८४। पृ० ४७६-८०

रति-अरतिक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का वंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का वंध करता है।

·६१ मायामृषा पापस्थान क्रिया

·६१·१ परिभाषा / अर्थ—

(क) 'मायामोसं' त्ति माया च —निकृतिर्मृषा च - मृषावादो मायया वा सह मृषा मायामृषा प्राकृतत्वान्मायामोसं दोषद्वययोगः।

—ठाण० स्था १ सू४८। टीका

(ख) 'मायामोसेण' मिति माया च मृषा च समाहारो द्वन्द्वः, द्वन्द्वैकत्वे नपुंसकत्वमिति 'क्लीवे' इति ह्रस्वत्वं तेन इह समुदायो विवक्षितो, महाकर्मवन्धहेतुश्चेति मृषावादमायाभ्यां पृथगुपात्तम्। —पण्ण० प २२। सू १५८०। टीका

किसी द्रव्य के विषय में माया—कपट सहित असत्य वोलना मायामृषा है। इसमें माया तथा मृषा दोनों का योग है। महाकर्म के वंध का हेतु होने से इसका माया तथा मृषा से अलग विवेचन किया गया है।

·६१·२ मायामृषाक्रिया और जीवदंडक :—

(क) अत्थि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि

णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं एवं ××× मायामोसेणं ×××। सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।

—पण्ण० प २२ । सू १५८० । पृ० ४७६

किसी द्रव्य के विषय में रागद्वेषवश माया—कपट सहित असत्य बोलना—मायामृषा है। मायामृषा के भाव कषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होते हैं। माया-मृषाक्रिया अजीव-जीव सभी द्रव्यों के साथ जीव करते हैं। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों के विषय में मायामृषा से क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते ! जीवा णं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। ×××। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। (देखो '२२'४)

—भग० श १ । उ ६ । प्र २१५ । पृ० ४०३

जीव माया-मृषा से क्रिया करते हैं। माया-मृषाक्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। माया-मृषाक्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है, बिना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी माया-मृषाक्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औधिक जीव की तरह यावत् अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औधिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

'६१'३ माया-मृषावादक्रिया और कर्मप्रकृति का बंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? ······ (पूरे पाठ के लिए देखो '२२'५) (एवं) जाव मिच्छादंसणसल्ले।

—पण्ण० प २२ । सू १५८४ । पृ० ४७६-८०

माया-मृषाक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है।

———

·६२ मिथ्यादर्शनशल्य (पापस्थान) क्रिया

·६२·१ परिभाषा / अर्थ :—

(क) मिथ्यादर्शनं—विपर्यस्ता दृष्टिः, तदेव तोमरादिशल्यमिव शल्यं दुःख-हेतुत्वात् मिथ्यादर्शनशल्यमिति। —ठाण० स्था १। सू ४८। टीका

(ख) 'मिच्छादंसणसल्लेणं'ति मिथ्यादर्शनं—मिथ्यात्वं तदेव शल्यं मिथ्यादर्शन-शल्यम्। —पण्ण० प २२। सू ३। टीका

यथातथ्य वस्तु तत्त्व से विपरीत दृष्टि—मिथ्यादर्शन है। शल्य अर्थात् कांटा; मिथ्या-दर्शन रूप शल्य मिथ्यादर्शनशल्य। मिथ्यादर्शन शल्य के समान, अत्यन्त दुःखदायी होता है—जिस प्रकार किसी अंग में शल्य—कांटा चुभ जाने से घनी वेदना होती है उसी प्रकार शल्य रूप मिथ्यादर्शन आत्मा के महान् कष्ट का कारण होता है। मिथ्यादर्शन के भेदों के अनुसार मिथ्यादर्शनशल्य के भी पाँच या अनेक भेद हो सकते हैं।

·६२·२ मिथ्यादर्शनशल्यक्रिया और जीवदंडक :—

(क) अत्थि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवा णं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा। सव्वदव्वेसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं ××× मिच्छादंसणसल्लेणं। सव्वेसु जीवनेरइय-भेदेसु (भेदेणं) भाणियव्वं (भाणियव्वा) निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति।

—पण्ण० प २२। सू १५८०। पृ० ४७६

जीवादि द्रव्यों या तत्त्वों के विषय में मिथ्या—विपरीत—गलत दृष्टिरूप शल्य होना—मिथ्यादर्शनशल्य है। यथातथ्य वस्तुतत्त्व से विपरीत दृष्टि जीव के आत्मप्रदेशों में शल्य की भाँति चुभती है। मिथ्यादर्शनशल्य दर्शनमोहनीयकर्म के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होता है। मिथ्यादर्शनशल्यक्रिया सभी द्रव्यों—तत्त्वों के विषय में जीव करते हैं। नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीव सभी द्रव्यों—तत्त्वों के विषय में मिथ्यादर्शनशल्य से क्रिया करते हैं।

(ख) अत्थि णं भंते ! जीवा णं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता, अत्थि। ×××। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, जहा पाणाइवाए तहा ××× कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। (देखो ·२२·४) —भग० श १। उ ६। प्र २१५। पृ० ४०३

जीव मिथ्यादर्शनशल्य से क्रिया करते हैं। मिथ्यादर्शनशल्यक्रिया यदि व्याघात नहीं हो तो छओं दिशाओं को और व्याघात होने से कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को, कदाचित् पाँच दिशाओं को स्पर्श करती है। मिथ्यादर्शनशल्य-क्रिया

आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है। यह क्रिया अनुक्रमपूर्वक की जाती है, विना अनुक्रमपूर्वक नहीं की जाती है।

नारकी जीव भी मिथ्यादर्शनशल्य-क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते हैं तथा यह क्रिया यावत् नियमपूर्वक छओं दिशाओं को स्पर्श करती है तथा औघिक जीव की तरह यावत् अनुक्रमपूर्वक की जाती है।

एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देव तक सब दंडकों में नारकी के समान कहना चाहिए।

एकेन्द्रियों का कथन औधिक जीवों की तरह कहना चाहिए।

नोट : क्रमांक '१७ तथा '४० भी देखिये।

'६२'३ मिथ्यादर्शनशल्यक्रिया और कर्मप्रकृति का बंधः—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?·········(पूरे पाठ के लिये देखो '२२'५) (एवं) **जाव मिच्छादंसणसल्ले।**

—पण्ण० प २२ । सू १५८४ । पृ० ४७६-८०

मिथ्यादर्शनशल्यक्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्मप्रकृति का बंध करता है जैसा प्राणातिपातक्रिया करता हुआ जीव कर्मप्रकृति का बंध करता है। (देखो क्रमांक '२२'५)

'६३ एजनादिक्रिया

'६३'१ परिभाषा / अर्थ—

योग के कारण आत्मप्रदेशों का कम्पन होना, परिस्पंदन होना, क्षुब्ध होना, चंचल होना आदि में एजनादि क्रियाओं का समावेश होता है।

एजना - कंपन करना।

व्येजना—विविध रूप में कम्पन करना।

चलना—स्थानान्तर जाना।

स्पंदना—किंचित् चलना।

घट्टना—सब दिशाओं में चारों तरफ चलना तथा अन्य पदार्थों को स्पर्श करना।

क्षुब्ध होना—किसी वस्तु में चंचलता से प्रवेश करना।

उदीरणा—प्राबल्य से ढकेलना।

ऊपर में आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन करने की कुछ क्रियाओं का नामोल्लेख किया

गया है लेकिन परिस्पंदन अनेक प्रकार से हो सकता है अतः एजनादि क्रियाओं के परिस्पंदन के प्रकार के अनुसार अनेक भेद हो सकते हैं।

·६३·२,३ भेद तथा भेदों की परिभाषा :—

कइविहा णं भंते ! एयणा पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पन्नत्ता, तंजहा—१ दव्वेयणा, २ खेत्तेयणा, ३ कालेयणा, ४ भावेयणा, ५ भवेयणा। दव्वेयणा णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पन्नत्ता, तंजहा—१ नेरइयदव्वेयणा, २ तिरिक्खजोणियदव्वेयणा, ३ मणुस्सदव्वेयणा, ४ देवदव्वेयणा।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'नेरइयदव्वेयणा' २ ? गोयमा ! जं णं नेरइया नेरइयदव्वे वट्टिंसु वा, वट्टंति वा, वट्टिस्संति वा ते णं तत्थ नेरइया नेरइयदव्वे वट्टमाणा नेरइयदव्वेयणं एयंसु वा, एयंति वा, एइस्संति वा, से तेणट्ठेणं जाव दव्वेयणा।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—तिरिक्खजोणियदव्वेयणा एवं चेव, नवरं तिरिक्खजोणियदव्वे भाणियव्वं, सेसं तं चेव, एवं जाव देवदव्वेयणा।

खेत्तेयणा णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पन्नत्ता, तंजहा—नेरइयखेत्तेयणा जाव देवखेत्तेयणा, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—नेरइयखेत्तेयणा नेरइयखेत्तेयणा ? एवं चेव नवरं 'नेरइयखेत्तेयणा' भाणियव्वा, एवं जाव देवखेत्तेयणा।

एवं कालेयणावि, एवं भवेयणावि, एवं भावेयणावि (एवं) जाव देवभावेयणा।

—भग० श १७ । उ ३ । प्र २ से ७ । पृ० ७५७

टीका—'कई'-त्यादि, 'दव्वेयण' त्ति द्रव्याणां—नारकादिजीवसंपृक्तपुद्गलद्रव्याणां नारकादिजीवद्रव्याणां वा एजना—चलना द्रव्यैजना 'खेत्तेयण' त्ति क्षेत्रे—नारकादिक्षेत्रे वर्त्तमानानामेजना क्षेत्रैजना 'कालेयण' त्ति काले—नारकादिकाले वर्त्तमानानामेजना कालैजना 'भवेयण' त्ति भवे—नारकादिभवे वर्त्तमानानामेजना भवैजना 'भावेयण' त्ति भावे—औदयिकादिरूपे वर्तमानानां नारकादीनां तद्गतपुद्गलद्रव्याणां वैजना भावैजना, 'नेरइयदव्वेसु वट्टिंसु' त्ति नैरयिकलक्षणं यज्जीवद्रव्यं द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेदान्नारकत्वमेवेत्यर्थः तत्र 'वट्टिंसु' त्ति वृत्तवन्तः 'नेरइयदव्वेयण' त्ति नैरयिकजीवसंपृक्तपुद्गलद्रव्याणां नैरयिकजीवद्रव्याणां वैजना नैरयिकद्रव्यैजना ताम् 'एइंसु' त्ति ज्ञातवन्तोऽनुभूतवन्तो वेत्यर्थः।

एजना (परिस्पंदन) पाँच प्रकार की होती है—यथा—१—द्रव्यएजना, २—क्षेत्रएजना, ३—कालएजना, ४—भावएजना और ५—भवएजना। द्रव्यएजना के चार भेद होते हैं—यथा—१ नारकी द्रव्यएजना, २ तिर्यंचयोनिक द्रव्यएजना, ३ मनुष्यद्रव्यएजना तथा ४ देवद्रव्यएजना। जिस गति के शरीर से जो एजना होती है वह उस गति

के शरीर की एजना कहलाती है, यथा—नारकीय द्रव्य (शरीर) से एजना—नारकीय द्रव्य-एजना।

नारकी नारकीय द्रव्य (शरीर) में वर्तते थे, वर्तते हैं, वर्तेंगे; अतः नारकी नारकीय द्रव्य में वर्त्तमान नारकीय द्रव्य में एजना—परिस्पंदन करते थे, करते हैं, करेंगे। अतः नारकी द्रव्यएजना का प्रतिपादन किया गया है।

तिर्यंचयोनिक जीव इसी प्रकार तिर्यंच योनिक द्रव्य (शरीर) में वर्तते थे, वर्तते हैं, वर्तेंगे। अतः तिर्यंचयोनिक जीव तिर्यंच योनिक द्रव्य में वर्तमान तिर्यंचयोनिक द्रव्य से एजना (परिस्पंदन) करते थे, करते हैं, करेंगे।

इसी प्रकार मनुष्य मनुष्यद्रव्य से परिस्पन्दन करते थे, करते हैं, करेंगे। देवता देवद्रव्य से परिस्पन्दन करते थे, करते हैं, करेंगे।

क्षेत्रएजना के चार भेद होते हैं—यथा—१—नारकीक्षेत्रएजना, २—तिर्यंचयोनिक-क्षेत्रएजना, ३—मनुष्यक्षेत्रएजना तथा ४— देवक्षेत्रएजना।

इसी प्रकार कालएजना, भावएजना तथा भवएजना के चार-चार भेद होते हैं।

जिस गति के क्षेत्र में रहकर उस गति के शरीर से जो एजना होती है वह उस गति की क्षेत्रीय एजना, यथा—नारकीय क्षेत्र में होने वाली नारकी जीवों की एजना—नारकीय क्षेत्रएजना।

जिस गति में जिस काल में वर्तमान हो उस काल में जो उस गति के शरीर के पुद्गल की एजना होती है वह उस गतिकाल की एजना है, यथा जिस काल में जीव नरक गति में वर्तता है उस काल में जो एजना होती है वह नारकीय कालएजना।

जिस गति में औदयिकादि भावों से जो एजना होती है वह उस गति की भाव-एजना, यथा—नरक गति में वर्तते हुए औदयिक आदि भावों के कारण जो एजना होती है वह नारकीय भावएजना।

जिस भव में वर्तते हुए जो एजना हो वह उस भव की एजना है यथा नरकभव में वर्तते हुए जीव के जो एजना होती है वह नारकीय भवएजना है।

६३·४ सयोगी जीव और एजनादि क्रिया :—

जीवे णं भंते ! सया समियं एयइ, वेयइ, चलइ, फंदइ, घट्टइ, खुब्भइ, उदीरइ, तं तं भावं परिणमइ ? हंता, मंडियपुत्ता ! जीवे णं सया समियं एयइ—जाव—तं तं भावं परिणमइ।
—भग० श ३। उ ३। प्र १०। पृ० ४५६

जीव सदा समभाव से कम्पन करता है, विविध भाव से कम्पन करता है, देशान्तर गति करता है, स्पन्दन—परिस्पन्दन करता है, सभी दिशाओं में गति करता है, क्षुब्ध होता

है अर्थात् प्रबल रूप से हलचल करता है तथा उदीरण करता है अर्थात् प्रबलतापूर्वक प्रेरणा करता है तथा जीव उस-उस भाव में परिणमन करता है।

टीका—'जीवे णं' इत्यादि, इह जीवग्रहणेऽपि सयोग एवाऽसौ ग्राह्यः, अयोगस्य एजनादेरसंभवात्। सदा नित्यम्, 'समिअं' ति सप्रमाणम्, 'एयइ' त्ति एजते कम्पते, "एजृ कम्पने" इति वचनात् 'वेयइ' त्ति व्येजते विविधं कम्पते, 'चलइ' त्ति स्थानान्तरं गच्छति, 'फंदइ' त्ति स्पन्दते किञ्चिच्चलति। "स्पदि किञ्चिच्चलने" इति वचनात्। "अन्यमवकाशं गत्वा पुनस्तत्रैव आगच्छति"—इति अन्ये। 'घट्टइ' त्ति सर्वदिक्षु चलति, पदार्थान्तरं वा स्पृशति। 'खुब्भइ' त्ति क्षुभ्यति - पृथिवीं प्रविशति, क्षोभयति वा पृथ्वीम्, बिभेति वा। 'उदीरइ' त्ति प्राबल्येन प्रेरयति, पदार्थान्तरं प्रतिपादयति वा। शेषक्रियाभेदसंग्रहार्थमाह—'तं तं भावं परिणमइ' त्ति उत्क्षेपणा-ऽवक्षेपणा-ऽऽकुञ्चन-प्रसारणादिकं परिणामं यातीत्यर्थः। एषां च एजनादिभावानां क्रम-भावित्वेन सामान्यतः सदेति मन्तव्यम्, न तु प्रत्येकापेक्षया—क्रमभाविनां युगपद्-भावादिति।

यहाँ जीव से सयोगी जीव का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि अयोगी जीव के एजनादि क्रियाएँ नहीं होती हैं। **'समिअं एयइ'** सप्रमाण कम्पन करना, **'वेयइ'** विविध प्रकार से कम्पन करना, **'चलइ'** एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना, **'फंदइ'** स्पन्दन करना अर्थात् किंचित् चलायमान होना, **'घट्टइ'** सभी दिशाओं में गति करना अथवा दूसरे पदार्थों को स्पर्श करना, **'खुब्भइ'** क्षोभ करना, पृथ्वी में प्रवेश करना अथवा पृथ्वी का भेद करना, तथा **'उदीरइ'** प्रबलतापूर्वक प्रेरणा करना अथवा बलपूर्वक किसी दूसरी वस्तु को प्रतिष्ठित करना। एजनादि क्रियाओं के और भी अनेक भेद होते हैं। बाकी के सभी क्रियाभेदों को संग्रह करना चाहिए ऐसा टीकाकार कहते हैं। **'तं तं भावं परिणमइ'** उत्क्षेपण, अव-क्षेपण, आकुंचन, प्रसारण इत्यादि पर्यायों को प्राप्त होता है। ये एजनादि क्रियाएँ क्रम-पूर्वक होती हैं इसलिए सदा होती हैं। यह बात सामान्य रूप से समझनी चाहिए। परन्तु प्रत्येक की अपेक्षा से नहीं समझनी चाहिए ; क्योंकि क्रमपूर्वक होनेवाली क्रियाएँ एक समय में एक साथ नहीं हो सकती हैं।

एजनादि क्रिया करता हुआ जीव अन्तक्रिया नहीं कर सकता है अर्थात् उसकी मुक्ति नहीं हो सकती है क्योंकि जब तक जीव एजनादि क्रिया करता है तब तक वह जीव आरम्भ करता है, सरंभ करता है, समारंभ करता है। आरम्भ-सरंभ-समारम्भ में वर्तमान जीव अनेक प्राण-भूत-जीव-सत्त्व को दुःख-परितापादि उपजाता है अतः उस जीव की मरण के समय मुक्ति नहीं हो सकती है। (देखो अंतक्रिया '७३)।

·६३·५ शैलेशी जीव एजनादि क्रिया नहीं करता है—

सेलेसिं पडिवन्नाए णं भंते ! अणगारे सया समियं एयइ, वेयइ, जाव—तं तं भावं परिणमइ ? णो इणट्ठे समट्ठे, णण्णत्थ एगेणं परप्पओगेणं।

—भग० श १७। उ ३। प्र १। पृ० ७५७

शैलेशी अवस्था को प्राप्त जीव एजनादि क्रिया नहीं करता है लेकिन परप्रयोग से स्यात् एजनादि क्रिया हो सकती है अर्थात् शैलेशी अवस्था में आत्मा अत्यन्त स्थिरता को प्राप्त होने से परप्रयोग के अतिरिक्त नहीं कम्पता है।

शैलेशत्व को प्राप्त संसारी जीव निष्कंप होते हैं। अशैलेशी संसारी जीव सकंप होते हैं तथा वे देशतः भी सकंप होते हैं तथा सर्वतः भी सकंप होते हैं। यथा—ईलिका गति से उत्पत्ति स्थान को जाते हुए जीव देशतः सकंप होते हैं क्योंकि उनके पूर्व के शरीर में रहा हुआ अंश गतिक्रिया रहित होने के कारण निष्कंप होता है।

नारकी जीव देशतः भी सकम्प होते हैं, सर्वतः भी सकंप होते हैं—जो नारकी जीव विग्रहगति को प्राप्त होते हैं वे सर्वतः सकंप होते हैं तथा जो नारकी जीव विग्रहगति को प्राप्त नहीं होते हैं वे देशतः सकंप होते हैं।

इसी प्रकार दंडक के सभी जीवों के सम्बन्ध में यावत् वैमानिक जीवों तक जानना।

·६३·६ चलनाक्रिया—

·६३·६·१ परिभाषा / अर्थ—

'चलण' त्ति एजना एव स्फुटतरस्वभावा।

—भग० श १७। उ ३। प्र ८। टीका

चलना-क्रिया एजना से स्फुटतर स्वभाव वाली होती है—चलना का कंपन—परिस्पंदन एजना के कंपन—परिस्पंदन से स्फुटतर होता है। चलना-क्रिया के परिस्पंदन के भेदों के अनुसार मूलतः तीन भेद किये जाते हैं। परन्तु उपभेद अनेक हो सकते हैं।

·६३·६·२,३ भेद / भेदों की परिभाषा—

कइविहा णं भंते ! चलणा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा चलणा पण्णत्ता, तंजहा—सरीरचलणा, इंदियचलणा, जोगचलणा। सरीरचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा - ओरालियसरीरचलणा जाव कम्मगसरीरचलणा। इंदियचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा— सोइंदियचलणा जाव फासिंदियचलणा। जोगचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—मणजोगचलणा, वइजोग-

चलणा, कायजोगचलणा। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—ओरालियसरीरचलणा ओरालियसरीरचलणा? गोयमा! जं णं जीवा ओरालियसरीरे वट्टमाणा ओरालियसरीरपाओग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए परिणामेमाणा ओरालियसरीरचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा से तेणट्ठेणं जाव ओरालियसरीरचलणा २।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—वेउव्वियसरीचलणा वेउव्वियसरीरचलणा? एवं चेव, नवरं—वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा, एवं जाव कम्मगसरीरचलणा।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—'सोइंदियचलणा सोइंदियचलणा? गोयमा! जं णं जीवा सोइंदिये वट्टमाणा सोइंदियपाओग्गाइं दव्वाइं सोइंदियत्ताए परिणामेमाणा सोइंदियचलणा चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं जाव सोइंदियचलणा २। एवं जाव फासिंदियचलणा।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—मणजोगचलणा मणजोगचलणा? गोयमा! जं णं जीवा मणजोए वट्टमाणा मणजोगपाओग्गाइं दव्वाइं मणजोगत्ताए परिणामेमाणा मणजोगचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा से तेणट्ठेणं जाव—मणजोगचलणा २ एवं वइजोगचलणा वि, एवं कायजोगचलणा वि।

—भग० श १७। उ ३। प्र ८ से १५। पृ० ७५७-७५८

टीका—'कई' त्यादि, 'चलण' त्ति एजना एव स्फुटतरस्वभावा 'सरीरचलण' त्ति शरीरस्य—औदारिकादेश्चलना—तत्प्रायोग्यपुद्गलानां तद्रूपतया परिणमने व्यापारः शरीरचलना, एवमिन्द्रिययोगचलने अपि, 'ओरालियसरीरचलणं चलिंसु' त्ति औदारिकशरीरचलनां कृतवन्तः।

चलना-क्रिया एजना से स्फुटतर स्वभाव वाली होती है अर्थात् चलना का परिस्पंदन एजना के परिस्पंदन से स्पष्टतर—स्थूलतर होता है।

चलना तीन प्रकार की होती है, यथा—१ शरीरचलना, २ इन्द्रियचलना तथा ३ योगचलना।

शरीरचलना पाँच प्रकार की होती है, यथा—१ औदारिकशरीरचलना, २ वैक्रियशरीरचलना, ३ आहारिकशरीरचलना, ४ तैजसशरीरचलना तथा ५ कार्मणशरीरचलना।

करेगा। इसी प्रकार आहारिकशरीर चलना, तैजसशरीर चलना तथा कार्मणशरीर-चलना के विषय में समझ लेना चाहिए।

इन्द्रिय-चलना पाँच प्रकार की होती है, यथा—१ श्रोत्रेन्द्रियचलना, २ चक्षुरिन्द्रियचलना, ३ घ्राणेन्द्रिय चलना, ४ रसेन्द्रियचलना तथा ५ स्पर्शेन्द्रियचलना।

श्रोत्रेन्द्रियचलना अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय में वर्तमान जीव श्रोत्रेन्द्रिय के योग्य प्रायोगिक द्रव्यों को श्रोत्रेन्द्रिय रूप में परिणमन करता हुआ चलना करता था, करता है, करेगा। इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रियचलना, घ्राणेन्द्रियचलना, रसेन्द्रियचलना तथा स्पर्शेन्द्रियचलना के विषय में समझ लेना चहिए।

योगचलना तीन प्रकार की होती है, यथा—मनोयोगचलना, वचनयोगचलना तथा काययोगचलना।

मनोयोग अर्थात् मनोयोग में वर्तमान जीव मनोयोग के योग्य प्रायोगिक द्रव्यों को मनोयोगरूप में परिणमन करता हुआ चलना करता था, करता है, करेगा। इसी प्रकार वचनयोगचलना तथा काययोगचलना के विषय में समझ लेना चाहिए।

·६३·७ एजन क्रिया और जीव

जीवा णं भंते ! किं सेया, णिरेया ? गोयमा ! जीवा सेया वि, निरेया वि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'जीवा सेया वि निरेया वि' ? गोयमा ! जीवा दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—संसारसमावन्नगा य असंसारसमावन्नगा य, तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा। सिद्धा णं दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—अणंतरसिद्धा य परंपरसिद्धा य, तत्थ णं जे ते परंपरसिद्धा ते णं निरेया, तत्थ णं जे ते अणंतरसिद्धा ते णं सेया, ते णं भंते ! किं देसेया, सव्वेया ? गोयमा। णो देसेया, सव्वेया। तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सेलेसिपडिवन्नगा य असेलेसिपडिवन्नगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवन्नगा ते णं निरेया, तत्थ णं जे ते असेलेसीपडिवन्नगा ते णं सेया, ते णं भंते ! किं देसेया, सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि, सव्वेया वि, से तेणट्ठेणं जाव निरेया वि। नेरइया णं भंते ! किं देसेया, सव्वेया ? गोयमा ! देसेयावि, सव्वेया वि, से केणट्ठेणं जाव—सव्वेया वि ? गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—विग्गहगइसमावन्नगा य अविग्गहगइसमावन्नगा य। तत्थ णं जे ते विग्गहगइसमावन्नगा ते णं सव्वेया, तत्थ णं जे ते अविग्गहगइसमावन्नगा ते णं देसेया, से तेणट्ठेणं जाव—सव्वेया वि, एवं जाव वेमाणिया।

—भग० श २५। उ ४। प्र० ३५ से ३७। पृ० ८६३-६४

जीव एजनक्रिया—कंपन सहित भी होते हैं, निष्कंप भी होते हैं। जो अनन्तर सिद्ध होते हैं वे सकंप होते हैं जो परंपर सिद्ध होते हैं वे निष्कंप होते हैं। सिद्धत्व की प्राप्ति के प्रथम समय में सिद्ध अनंतर सिद्ध कहलाते हैं क्योंकि उनके एक समय का भी अंतर नहीं होता है अतः सिद्धत्व के प्रथम समय में जो वर्तमान सिद्ध जीव हैं उनमें कंपन होता है। सिद्धिगमनसमय तथा सिद्धत्व प्राप्ति का समय एक ही होने से तथा सिद्धगमन के समय में गमनक्रिया होने से अनंतरसिद्ध सकंप होते हैं। और वे अनंतरसिद्ध देशतः सकंप नहीं होते हैं, सर्वतः सकंप होते हैं। सिद्धत्व प्राप्ति होने के बाद जिनके समयादि का अन्तर पड़ता है वे परंपर-सिद्ध कहलाते हैं और वे निष्कम्प होते हैं।

'६४ क्रियाद्वयक

'६४'१ सम्यक्त्व-मिथ्यात्व क्रियाद्वयक

'६४'१'१ सम्यक्त्व और मिथ्यात्व—दोनों क्रियाएँ एक जीव के एक समय में नहीं होतीं :—

(क) अण्णउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति एवं भासेंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तंजहा—सम्मत्त-किरियं च मिच्छत्तकिरियं च, जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ, सम्मत्तकिरियापकरणयाए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए सम्मत्तिकिरियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तंजहा—सम्मत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च। से कहमेयं भंते! एवं? गोयमा! जन्नं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तहेव जाव सम्मत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च, जे ते एवमाहंसु तं णं मिच्छा, अहं पुण गोयमा! एवमा-इक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ, तंजहा—सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा, जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ णो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं चेव जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ, सम्मत्तकिरियापकरणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्त-किरियापकरणयाए णो सम्मत्तकिरियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ, तंजहा—सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा।

—जीवा० प्रति ३। तिरि उ २। सू १४। पृ० १५१-१५२

(ख) ××× एवं जहा जीवाभिगमे जाव सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा।

—भग० श ७। उ ४। प्र १। पृ० ५१६

अन्य मतवाले ऐसा कहते हैं कि एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) करता है, इत्यादि। उनका ऐसा कहना गलत है। एक जीव जिस समय में सम्यक्त्वक्रिया करता है उस समय मिथ्यात्वक्रिया नहीं करता है, जिस समय मिथ्यात्व-क्रिया करता है उस समय सम्यक्त्वक्रिया नहीं करता है। सम्यक्त्व क्रिया करने से मिथ्यात्व क्रिया नहीं करता है, मिथ्यात्व क्रिया करने से सम्यक्त्वक्रिया नहीं करता है। अतः एक जीव एक समय में एक क्रिया करता है—सम्यक्त्वक्रिया अथवा मिथ्यात्वक्रिया।

'६४'२ ऐर्यापथिकी-सांपरायिकी क्रियाद्वयक

'६४'२'१ ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी—दोनों क्रियाएँ एक जीव के एक समय में नहीं होतीं :—

"अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति—जाव—"एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ। तंजहा—इरियावहियं च संपराइयं च। जं समयं इरियावहियं पकरेइ, तं समयं संपराइयं पकरेइ ; जं समयं संपराइयं पकरेइ, तं समयं इरियावहियं पकरेइ ; इरियावहियाए पकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयाए पकरणयाए इरियावहियं पकरेइ। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तं जहा—इरियावहियं च संपराइयं च।

से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति, तं चेव—जाव—जे ते एवं आहिंसु, मिच्छा ते एवं आहिंसु। अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि एवं खलु एगे जीवे एगसमए एक्कं किरियं पकरेइ। परउत्थियवत्तव्वं नेयव्वं। ससमयवत्तव्वयाए नेयव्वं—जाव—इरियावहियं संपराइयं वा।"

—भग० श १। उ १०। प्र ३२५। पृ० ४१५

अन्य मतवाले कहते हैं कि एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ (ऐर्यापथिकी—साम्परायिकी) करता है इत्यादि। लेकिन उनका ऐसा कहना गलत है। एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है। जिस समय एक जीव ऐर्यापथिकी क्रिया करता है उस समय साम्परायिकी क्रिया नहीं करता है तथा जिस समय एक जीव साम्परायिकी क्रिया करता है उस समय ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं करता है। ऐर्यापथिकी करने से साम्परायिकी नहीं करता है तथा साम्परायिकी करने से ऐर्यापथिकी नहीं करता है। एक समय में एक जीव एक ही क्रिया करता है, ऐर्यापथिकी क्रिया अथवा साम्परायिकी क्रिया।

'६४'२'२ ऐर्यापथिकी-साम्परायिकी क्रियाद्वयक और अनगार :—

(क) अणगारस्स णं भंते ! अणाउत्तं गच्छमाणस्स वा चिट्ठमाणस्स वा निसीयमाणस्स वा तुयट्टमाणस्स वा अणाउत्तं वत्थं, पडिग्गहं, कंबलं, पायपुंछणं गेण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,संपराइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ।

से केणट्ठेणं ? गोयमा ! जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ ; जस्स णं कोहमाणमायालोभा अवोच्छिन्ना भवंति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ नो इरियावहिया किरिया कज्जइ ; अहासुत्तं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ, से णं उस्सुत्तमेव रीयइ से तेणट्ठेणं।

—भग० श ७ । उ १ । प्र १८ । पृ० ५१०

उपयोग—यत्नारहित गमन करते हुए, खड़े होते हुए, बैठते हुए, सोते हुए तथा यत्नारहित वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपोंछन (रजोहरण) को ग्रहण करते हुए, रखते हुए अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है, सांपरायिकी क्रिया होती है। क्योंकि जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ व्युच्छिन्न—क्षीण हो गये हैं उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है ; जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ अव्युच्छिन्न—क्षीण नहीं हुए हैं उसके सांपरायिकी क्रिया होती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है।

सूत्र के अनुसार चलते हुए साधु को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सूत्र के विपरीत चलते हुए साधु को सांपरायिकी क्रिया होती है। जो अनगार सूत्रविरुद्ध चलता है, उसके राग-द्वेष क्षीण नहीं हुए हैं। इसलिए यह कहा गया है कि जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ क्षीण नहीं हुए हैं उसके सांपरायिकी क्रिया होती है।

(ख) संवुडस्स णं भंते। अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स, जाव आउत्तं तुयट्टमाणस्स, आउत्तं वत्थं, पडिग्गहं, कंबलं, पायपुंछणं गेण्हमाणस्स वा, निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! संवुडस्स णं अणगारस्स जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, णो संपराइया।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—संवुडस्स णं जाव णो संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना भवंति तस्स णं इरियाहिया किरिया कज्जइ, तहेव—जाव—उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ,

से णं अहासुत्तमेव रीयइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव णो संपराइया किरिया कज्जइ।
—भग० श ७। उ ७। प्र १। पृ० ५२०

उपयोगपूर्वक—यत्नापूर्वक गमन करते हुए, खड़े होते हुए—बैठते हुए, सोते हुए तथा यत्नासहित वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपोंछन (रजोहरण) को ग्रहण करते हुए—रखते हुए संवृत्त अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है। क्योंकि जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ व्युच्छिन्न—क्षीण हो गये हैं उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है। सूत्रानुसार चलते हुए साधु को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सूत्र के विपरीत चलते हुए साधु को सांपरायिकी क्रिया होती है। जो संवृत्त अनगार सूत्रानुसार चलता है, उसके राग-द्वेष क्षीण हो गये हैं।

अतः यह कहा गया है कि संवृत्त अनगार के क्रोध-मान-माया-लोभ के क्षीण होने से ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं।

(ग) संवुडस्स णं भंते! अणगारस्स वीयीपंथे ठिच्चा पुरओ रूवाइं निज्झायमाणस्स मग्गओ रूवाइं अवयक्खमाणस्स पासओ रूवाइं अवलोएमाणस्स उड्ढं रूवाइं आलोएमाणस्स अहे रूवाणि आलोएमाणस्स तस्स णं भंते! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ? गोयमा। संवुडस्स णं अणगारस्स वीयीपंथे ठिच्चा—जाव—तस्स णं नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—संवुडस्स—जाव—संपराइया किरिया कज्जइ? गोयमा! जस्स णं कोहमाणमायालोभा एवं जहा सत्तमसए पढमोद्देसए—जाव—से णं उस्सुत्तमेव रीयइ, से तेणट्ठेणं—जाव - संपराइया किरिया कज्जइ।
—भग० श १०। उ २। प्र १। पृ० ६१४

वीचिमार्ग में अवस्थित—कषाय भाव में स्थित—कषायभाव से—सामने, पीछे, अगल-बगल, ऊँची, नीची रूपी वस्तुओं को अवलोकन करते हुए संवृत्त अणगार को ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है, सांपरायिक क्रिया होती है। क्योंकि जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ व्युच्छिन्न—क्षीण हो गये हैं उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है; जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ अव्युच्छिन्न—क्षीण नहीं हुए हैं उसके सांपरायिकी क्रिया होती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है।

सूत्रानुसार चलते हुए साधु को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सूत्र के विपरीत चलते हुए साधु को सांपरायिकी क्रिया होती है। जो अनगार सूत्रविरुद्ध चलता है उसके रागद्वेष क्षीण नहीं हुए हैं इसलिए यह कहा गया है कि जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ क्षीण नहीं हुए हैं उसके सांपरायिकी क्रिया होती है।

(घ) संवुडस्स णं भंते ! अणगारस्स अवीयीपंथे ठिच्चा पुरओ रूवाइं निज्झायमाणस्स—जाव—तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ (संपराइया किरिया कज्जइ) ? पुच्छा, गोयमा ! संवुड (स्स)—जाव—तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ ?

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जहा सत्तमे सए सत्तमोद्देसए—जाव—से णं अहासुत्तमेव रीयइ से तेणट्ठेणं—जाव—नो संपराइया किरिया कज्जइ।

—भग० श १० । उ २ । प्र २ । पृ० ६१४

अवीचिमार्ग में स्थित—अकषायभावमें स्थित—अकषायभावसे सामने यावत् नीची रूपी वस्तुओं को अवलोकन करते हुए संवृत्त अणगार को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है। क्योंकि जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ व्युच्छिन्न—क्षीण हो गये हैं उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है।

सूत्रानुसार चलते हुए साधु को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सूत्र के विपरीत चलते हुए साधु को सांपरायिकी क्रिया होती है। जो संवृत्त अणगार सूत्रानुसार चलता है उसके राग-द्वेष क्षीण हो गये हैं।

अतः यह कहा गया है कि अकषाय भावमें अवस्थित संवरित अणगार के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी नहीं होती है।

(च) अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा वट्टापोए वा कुलिंगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! अणगारस्स णं भावियप्पणो—जाव—तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? जहा सत्तमसए संवुडुद्देसए—जाव—अट्ठो निक्खित्तो।

—भग० श १८ । उ ८ । प्र १ । पृ० ७७६

अगल-बगल युगप्रमाण भूमि को देखकर गमन करते हुए भावितात्मा अणगार के पैर के नीचे यदि मुर्गी का बच्चा अथवा बतख का बच्चा अथवा चींटी तथा चींटी का अंडा आदि सूक्ष्म जन्तु आकर यदि परिताप- कष्ट—मरण को प्राप्त होवे तो उस अणगार को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है क्योंकि जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ व्युच्छिन्न हो गये हैं उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं होती है।

सूत्रानुसार चलते हुए साधु को ऐर्यापथिकी क्रिया होती है ; सूत्र के विपरीत चलते हुए साधु को सांपरायिकी क्रिया होती है। जो अनगार सूत्र विरुद्ध चलता है उसके राग-

द्वेष क्षीण नहीं हुए हैं, जो संवृत्त अणगार सूत्रानुसार चलता है, उसके राग-द्वेष क्षीण हो गये हैं।

अतः यह कहा गया है कि भावितात्मा अनगार के क्रोध-मान-माया-लोभ क्षीण होने से ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, सांपरायिकी क्रिया नहीं।

·६४·२·३ ऐर्यापथिकी साम्परायिकी क्रिया-द्वयक और श्रमणोपासक

समणोवासयस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवासए अच्छमाणस्स तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ।

से केणट्ठेणं जाव संपराइया ?

गोयमा ! समणोवासयस्स णं सामाइयकडस्स समणोवासए अच्छमाणस्स आया अहिगरणी भवइ आयाऽहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ से तेणट्ठेणं जाव संपराइया।

—भग० श ७। उ १। प्र ५। पृ० ५०६

श्रमण-उपाश्रय में बैठकर अर्थात् साधु-सान्निध्य में सामायिक करता हुआ श्रमणोपासक सांपरायिक क्रिया करता है, ऐर्यापथिक क्रिया नहीं करता है क्योंकि श्रमण-उपाश्रयमें सामायिक करते हुए श्रमणोपासक की आत्मा अधिकरण होती है तथा उसकी आत्मा अधिकरण में वर्तन कर रही है अर्थात् अवस्थित है इसलिए उसको साम्परायिकी क्रिया होती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है।

विश्लेषण :—साधु-सान्निध्य में सामायिक करते हुए श्रमणोपासक की आत्मा कषायनिरुद्ध होनी चाहिए अतः यह आशंका होती है कि उसे साम्परायिकी क्रिया क्यों होती है। सामायिक करते हुए श्रमणोपासक के हल, शकटादिक जो कषाय के आश्रयभूत अधिकरण हैं उनसे वह निवृत्त नहीं हुआ है अतः उसकी आत्मा इन अधिकरणों में अर्थात् शस्त्रों में वर्तन कर रही है अतः उस श्रमणोपासक को साम्परायिकी क्रिया होती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती है।

·६५ आरम्भिकी क्रिया-पंचक :

[आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यान क्रिया तथा मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी—इन पाँच क्रियाओं का एक क्रियापंचक कहा गया है और यह आरम्भिकी क्रियापंचक के नाम से विख्यात है।

आरंभिकी क्रियापंचक का विवेचन सामान्यतः कर्मास्रव की अपेक्षा किया गया है।

मिथ्यात्वी प्राणी के—मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया लगती है और जिसको मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया लगती है उसको आरंभिकी आदि बाकी चारों क्रियाएँ अवश्य लगती हैं और उसके मिथ्यात्व आस्रव होता है।

अविरती प्राणी के—अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है तथा जिसको अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है उसको आरंभिकी आदि तीन क्रियाएँ अवश्य लगती हैं और उसके अव्रत-आस्रव होता है।

सकषायी प्राणी के—मायाप्रत्ययिकी क्रिया लगती है तथा जिसको मायाप्रत्ययिकी क्रिया लगती है उसको आरंभिकी और पारिग्रहिकी क्रिया कदाचित् लगती है और कदाचित् नहीं लगती है और उसको कषाय-आस्रव होता है।

सकषायी (लोभ की प्रबलता वाले) जीव को पारिग्रहिकी क्रिया लगती है तथा जिसको पारिग्रहिकी क्रिया लगती है उसको आरंभिकी क्रिया अवश्य लगती है और उसके कषायास्रव होता है ; परिग्रह की 'अजयना' में प्रमाद भाव भी रहता है अतः प्रमाद-आस्रव भी होता है।

सप्रमादी तथा सयोगी (अशुभ योगी) जीव के आरंभिकी क्रिया लगती है तथा उसको प्रमाद और योगास्रव होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि इन पाँचों क्रियाओं का पारस्परिक अविनाभाव संबंध भी है अतः इन क्रियाओं का समुदाय में विवेचन किया गया है।]

'६५'१ नाम :—

कइ णं भंते ! किरियाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

—पण्ण० प २२। सू १६२१। पृ० ४८२

—ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१६। पृ० २६२। (केवल उत्तर)

पाँच क्रियाओं का एक पंचक कहा गया है यथा—१ आरंभिकी, २ पारिग्रहिकी, ३ मायाप्रत्ययिकी, ४ अप्रत्याख्यानक्रिया तथा ५ मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी।

'६५'२ जीवदंडक और आरंभिकी क्रियापंचक :—

(क) नेरइयाणं भंते ! कइ किरियाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! पंच किरियाओ पन्नताओ, तंजहा—आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया। एवं जाव वेमाणियाणं।

—पण्ण० प २२। सू १६२७। पृ० ४८२-८३

(ख) पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—आरंभिया जाव मिच्छादंसण-वत्तिया, नेरइयाणं पंच किरिया, निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

—ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१६। पृ० २६२

नारकी जीवों के पाँचों क्रियाएँ होती हैं, यथा—आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी। इस प्रकार दण्डक के यावत् वैमानिक तक सभी जीवों के पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

·६५·३ आरम्भिकी क्रियापंचक और मिथ्यादृष्टि जीव :—

मिच्छदिट्ठियाणं नेरइयाणं पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया। एवं सव्वेसिं निरंतरं जाव मिच्छदिट्ठियाणं वेमाणियाणं। नवरं विगलिंदिया मिच्छदिट्ठी न भन्नंति सेसं तहेव!

—ठाणा० स्था ५। उ २। सू ४१६। पृ० २६२

मिथ्यादृष्टि नारकी जीवों के आरम्भिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार यावत् मिथ्यादृष्टि वैमानिक जीवों तक के दंडक के सभी मिथ्यादृष्टि जीवों के आरंभिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के मिथ्यादृष्टि विशेषण प्रयुक्त करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

·६५·४ आरम्भिकी क्रियापंचक और समदृष्टि जीव :—

सम्मदिट्ठियाणं नेरइयाणं चत्तारि किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया; सम्मदिट्ठियाणं असुरकुमाराणं चत्तारि किरियाओ पन्नत्ताओ एवं चेव। एवं विगलिंदियवज्जं—जाव—वेमाणियाणं।

—ठाण० स्था ४। उ ४। सू ३६६। पृ० २५४

समदृष्टि नारकी जीवों के आरम्भिकी क्रियापंचक की प्रथम की चार क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार समदृष्टि असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों को भी चार क्रियाएँ होती हैं। समदृष्टि पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव—मनुष्य-जीव-वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों के भी इसी प्रकार चार क्रियाएँ होती हैं।

·६५·५ आरंभिकी क्रियापंचक और गुणस्थान :—

आरंभिया णं भंते! किरिया कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सावि (स्स वि) पमत्तसंजयस्स। परिग्गहिया णं भंते! किरिया कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सावि संजयासंजयस्स। मायावत्तिया णं भंते! किरिया कस्स कज्जइ?

गोयमा! अण्णयरस्सावि अपमत्तसंजयस्स। अपच्चक्खाणकिरिया णं भंते! कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सावि अपच्चक्खाणिस्स। मिच्छादंसणवत्तिया णं भंते! किरिया कस्स कज्जइ! गोयमा! अण्णयरस्सावि मिच्छादंसणिस्स।

—पण्ण० प २२। सू १६२२ से १६२६। पृ ४८२

आरंभिकी क्रिया कोई एक प्रमत्तसंयत तथा उसके अधस्तन (नीचे वाले) गुणस्थानवर्ती जीवों के होती है। पारिग्रहिकी क्रिया कोई एक संयतासंयत तथा उसके नीचे वाले गुणस्थानवर्ती जीवों के होती है। मायाप्रत्ययिकी क्रिया कोई एक अप्रमत्तसंयत तथा उसके नीचे वाले गुणस्थानवर्ती जीवों के होती है। अप्रत्याख्यानक्रिया अविरति तथा उसके नीचे वाले गुणस्थानवर्ती जीवों के होती है। मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया मिथ्यादृष्टि के होती है।

टीका :—एतासां क्रियाणां मध्ये यस्य या सम्भवति तस्य तां निरूपयति—'आरंभिया णं भंते!' अन्नयरस्सवि पमत्तसंजयस्स इति अत्रापिशब्दो भिन्नक्रमः प्रमत्तसंयतस्याप्यन्यतरस्य—एकतरस्य कस्यचित् प्रमादे सति कायदुष्प्रयोगभावतः पृथिव्यादेरुपमर्दसम्भवात्, अपिशब्दोऽन्येपामधस्तनगुणस्थानवर्त्तिनां नियमप्रदर्शनार्थः, प्रमत्तसंयतस्याप्यारम्भिकी क्रिया भवति किं पुनः शेषाणां देशविरतप्रभृतीनामिति?, एवमुत्तरत्रापि यथायोगमपि शब्दभावना कर्त्तव्या, पारिग्रहिकी संयतासंयतस्यापि देशविरतस्यापीत्यर्थः, तस्यापि परिग्रहधारणात्, मायाप्रत्यया अप्रमत्तसंयतस्यापि, कथमिति चेत्, उच्यते, प्रवचनोड्डाहप्रच्छादनार्थं वल्लीकरणसमुद्देशादिषु, अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिनः, अन्यतरदपि न किञ्चिदपीत्यर्थः यो न प्रत्याख्याति तस्येति भावः, मिथ्यादर्शनक्रिया अन्यतरस्यापि सूत्रोक्तमेकमप्यक्षरमरोचयमानस्येत्यर्थः मिथ्यादृष्टेर्भवति।

उपर्युक्त आरंभिकी क्रियाएँ किन-किन जीवों को होती हैं इसका विवेचन किया गया है :—

आरंभिकी क्रिया कोई एक प्रमत्तसंयत को होती है—यहाँ 'अपि' शब्द भिन्नक्रम को जनाता है। अन्यतर अर्थात् कोई एक प्रमत्तसंयत के प्रमाद के सद्भाव में—शरीर के दुष्प्रयोग—अयतना से पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा संभव है। 'अपि' शब्द उससे नीचे वाले गुणस्थानवर्ती जीवों के आरंभिकी क्रिया के होने की नियतता का द्योतक है। जब प्रमत्तसंयत को भी आरंभिकी क्रिया होती है फिर देशविरति आदि गुणस्थानवर्ती जीवों के विषय में क्या कहना है अर्थात् उनको नियमपूर्वक होती है।

इस प्रकार बाद के सूत्रों के विषय में 'अपि' शब्द के अर्थ का विचार कर लेना चाहिए।

पारिग्रहिकी क्रिया संयतासंयति—देशविरति को भी होती है क्योंकि वह परिग्रह धारण करता है।

मायाप्रत्ययिकी क्रिया अप्रमत्तसंयत को भी होती है क्योंकि प्रवचन की हेलना जिससे न हो उसके लिए कोई वात प्रच्छन्न करे—लुकावे या प्रवचन की मलिनता की रक्षा करने के लिए किसी वात को छिपावे।

अप्रत्याख्यानक्रिया कोई भी अप्रत्याख्यान—अविरति को होती है। जो किंचित् मात्र भी प्रत्याख्यान नहीं करता है उसको अप्रत्याख्यानक्रिया होती है।

मिथ्यादर्शनक्रिया—जो जीव सूत्र में कथित एक भी अक्षर की श्रद्धा नहीं करता है उस मिथ्यादृष्टि को होती है।

·६५·६ आरम्भिकी क्रियापंचक तथा प्राणातिपातादि विरमण :—

पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ, जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ? गोयमा ! पाणाइवायविरयस्स जीवस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ। पाणाइवायविरयस्स णं भंते! जीवस्स परिग्गहिया किरिया कज्जइ ? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। पाणाइवायविरयस्स णं भंते! जीवस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयमा! सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स अपच्चक्खाणवत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! नो नो इणट्ठे समट्ठे। मिच्छादंसणवत्तियाए पुच्छा। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। एवं पाणाइवायविरयस्स मणूसस्स वि, एवं जाव मायामोसविरयस्स जीवस्स मणूसस्स य। मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! मिच्छदंसणसल्लविरयस्स जीवस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, एवं जाव अपच्चक्खाणकिरिया। मिच्छादंसणवत्तिया किरिया न कज्जइ। मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! नेरइयस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! आरंभिया वि किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाणकिरिया वि कज्जइ, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जइ ! एवं जाव थणियकुमारस्स। मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स एवमेव पुच्छा। गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मायावत्तिया किरिया कज्जइ, अपच्चक्खाणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जइ। मणूसस्स जहा जीवस्स। वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा नेरइयस्स।

—पण्ण० प २२। सू १६५० से १६६२। पृ० ४८५-८६

प्राणातिपात की विरतिवाले जीव के आरंभिकी क्रिया कदाचित् होती है कदाचित् नहीं होती है। प्रमत्तसंयत के कदाचित् होती है और ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होती है।

प्राणातिपात की विरति वाले जीव के पारिग्रहिकी क्रिया नहीं होती है (यदि परिग्रह से सर्वथा निवृत्त न हो तो सम्यग् प्राणातिपात की विरति घटित नहीं होती है।)

प्राणातिपात की विरतिवाले जीव के मायाप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है (क्योंकि अप्रमत्तसंयत के भी कदाचित् प्रवचन-मालिन्य के रक्षणार्थ—गोपनार्थ माया हो सकती है।)

प्राणातिपात की विरतिवाले जीव के अप्रत्याख्यान तथा मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया नहीं होती है।

इसी प्रकार प्राणातिपात की विरति वाले मनुष्य के संबंध में जानना।

इसी प्रकार मृषावाद यावत् मायामृषावाद की विरति वाले जीव और मनुष्य के विषय में जानना।

मिथ्यादर्शनशल्य विरति वाले जीव के आरंभिकी क्रिया, पारिग्रहिकी क्रिया तथा मायाप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है कदाचित् नहीं होती है; लेकिन मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया नहीं होती है।

मिथ्यादर्शनशल्य की विरति वाले नारकी के आरंभिकी क्रिया यावत् अप्रत्यख्यान क्रिया होती है; मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया नहीं होती है।

नारकी की तरह असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों के सम्बन्ध में जानना।

मिथ्यादर्शनशल्य की विरति वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव के आरंभिकी—पारिग्रहिकी—मायाप्रत्ययिकी क्रिया होती है; अप्रत्याख्यानक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया नहीं होती है।

जैसा औधिक जीव का कहा वैसा मनुष्य के सम्बन्ध में जानना। जैसा नारकी के सम्बन्ध में कहा वैसा वाणव्यतर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों के संबंध में जानना।

·६५·७ आरम्भिकी क्रियापंचक और जीवों में क्रिया-समानता :—

·६५·७·१ नारकी जीवों में :—

(क) नेरइया णं भंते! सव्वे समकिरिया? गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समकिरिया? गोयमा! नेरइया तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मदिट्ठी मिच्छदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्म-दिट्ठी तेसि णं चत्तारि किरियाओ कज्जंति, तंजहा—आरंभिया, परिग्गहिया, माया-वत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया। तत्थ णं जे ते मिच्छदिट्ठी जे य सम्मामिच्छदिट्ठी

तेसिं णेयतिआओ (तेसि णं नियताओ) पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा— आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया, से ते तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ— नेरइया नो सव्वे समकिरिया।

— पण्ण० प १७ । उ १ । सू ११२९ । पृ० ४३५

(ख) नेरइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! नेरइया तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी तेसि णं चत्तारि किरियाओ पन्नत्ता, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया। तत्थ णं जे ते मिच्छदिट्ठी तेसि णं पंच किरियाओ कज्जंति, तंजहा– आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया। एवं सम्मामिच्छादिट्ठीणं पि। से तेणट्ठेणं गोयमा !

—भग० श १ । उ २ । प्र ७९-८० । पृ० ३९१-३९२

नारकी जीव सब समक्रिया वाले नहीं होते हैं क्योंकि नारकी जीव तीन प्रकार के होते हैं यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टि नारकी को आरंभिकी-पारिग्रहिकी-मायाप्रत्ययिकी-अप्रत्याख्यान— चार क्रियायें होती हैं; तथा मिथ्यादृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि नारकी को आरंभिकी आदि पाँच क्रियाएँ नियम से होती हैं। अतः कहा जाता है कि सब नारकी आरंभिकी क्रियापंचक की अपेक्षा समान क्रिया वाले नहीं हैं।

'९५'७'२ असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों में :—

(क) असुरकुमारा णं भंते ! ××× अवसेसं (समकिरिया-समाउया) जहा नेरइयाणं। एवं जाव थणियकुमारा।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ११३२-३५-३६ । पृ० ४३५-३६

(ख) असुरकुमारा णं भंते ! ××× जहा नेरइया तहा भाणियव्वा ××× सेसं (समकिरिया-समाउया) तहेव, एवं जाव थणियकुमाराणं।

—भग० श १ । उ २ । प्र ८३ । पृ० ३९२

नारकी की तरह असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देव भी आरम्भिकी क्रियापंचक की अपेक्षा समक्रियावाले नहीं होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि होते हैं उनके मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी बाद चार क्रियाएँ होती हैं। जो मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं उनके आरंभिकी आदि पाँच क्रियाएँ होती हैं।

'६५'७ ३ पृथ्वीकायिक यावत् चतुरिन्द्रिय जीवों में :—

(क) पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ? हंता, गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे समकिरिया। से केणट्ठेणं ? गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे माइमिच्छादिट्ठी तेसिं णियइयाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया (य, से तेणट्ठेणं गोयमा !) एवं जाव चउरिंदिया। —पण्ण० प १७। उ १ । सू ११३६-४०। पृ० ४३६

(ख) पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ? हंता (गोयमा !) समकिरिया। से केणट्ठेणं ? गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे माई मिच्छादिट्ठी, ताणं णियइयाओ पंचकिरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया। ××× जहा पुढविक्काइया तहा जहा चउरिंदिया।

—भग० श १। उ २। प्र ८७-८८। पृ० ३९२

पृथ्वीकायिक यावत् चतुरिन्द्रिय जीव सब समान क्रियावाले होते हैं क्योंकि वे सब मायी-मिथ्यादृष्टि होते हैं। अतः आरम्भिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ नियम से करते हैं।

'६५'७'४ पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों में :—

(क) पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—असंजया य संजयासंजया य, तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं तिन्नि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, असंजयाणं चत्तारि, मिच्छादिट्ठीणं पंच, सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच।

—भग० श १। उ २। प्र ९१-९२। पृ० ३९२

(ख) पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया नवरं किरियाहिं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—असंजया य संजयासंजया य। तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं तिन्नि किरियाओ कज्जंति, तंजहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया। तत्थ णं जे असंजया तेसि णं चत्तारि किरियाओ कज्जंति, तंजहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया। तत्थ णं जे ते मिच्छद्दिट्ठी जे य सम्मामिच्छद्दिट्ठी तेसि णं णियइयाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तंजहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया। सेसं तं चेव।

—पण्ण० प १७। उ १। सू ११४१। पृ० ४३६

पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव सब समान क्रिया वाले नहीं होते हैं क्योंकि वे तीन प्रकार के होते हैं यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि। जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे दो प्रकार के होते हैं यथा—असंयत, संयतासंयत। जो संयतासंयत हैं उनके प्रथम की तीन क्रियायें होती हैं तथा जो असंयत हैं उनके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी वाद चार क्रियायें होती हैं। जो मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं उनके आरंभिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

'६५'७'५ मनुष्य जीवों में :—

(क) मणुस्सा णं भंते! सव्वे समकिरिया? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं? गोयमा! मणुस्सा तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—संजया, संजयाऽसंजया, असंजया। तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पन्नत्ता तं जहा—सरागसंजया य, वीयरागसंजया य। तत्थ णं जे ते वीयरागसंजया ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—पमत्तसंजया य अपमत्तसंजया य, तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जइ, तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया तेसि णं दो किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, मायावत्तिया। तत्थ णं जे ते संजयाऽसंजया तेसि णं आइल्लाओ तिण्णि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया। असंजया णं चत्तारि किरियाओ कज्जंति—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणपच्चया। मिच्छादिट्ठी णं पंच—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणपच्चया, मिच्छादंसणवत्तिया। सम्मामिच्छादिट्ठी णं पंच।

—भग० श १। उ २। प्र ६४-६५। पृ० ३९२-९३

(ख) नवरं किरियाहिं मणूसा तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—संजया, असंजया, संजयासंजया। तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सरागसंजया य वीयरागसंजया य। तत्थ णं जे ते वीयरागसंजया ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—पमत्तसंजया य अपमत्तसंजया य। तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया तेसिं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जइ। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया तेसिं दो किरियाओ कज्जंति—आरंभिया मायावत्तिया य। तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसिं तिन्नि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया। तत्थ णं जे ते असंजया तेसिं चत्तारि किरियाओ

कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया। तत्थ णं जे ते मिच्छादिट्ठी, जे य सम्मामिच्छादिट्ठी तेसिं (णं) णियइयाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया। सेसं जहा नेरइयाणं।

—पण्ण० प १७। उ १। सू ११४२। पृ० ४३६-३७

मनुष्य जीव भी सब समान क्रियावाले नहीं होते हैं क्योंकि वे तीन प्रकार के होते हैं यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि। जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे तीन प्रकार के होते हैं—यथा—संयत, संयतासंयत तथा असंयत। जो संयत होते हैं वे दो प्रकार के होते हैं—यथा—सरागसंयत तथा वीतरागसंयत। जो वीतरागसंयत होते हैं वे (आरंभिकीक्रिया की अपेक्षा) अक्रिय होते हैं तथा जो सरागसंयत होते हैं वे दो प्रकार के होते हैं यथा—प्रमत्तसंयत तथा अप्रमत्तसंयत। जो अप्रमत्तसंयत होते हैं उनके केवल एक मायाप्रत्ययिकी क्रिया होती है तथा जो प्रमत्तसंयत होते हैं उनके आरंभिकी तथा मायाप्रत्ययिकी दो क्रियाएँ होती हैं जो संयतासंयत होते हैं उनके आरंभिकी आदि प्रथम की तीन क्रियाएँ होती हैं।

जो असंयत होते हैं उनके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी बाद चार क्रियाएँ होती हैं।

जो मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं उनके आरंभिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

·६५·७·६ वाणव्यंतर-ज्योतिपी-वैमानिक देवों में :—

(क) वाणमंतराणं जहा असुरकुमाराणं। एवं जोइसियवेमाणियाणं वि ××× सेसं (समकिरिया आइ) तहेव।

—पण्ण० प १७। उ १। सू ११४३-४४। पृ० ४३७

(ख) वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकुमारा।

—भग० श १। उ २। प्र ९६। पृ० ३९३

नारकी तथा असुरकुमार देवों की तरह वाणव्यंतर-ज्योतिपी-वैमानिक देव भी समान क्रियावाले नहीं होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि होते हैं उनके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी बाद चार क्रियाएँ होती हैं; जो मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं उनके आरंभिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

आरम्भिकी क्रियापंचक और जीवों में क्रियासमानता—

'६५'७'७ सलेशी जीवों में—

(क) सलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारगा (इत्यादि) ओहियाणं, सलेस्साणं, सुक्कलेस्साणं, एएसि णं तिण्हं एक्को गमो।

कण्हलेस्साणं नीललेस्साणंपि एक्को गमो, नवरं वेयणाए मायिमिच्छदिट्ठीउववन्नगा य अमायिसम्मदिट्ठीउववन्नगा य भाणियव्वा; मणुस्सा किरियासु सराग-वीयराग, पमत्ताऽपमत्ता न भाणियव्वा।

काउलेस्साण वि एसेव गमो, नवरं नेरइए जहा ओहिए दंडए तहा भाणियव्वा।

तेउलेस्सा, पम्हलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा, नवरं मणुस्सा सरागा, वीयरागा न भाणियव्वा।

गाहा: दुक्खाउए उदिण्णे आहारे कम्म-वन्न-लेस्सा य।
समवेयण-समकिरिया समाउए चेव बोधव्वा॥

—भग० श १। उ २। प्र ६७। पृ० ३६३

(ख) सलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारा, समसरीरा, समुस्सासनिस्सासा सव्वेच्चेव (वि) पुच्छा। (गोयमा !) एवं जहा ओहिओ गमओ भणिओ तहा सलेस्सगमओ वि निरवसेसो भाणियव्वो, जाव वेमाणिया। कण्हलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारा ३ पुच्छा। गोयमा ! जहा ओहिया ××× सेसं तहेव जहा ओहियाणं। असुरकुमारा जाव वाणमंतरा एए जहा ओहिया, नवरं मणूस्साणं किरियाहिं विसेसो—जाव तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—संजया, असंजया, संजयासंजया य, जहा ओहियाणं। जोइसियवेमाणिया आइल्लियासु तिसु लेसासु ण पुच्छिज्जंति। एवं जहा कण्हलेसा चारिया (विचारिया) तहा नीललेस्सा वि चारियव्वा (विचारेयव्वा)। काउलेसा नेरइएहिंतो आरब्भ जाव वाणमंतरा, नवरं काउलेसा नेरइया वेयणाए जहा ओहिया। तेउलेसा णं भंते ! असुरकुमारा णं ताओ चेव पुच्छाओ। गोयमा ! जहेव ओहिया तहेव, नवरं वेयणाए जहा जोइसिया। पुढविआउवणस्सइपंचिंदियतिरिक्खमणूस्सा जहा ओहिया तहेव भाणियव्वा, नवरं मणूस्सा किरियाहिं जे संजया ते पमत्ता य अपमत्ता य भाणियव्वा, सरागा, वीयरागा नत्थि। वाणमंतरा तेउलेसाए जहा असुरकुमारा, एवं जोइसियवेमाणिया वि। सेसं तं चेव। एवं पम्हलेस्सा वि भाणियव्वा, नवरं जेसिं अत्थि। सुक्कलेसा वि तहेव जेसिं अत्थि सव्वं तहेव जहा

ओहियाणं गमओ, नवरं पम्हलेस्ससुक्कलेस्साओ पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणूसं-वेमाणियाणं चेव, न सेसाणं ति।

—पण्ण० प १७। उ १। सू ११४५ से ११५५। पृ० ४३७

सलेशी जीव भी समक्रिया वाले नहीं होते हैं। सलेशी जीवदण्डक को औधिक (निर्विशेषण) जीवदण्डक की तरह जानना। शुक्ललेशी जीवदण्डक भी औधिक जीव-दण्डक की तरह जानना केवल जिस दण्डक में शुक्ललेश्या होती है उसको कहना।

कृष्णलेशी-नीललेशी जीव भी समक्रिया वाले नहीं होते हैं। समक्रिया की अपेक्षा कृष्णलेशी-नीललेशी जीवदण्डकों का एकसा गमक औधिक जीवदण्डक के समान कहना केवल मनुष्यों में सराग-वीतराग, प्रमत्त-अप्रमत्त भेद नहीं कहना क्योंकि कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले मनुष्य वीतराग संयत नहीं होते हैं, सरागसंयत ही होते हैं तथा अप्रमत्त-संयत भी नहीं होते हैं, प्रमत्तसंयत ही होते हैं। टीकाकार का कथन है—इन लेश्याओं में संयतता का ही अभाव है इसलिये उपर्युक्त सराग-वीतराग, प्रमत्त-अप्रमत्त भेद नहीं कहना।

समक्रिया की अपेक्षा, कापोतलेशी जीवदण्डक का गमक कृष्णलेशी, नीललेशी जीवदण्डक की तरह कहना।

तेजोलेशी-पद्मलेशी जीव भी समक्रिया वाले नहीं होते हैं। तेजोलेशी-पद्मलेशी जीवदण्डकों को भी औधिक (निर्विशेषण) जीवदण्डक की तरह कहना केवल मनुष्यों में सराग-वीतराग भेद नहीं कहना क्योंकि तेजोलेशी-पद्मलेशी मनुष्य वीतरागसंयत नहीं होते हैं, सराग (प्रमत्त-अप्रमत्त) संयत ही होते हैं तथा जिस दण्डक में तेजोलेश्या-पद्मलेश्या होती है वही दण्डक कहना।

उदाहरणार्थ—

·१ सलेशी नारकी कोई चार क्रियावाला, कोई पाँच क्रियावाला होता है।

·२ सलेशी भवनवासी देव—वही।

·३ सलेशी पृथ्वीकायिक पाँच क्रियावाले होते हैं।

·४ सलेशी अप्कायिक से चतुरिन्द्रिय जीव पाँच क्रिया वाले होते हैं।

·५ सलेशी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव कोई तीन, कोई चार, कोई पाँच क्रिया वाले होते हैं।

·६ सलेशी मनुष्य कोई अक्रिय, कोई एक, कोई दो, कोई तीन, कोई चार, कोई पाँच क्रियावाले होते हैं।

·७ सलेशी वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देव जीव कोई चार, कोई पाँच क्रिया वाले होते हैं।

·६५·८ आरंभिकी क्रियापंचक की नियमा-भजना औधिक जीव की अपेक्षा :—

जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पारिग्गहिया (परिग्गहिया) किरिया कज्जइ ? जस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पारिग्गहिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, जस्स पुण पारिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जइ। जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ ?० पुच्छा ! गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स मायावत्तिया किरिया नियमा कज्जइ, जस्स पुण मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स णं भंते जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?० पुच्छा ? गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, जस्स पुण अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जइ। एवं मिच्छादंसणवत्तियाए वि समं। एवं पारिग्गहियावि तिहिं उवरिल्लाहिं समं चारेयव्वा (संचारेयव्वा)। जस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिल्लाओ दोवि सिय कज्जंति, सिय नो कज्जंति, जस्स उवरिल्लाओ दो कज्जंति तस्स मायावत्तिया नियमा कज्जइ। जस्स अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ।

—पण्ण० प २२। सू १६२८ से १६३४। पृ० ४८३

जिस औधिक जीव के आरंभिकी क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है लेकिन जिसके पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसके आरंभिकी क्रिया नियम से होती है। जिस जीव के आरंभिकी क्रिया होती है उसके मायाप्रत्ययिकी क्रिया नियम से होती है तथा जिसके मायाप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके आरंभिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। जिस जीव के आरंभिकी क्रिया होती है उसके अप्रत्याख्यान क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिस जीव के अप्रत्याख्यान क्रिया होती है उसके आरंभिकी क्रिया नियम से होती है। जिसके आरंभिकी क्रिया होती है उसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके आरंभिकी क्रिया नियम से होती है।

जिस जीव के पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसके मायाप्रत्ययिकी क्रिया नियम से होती

है तथा जिसके मायाप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके पारिग्रहिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। जिसके पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसके अप्रत्याख्यानक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिसके अप्रत्याख्यान क्रिया होती है उसके पारिग्रहिकी क्रिया नियम से होती है। जिस जीव के पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके पारिग्रहिकी क्रिया नियम से होती है।

जिस जीव के मायाप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके अप्रत्याख्यान क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिसके अप्रत्याख्यान क्रिया होती है उसके माया-प्रत्ययिकी क्रिया नियम से होती है। जिस जीव के मायाप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिसके मिथ्या-दर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके मायाप्रत्ययिकी क्रिया नियम से होती है।

जिस जीव के अप्रत्याख्यान क्रिया होती है उसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके अप्रत्याख्यान क्रिया नियम से होती है।

·६५·६ आरंभिकी क्रियापंचक की नियमा-भजना जीवदंडक की अपेक्षा—

नेरइयस्स आइल्लियाओ चत्तारि परोप्परं नियमा कज्जइ, जस्स एयाओ चत्तारि कज्जंति तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया भइज्जइ, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स एयाओ चत्तारि नियमा कज्जंति, एवं जाव थणियकुमारस्स।

पुढवीक्काइयस्स जाव चउरिंदियस्स पंचवि परोप्परं नियमा कज्जंति। पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स आइल्लियाओ तिण्णि वि परोप्परं नियमा कज्जंति, जस्स एयाओ कज्जंति तस्स उवरिल्लाओ (उवरिल्लिया) दो (दोण्णि) भइज्जंति, जस्स उवरिल्लाओ दोण्णि कज्जंति तस्स एयाओ तिण्णि वि नियमा कज्जंति। जस्स अपच्चक्खाणकिरिया तस्स मिच्छादंसणवत्तिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ, मणूसस्स जहा जीवस्स, वाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स जहा नेरइयस्स।

—पण्ण० प २२। सू १६३५। पृ० ४८३

नारकी जीवके प्रथम की चार क्रियाएँ परस्पर में नियम से होती हैं जिसके ये चारों क्रियाएँ होती हैं उसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया की भजना-विकल्प अर्थात् कदाचित्

होती है, कदाचित् नहीं होती है। जिसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके वे चार क्रियाएँ नियम से होती हैं।

नारकी की तरह असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देव के विषय में जानना।

पृथ्वीकायिक से लेकर यावत् चतुरिन्द्रिय जीव के पाँचों क्रियाएँ परस्पर में नियम से होती हैं।

तिर्यंचपंचेन्द्रिय योनिक जीव के प्रथम की तीन क्रियाएँ परस्पर में नियम से होती हैं। जिसके ये तीन क्रियाएँ होती हैं उसके अप्रत्याख्यान तथा मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया भजना से होती है। जिसके अप्रत्याख्यान तथा मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रियाएँ होती हैं उसके उपर्युक्त तीन क्रियाएँ नियम से होती हैं। जिसके उक्त तीन क्रिया के साथ अप्रत्याख्यान क्रिया होती है उसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। जिसके उक्त तीन क्रिया के साथ मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है उसके अप्रत्याख्यान क्रिया नियम से होती है।

औघिक जीव की क्रियाओं की तरह मनुष्य की क्रियाओं का आलापक कहना चाहिए। (देखो क्रमांक ६५·८)

वाणव्यंतर-ज्योतिपी-वैमानिक देवों की क्रिया का आलापक नारकी जीव की क्रियाओं की तरह कहना चाहिए।

·६५·१० आरंभिकी क्रियापंचक की नियमा-भजना समय, देश और प्रदेश की अपेक्षा :—

जं समयण्णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तं समयं पारिग्गहिया किरिया कज्जइ ? एवं एते जस्स १ जं समयं २ जं देसं ३ जं पदेसण्णं (पएसेण) ४ चत्तारि दंडगा नेयव्वा, जहा नेरइयाणं तहा सव्वदेवाणं नेयव्वं जाव वेमाणियाणं।

—पण्ण० प २२ । सू १६३६ । पृ ४८३

जिस समय, जिस काल में आरम्भिकी क्रिया होती है उस काल में पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या ? इत्यादि प्रश्न ?

जिस प्रकार जिस जीव के आरम्भिकी क्रिया होती है उस जीव के पारिग्रहिकी क्रिया होती है इत्यादि प्रश्न का समाधान जैसे किया गया है (देखो ·६५·८) उसी प्रकार जिस समय जीव को आरम्भिकी क्रिया होती है उस समय उसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या ? इत्यादि आलापक जानने चाहिए।

जिस देश में आरम्भिकी क्रिया होती है उस देश में पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या ? इत्यादि प्रश्न का समाधान समय प्रश्न के अनुसार जानना चाहिए।

जिस प्रदेश में आरंभिकी क्रिया होती है उस प्रदेश में पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या ? इत्यादि प्रश्न का समाधान समय प्रश्न के अनुसार जानना चाहिए।

·६५·११ आरंभिकी क्रियापंचक और माल का क्रेता-विक्रेता

(क) गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स केइ भंडं अवहरेज्जा, तस्स णं भंते ! तं भंडं गवेसमाणस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया (कज्जइ) ? गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया (कज्जइ), मिच्छादंसणकिरया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ ; अह से भंडे अभिसमणागए भवइ, तओ से य पच्छा सव्वाओ ताओ पयणुई भवंति। —भग० श ५ । उ ६ । प्र ५ । पृ० ४८०

किराना-माल वेचते हुए किसी गृहपति—व्यापारी का माल कोई व्यक्ति चोरी कर ले और वह व्यापारी उस चोरी गये हुए माल की गवेषणा—खोज करे तो उस व्यापारी को आरंभिकी पारिग्रहिकी-मायाप्रत्ययिकी-अप्रत्याख्यान चार क्रियाएँ होती हैं और मिथ्या-दर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है और यदि गवेषणा—खोज करते हुए चोरी गया हुआ माल वापस मिल जाय तो सब क्रियाएँ प्रतनु—हलकी हो जाती हैं।

टीका— मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया स्यात् कदाचित् क्रियते भवति, स्याद् नो क्रियते—कदाचित् नो भवति, यदा मिथ्यादृष्टिः गृहपतिस्तदाऽसौ भवति, यदा तु सम्यग्दृष्टिस्तदा न भवति इत्यर्थः। XXX। अपहृतभाण्डगवेषणकाले महत्यस्ताः आसन्—प्रयत्नविशेपपरत्वाद् गृहपतेः, तल्लाभकाले तु प्रयत्नविशेपस्योपरत्वाद् ह्रस्वीभवन्ति।

यदि विक्रेता मिथ्यादृष्टि हो तो मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया होती है ; यदि विक्रेता सम्यग्दृष्टि हो तो मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया नहीं होती है।

चोरी गये हुए माल की खोज के समय में प्रयत्न विशेप के कारण क्रिया महती होती है और चोरी गया हुआ माल यदि वापस मिल जाय तो प्रयत्न विशेप के न होने से क्रिया हलकी होती है।

(ख) गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडे साइज्जेज्जा, भंडे य से अणुवणीए सिया, गाहावइस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया

कज्जइ--जाव—मिच्छादंसणकिरिया कज्जइ, कइयस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ—जाव—मिच्छादंसणकिरिया कज्जइ? गोयमा! गाहावइस्स ताओ भंडाओ आरंभिया किरिया कज्जइ—जाव—अपच्चक्खाणकिरिया (कज्जइ), मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ; कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुई भवंति।

—भग० श ५। उ ६। प्र ६। पृ० ४८०

माल वेचते हुए व्यापारी का माल यदि कोई खरीददार खरीद ले और सौदा पक्का करने के लिए वयाना दे दे किन्तु माल न ले जाय अर्थात् माल वेचवाल के पास ही पड़ा रहे तो ऐसी स्थिति में वेचवाल को आरंभिकी यावत् अप्रत्याख्यान चारों क्रियाएँ होती हैं। मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् होती है; कदाचित् नहीं होती है। माल के खरीददार को भी उस स्थिति में ये सब क्रियायें प्रतनु—हल्की होती हैं।

टीका **क्रयिको ग्राहको भाण्डं स्वादयेत् सत्यंकारदानतः स्वीकुर्यात्।**

अप्राप्तभाण्डत्वेन तद्गतक्रियाणाम् अल्पत्वाद् इति, गृहपतेस्तु महत्यः—भाण्डस्य तदीयत्वात्। क्रयिकस्य भाण्डे समर्पिते महत्यस्ताः गृहपतेस्तु प्रतनुकाः।

खरीददार—ग्राहक वयाना देकर माल को स्वीकार कर लेता है अतः माल नहीं उठाने पर भी माल की अपेक्षा ग्राहक को क्रिया होती है लेकिन अल्प होती है तथा विक्रेता को तदात्मभाव—अपनत्व होने से महती क्रिया होती है। ग्राहक को माल समर्पित कर देने के पश्चात् माल की अपेक्षा ग्राहक को महती तथा विक्रेता को हलकी क्रिया होती है।

(ग) गाहावइस्स णं भंते! भंडं विक्किणमाणस्स—जाव—भंडे से उवणीए सिया, कइयस्स णं भंते! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ—जाव—मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ; गाहावइस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ—जाव—मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ? गोयमा! कइयस्स ताओ भंडाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया भयणाए; गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुई भवंति।

—भग० श ५। उ ६। प्र ७। पृ० ४८०-८१

कोई खरीददार यदि वेचवाल के यहाँ से माल उठाकर अपने यहाँ ले आवे तो ऐसी स्थिति में उस खरीददार को आरंभिकी यावत् अप्रत्याख्यान चारों क्रियाएँ (अपेक्षाकृत भारी) होती हैं तथा मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया की भजना होती है और खरीददार के माल उठाकर ले जाने के वाद भी वेचवाल को मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया की भजना के साथ ये सब क्रियायें प्रतनु—हल्की होती हैं।

टीका—धनेऽनुपनीते क्रयिकस्य महत्यस्ताः भवन्ति, धनस्य तदीयत्वात्। गृहपतेस्तु तास्तनुकाः, धनस्य तदानीम् अतदीयत्वात्।

खरीदे हुए माल की कीमत का धन नहीं देने तक ग्राहक को धन की अपेक्षा अपनत्वभाव के कारण महती और विक्रेता को अपनत्व भाव के अभाव में हलकी क्रिया होती है।

(घ) गाहावइस्स णं भंते! भंडे—जाव—धणे य से अणुवणीए सिया? एयं पि जहा भंडे उवणीए तहा नेयव्वं चउत्थो आलावगो, धणे य से उवणीए सिया जहा पढमो आलावगो, भंडे य से अणुवणीए सिया तहा नेयव्वो पढम-चउत्थाणं एक्को गमो, बिइय-तइयाणं एक्को गमो। —भग० श ५। उ ६। प्र ८। पृ० ४८१

माल के वेचवाल के पास से खरीददार ने माल खरीद लिया लेकिन माल की कीमत रूप धन नहीं चुकाया—उस स्थिति में उस खरीददार को कीमत रूप धन की अपेक्षा पाँचों क्रियाएँ (अपेक्षाकृत भारी) होती हैं और वेचवाल को प्रतनु—हल्की होती हैं।

टीका—धने उपनीते धनप्रत्ययत्वात् तासां गृहपतेर्महत्यः, क्रयिकस्य तु प्रतनुकाः धनस्य तदानीम् अतदीयत्वात्।

वेचे हुए माल की कीमत का धन प्राप्त हो जाने के वाद धन की अपेक्षा विक्रेता को महती तथा ग्राहक को अपनत्व हट जाने से हलकी क्रिया होती है।

'६५'१२ आरम्भिकी क्रियापंचक और अल्प-बहुत्व :—

एयासि णं भंते! आरंभियाणं जाव मिच्छादंसणवत्तियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४? गोयमा! सव्वत्थोवाओ मिच्छादंसणवत्तियाओ किरियाओ, अपच्चक्खाणकिरियाओ विसेसाहियाओ, परिग्गहियाओ विससेसाहियाओ, आरंभियाओ किरियाओ विसेसाहियाओ, मायावत्तियाओ विसेसाहियाओ।

—पण्ण० प २२। सू १६४०। पृ० ४८६

सवसे कम मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया वाले जीव होते हैं, उनसे अप्रत्याख्यान क्रिया वाले जीव विशेषाधिक हैं, उनसे पारिग्रहिकी क्रिया वाले जीव विशेषाधिक हैं, उनसे आरंभिकी क्रिया वाले जीव विशेषाधिक हैं तथा उनसे मायाप्रत्ययिकी क्रिया वाले जीव विशेषाधिक हैं।

·६६ कायिकी क्रियापंचक

·६६·१ कायिकी क्रियापंचक की क्रियाओं के नाम—

(क) कइ णं भंते! किरियाओ पन्नत्ताओ? गोयमा! पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—काइया, अहिगरणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया। —पण्ण० प २२। सू १५६७। पृ० ४७८

—पण्ण० प २२। सू १६०५। पृ० ४८१

—सम० सम ५। सू ५। उत्तर केवल। पृ० ३१६

—ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१६। उत्तर केवल। पृ० २६२

—भग० श ८। उ ४। प्र १। पृ० ५४८

—भग० श ३। उ ३। प्र १। पृ० ४५६

क्रिया पाँच प्रकार की कही गई है; यथा—कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी।

(ख) कइ णं भंते! आयोजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ? गोयमा! पंच आयोजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—काइया जाव पाणाइवायकिरिया।

—पण्ण० प २२। सू १६१७। पृ० ४८२

आयोजिका क्रिया पाँच प्रकार की होती है; यथा—कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी आयोजिका क्रिया।

टीका—आयोजयंति जीवं संसारे इत्यायोजिकाः।

अर्थात् जो जीव को संसार से जोड़े वह आयोजिका (क्रिया)।

·६६·२ दंडक के जीव और कायिकी क्रियापंचक—

(क) नेरइया णं भंते! कइ किरियाओ पन्नत्ताओ? गोयमा! पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—काइया जाव पाणाइवायकिरिया, एवं जाव वेमाणियाणं।

—पण्ण० प २२। सू १६०५। पृ० ४८१

(ख) पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—काइया, अहिगरणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया, नेरइयाणं पंच एवं चेव निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

—ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१६। पृ० २६२

नारकी जीवों से लेकर वैमानिक जीवों तक दंडक के सभी जीवों के कायिकी क्रिया-पंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

६६·३ जीव की अन्य जीव या जीवों के प्रति कायिकीपंचक-क्रियाएँ :—

(क) जीवे णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिए पंचकिरिए, सिय अकिरिए।

जीवे णं भंते ! नेरइयाओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय अकिरिए, एवं जाव थणियकुमाराओ।

पुढविक्काइयाओ, आउक्काइयाओ, तेउक्काइयाओ, वाउक्काइयवणस्स (प्फ)-इकाइय बेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्साओ जहा जीवाओ ; वाणमंतरजोइसियवेमाणियाओ जहा नेरइयाओ।

जीवे णं भंते ! जीवेहिंतो कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए, सिय अकिरिए।

जीवे णं भंते ! नेरइएहिंतो कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय अकिरिए, एवं जहेव पढमो दंडओ तहा एसो बिइओ भाणियव्वो।

—पण्ण० प २२। सू १५८८-९१। पृ० ४८०

जीव अन्य जीव के प्रति कभी कायिकी आदि तीन, कभी चार, कभी पाँच क्रियाएँ करता है, कभी अक्रिय रहता है। जीव नारकी यावत् स्तनितकुमार के प्रति कभी तीन, कभी चार क्रियाएँ करता है, कभी अक्रिय रहता है। जीव पृथिवीकाय यावत् मनुष्य के प्रति कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच क्रियाएँ करता है, कभी अक्रिय रहता है। जीव वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव के प्रति कभी तीन, कभी चार क्रियाएँ करता है, कभी अक्रिय रहता है। जीव अन्य जीवों के प्रति, नारकियों के प्रति यावत् वैमानिक देवों के प्रति उसी प्रकार क्रियाएँ करता है, जैसा ऊपर के प्रथम दण्डक में कहा गया है।

(ख) जीवा णं भंते ! जीवाओ कइ किरिया ? गोयमा ! सिय तिकिरिया वि, सिय चउकिरिया वि, सिय पंचकिरिया वि, सिय अकिरिया वि।

जीवा णं भंते ! नेरइयाओ कइ किरिया ? गोयमा ! जहेव आदिल्लदंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणिय त्ति।

जीवा णं भंते ! जीवेहिंतो कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि, अकिरिया वि।

जीवा णं भंते ! नेरइएहिंतो कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउ-किरिया वि, अकिरिया वि। असुरकुमारेहिंतो वि एवं चेव जाव वेमाणिएहिंतो, ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो।

—पण्ण० प २२। सू १५६२ से १५६५। पृ० ४८०

जीव अन्य एक जीव के प्रति कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच क्रियाएँ करते हैं, कभी अक्रिय रहते हैं। जीव एक नारकी के प्रति, एक देव के प्रति कभी तीन, कभी चार क्रियाएँ करते हैं कभी अक्रिय रहते हैं। दण्डक के शेष जीवों में एक जीव के प्रति कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच क्रियाएँ करते हैं, कभी अक्रिय रहते हैं।

जीव जीवों के प्रति कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच क्रियाएँ करते हैं, कभी अक्रिय रहते हैं। जीव नारकियों और देवों के प्रति कभी तीन, कभी चार क्रियाएँ करते हैं, कभी अक्रिय रहते हैं। जीव औदारिक शरीरी जीवों के प्रति कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच क्रियाएँ करते हैं, कभी अक्रिय रहते हैं।

'६६'४ दण्डक के जीव का औघिक जीव के तथा दण्डक के जीव के प्रति कायिकीपंचक की क्रिया :—

नेरइए णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउ-किरिए, सिय पंच किरिए। नेरइए णं भंते ! नेरइयाओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए। एवं जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं नेरइयस्स नेरइएहिंतो देवेहिंतो य पंचमा किरिया नत्थि।

नेरइया णं भंते ! जीवाओ कइ किरिया ? गोयमा ! सिय तिकिरिया, सिय चउ-किरिया, सिय पंचकिरिया। एवं जाव वेमाणियाओ, नवरं नेरइयाओ देवाओ य पंचमा किरिया नत्थि। नेरइया णं भंते ! जीवेहिंतो कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि। नेरइया णं भंते ! नेरइएहिंतो कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, एवं जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो।

असुरकुमारेणं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ? गोयमा ! जहेव नेरइएणं चत्तारि दंडगा तहेव असुरकुमारे वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा। एवं (च) उवउज्जिऊणं भावेयव्वं ति- जीवे मणूसे य अकिरिए वुच्चइ, सेसा अकिरिया न वुच्चंति, सव्वजीवा ओरालियसरीरेहिंतो पंचकिरिया, नेरइय-देवेहिंतो य पंचकिरिया ण वच्चंति।

एवं एक्केक्क जीवपए चत्तारि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा। एवं एयं दंडगसयं। सव्वे वि य जीवादीया दंडगा।

—पण्ण० प २२। सू १५९६, ९७, ९९ (२), १६००, १६०४। पृ० ४८०-८१

दंडक १ :—नारकी जीव कोई एक जीव के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच कायिकी आदि क्रिया करता है। नारकी जीव कोई एक नारकी के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया करता है। नारकी जीव देव बाद दण्डक के अन्य जीव के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया करता है। नारकी जीव देवदण्डकों में कोई एक देव के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया करता है। नारकी जीव कोई भी नारकी तथा देव के प्रति प्राणातिपातिकी पाँचवीं क्रिया नहीं कर सकता है।

दंडक २ :—नारकी जीव जीवों के प्रति तथा दण्डक के जीवों के प्रति उसी प्रकार क्रिया करता है जैसा एकवचन जीव तथा दण्डक के जीव के प्रति ऊपर वर्णन किया है।

दंडक ३ :—नारकी जीव (बहुवचन) कोई एक जीव के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच कायिकी आदि क्रिया करते हैं। नारकी जीव कोई एक नारकी के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया करते हैं। नारकी जीव देव बाद दण्डक के अन्य जीव के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया करते हैं। नारकी जीव देवदंडकों में कोई एक देव के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया करते हैं। नारकी जीव कोई भी नारकी तथा देव के प्रति प्राणातिपातिकी पाँचवीं क्रिया नहीं कर सकते हैं।

दंडक ४ :—नारकी जीव (बहुवचन) जीवों के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच कायिकी आदि क्रिया करते हैं; नारकी जीव औदारिक शरीर वाले जीवों के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया करते हैं। नारकी जीव देवों के प्रति कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया करते हैं।

असुरकुमार देव कोई एक जीव के प्रति उसी प्रकार क्रिया करता है जैसा नारकी जीव करता है। असुरकुमार देव के सम्बन्ध में नारकी जीव की तरह चार दण्डक कहने चाहिए।

नारकी की तरह मनुष्य बाद प्रत्येक दंडक के जीव के सम्बन्ध में चार-चार दंडक कहने चाहिए।

मनुष्य जीव के सम्बन्ध में कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया करता है तथा अक्रिय होता है ऐसे पाठ कहने चाहिए।

मनुष्य के सम्बन्ध में अक्रिय होता है—ऐसा पाठ कहना। अन्य दंडकों में अक्रिय होता है ऐसा पाठ नहीं कहना।

सर्व जीव औदारिक शरीर वाले जीव—जीवों के प्रति पाँच क्रिया तक करता है; नारक नारकियों, देव-देवों के प्रति प्राणातिपातिकी पाँचवीं क्रिया का वर्णन नहीं करना।

औधिक जीव तथा २४ दण्डक के जीव मोट २५ आलापकके सम्बन्ध में औधिक जीव तथा चौवीस दण्डक के जीव के प्रति कितनी क्रिया करता है—ऐसे पचीस-पचीस आलापक कहें। प्रत्येक आलापक में एकवचन-बहुवचन को ग्रहण करके चार-चार दंडक कहें।

'६६ ५ परकीय औदारिक शरीर की अपेक्षा कितनी क्रिया :—

जीवे णं भंते! ओरालियसरीराओ कइ किरिए? गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंच किरिए, सिय अकिरिए। नेरइए णं भंते! ओरालियसरीराओ कइ किरिए? गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। असुरकुमारे णं भंते! ओरालियसरीराओ कइ किरिए? एवं चेव, एवं—जाव—वेमाणिए, नवरं मणुस्से जहा जीवे।

जीवे णं भंते! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिए? गोयमा! सिय तिकिरिए—जाव—सिय अकिरिए। नेरइए णं भंते! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिए? एवं एसो जहा पढमो दंडगो तहा भाणियव्वो—जाव—वेमाणिए, नवरं मणुस्से जहा जीवे।

जीवा णं भंते! ओरालियसरीराओ कइ किरिया? गोयमा! सिय तिकिरिया—जाव—सिय अकरिया! नेरइया णं भंते! ओरालियसरीराओ कइ किरिया? एवं एसोवि जहा पढमो दंडगो तहा भाणियव्वो—जाव—वेमाणिया, नवरं मणुस्सा जहा जीवा।

जीवा णं भंते! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिया? गोयमा! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि, अकिरिया वि। नेरइया णं भंते! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिया? तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि एवं—जाव—वेमाणिया, नवरं मणुस्सा जहा जीवा।

—भग० श ८। उ ६। प्र १७ से २५। पृ० ५५३

जीव (एकवचन) के परकीय औदारिक शरीर (एकवचन) की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है; कदाचित् वह अक्रिय होता है। नारकी के परकीय औदारिक शरीर की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है। इसी प्रकार मनुष्य बाद असुरकुमार यावत् वैमानिक देव के परकीय औदारिक शरीर

की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है। मनुष्य जीव के परकीय औदारिक शरीर की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है ; कदाचित् वह अक्रिय होता है (प्रथम दंडक)।

जीव (एकवचन) के औदारिक शरीरों (बहुवचन) की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है ; कदाचित् वह अक्रिय होता है। दंडक के जीव के संबंध में वैसे ही आलापक कहने चाहिए जैसे एकवचन औदारिक शरीर के सम्बन्ध में कहे गये हैं (द्वितीय दंडक)।

जीवों (बहुवचन) के परकीय औदारिक शरीर (एकवचन) की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है, कदाचित् वे अक्रिय होते हैं। अवशेष आलापक प्रथम दंडक के अनुसार कहने चाहिए (तृतीय दण्डक)।

जीवों (बहुवचन) के परकीय औदारिक शरीरों (बहुवचन) की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है ; कदाचित् वे अक्रिय होते हैं। दण्डक के जीवों के सम्बन्ध में औदारिक शरीरों की अपेक्षा द्वितीय दंडक के अनुसार आलापक कहने चाहिए (चतुर्थ दण्डक)।

विश्लेषणः—यद्यपि मूल में परकीय शब्द नहीं है किन्तु टीकाकार ने मूल की भावना को समझकर परकीय शब्द का व्यवहार किया है, अतः हमने भी औदारिक शरीर के साथ उपयोग किया है।

'६६'६ परकीय वैक्रिय शरीर की अपेक्षा जीव के कितनी क्रिया :—

जीवे णं भंते ! वेउव्वियसरीराओ कइ किरिए ! गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय अकिरिए। नेरइए णं भंते ! वेउव्वियसरीराओ कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए एवं—जाव—वेमाणिए, नवरं मणुस्से जहा जीवे। एवं जहा ओरालियसरीरेणं चत्तारि दंडगा तहा वेउव्वियसरीरेण वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा, नवरं पंचमकिरिया ण भण्णइ, सेसं तं चेव।

—भग० श ८। उ ६। प्र २६,२७। पृ० ५५३

जीव (एकवचन) के परकीय वैक्रिय शरीर (एकवचन) की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया होती है ; कदाचित् वह अक्रिय होता है। नारकी के परकीय वैक्रिय शरीर की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया होती है। इसी प्रकार मनुष्य बाद असुरकुमार यावत् वैमानिक देव के परकीय वैक्रिय शरीर की अपेक्षा कदाचित् तीन,

कदाचित् चार क्रिया होती है। मनुष्य जीव के परकीय वैक्रिय शरीर की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया होती है, कदाचित् वह अक्रिय होता है, (प्रथम दंडक)।

औदारिक शरीरकी अपेक्षा चार दण्डक कहे गये हैं वैसे ही चार दण्डक वैक्रिय शरीर की अपेक्षा कहने चाहिए। लेकिन प्राणातिपातिकी पाँचवीं क्रिया नहीं कहनी चाहिए क्योंकि वैक्रिय शरीरी का प्राणातिपात नहीं होता है अतः जीव को वैक्रिय शरीर की अपेक्षा प्राणातिपातिकी क्रिया नहीं होती है।

'६६'७ परकीय आहारक, तैजस, कार्मण शरीर की अपेक्षा जीव के कितनी क्रिया :—

एवं जहा वेउव्वियं तहा आहारगं वि, तेयगं वि, कम्मगं वि भाणियव्वं, एक्के क्के चत्तारि दंडगा भाणियव्वा जाव—वेमाणिया णं भंते ! कम्मगसरीरेहिंतो कइ किरिया ? तिकिरिया वि, चउकिरिया वि। —भग० श ८। उ ६। प्र २७। पृ० ५५३

जीव (एकवचन) के परकीय आहारक शरीर (एकवचन)की अपेक्षा, परकीय तैजस शरीर (एकवचन) की अपेक्षा, परकीय कार्मण शरीर (एकवचन) की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया होती है, कदाचित् वह अक्रिय होता है। नारकी के परकीय आहारक शरीर की अपेक्षा, परकीय तैजस शरीर की अपेक्षा,परकीय कार्मण शरीर की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया होती है। इसी प्रकार मनुष्य वाद असुरकुमार यावत् वैमानिक देव के परकीय आहारक शरीर की अपेक्षा, परकीय तैजस शरीर की अपेक्षा, परकीय कार्मण शरीर की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार क्रिया होती है। मनुष्य जीव के परकीय आहारक शरीर की अपेक्षा, परकीय तैजस शरीर की अपेक्षा, परकीय कार्मण शरीर की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित चार क्रिया होती है ; कदाचित् वह अक्रिय होता है (प्रथम दंडक)।

अवशेष दूसरा दंडक (एकवचन जीव—बहुवचन शरीर), तीसरा दंडक (बहुवचन जीव—एकवचन शरीर) तथा चौथा दंडक (बहुवचन जीव—बहुवचन शरीर) वैक्रिय शरीर के दण्डकों के अनुसार कहना चाहिए। ('६६'४)

विश्लेषण :—टीकानुसारी—नारकी जीव अधोलोक में रहता है तथा आहारक शरीर वाला मनुष्य मनुष्य-लोक में रहता है अतः नारकी जीव किस प्रकार आहारक शरीर की अपेक्षा क्रियावाला हो सकता है ?

नारकी जीव पूर्वभव में त्यक्त शरीरों के हाडकों आदि से आहारक शरीर के स्पर्शना-परितापना हो सकती है इसलिए अविरति भाव से नारकी जीव के आहारक शरीर की अपेक्षा तीन या चार क्रिया हो सकती है।

'६६ ८ कायिकी क्रियापंचक और शरीर, इन्द्रिय व योग का निर्माण करता हुआ जीव :—

जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरं निव्वत्तेमाणे कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए एवं पुढविकाइए वि, एवं—जाव—मणुस्से।

जीवा णं भंते ! ओरालियसरीरं निव्वत्तेमाणा कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि ; एवं पुढविकाइया वि, एवं—जाव-मणुस्सा।

एवं वेउव्वियसरीरेण वि दो दंडगा, नवरं जस्स अत्थि वेउव्वियं।

एवं—जाव—कम्मगसरीरं।

एवं सोइंदियं—जाव—फासेंदियं।

एवं मणजोगं, वइजोगं, कायजोगं।

जस्स जं अत्थि तं भाणियव्वं, एए एगत्तपुहुत्तेणं छव्वीसं दंडगा।

—भग० श १७ । उ १ । प्र १४-१५ । पृ० ७५५

औदारिक शरीर का निर्माण करते हुए—बाँधते हुए—जीव के कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीव से लेकर मनुष्य जीव तक कहना चाहिए।

औदारिक शरीर का निर्माण करते हुए - बाँधते हुए जीवों के कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों यावत् मनुष्य जीवों के संबंध में ऐसा ही कहना चाहिए।

वैक्रिय शरीर का निर्माण करते हुए—बाँधते हुए जीव या जीवों के कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है लेकिन जिसके वैक्रिय शरीर होता है या वैक्रिय शरीर बनाने की योग्यता होती है उन दंडकों का विवेचन करना चाहिए।

इसी प्रकार आहारक शरीर के संबंध में कहना चाहिए लेकिन जीव तथा मनुष्य के संबंध में ही आलापक कहने चाहिए क्योंकि आहारक शरीर अन्य दंडको में नहीं होता है।

इसी प्रकार तैजस या कार्मण शरीर का निर्माण करते हुए—बाँधते हुए जीव या जीवों के कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है। दंडक के सभी जीवों के संबंध में कहना चाहिए, क्योंकि तैजस और कार्मण शरीर सभी जीवदंडकों के होता है।

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मनोयोग-वचनयोग या काययोग का निर्माण करते हुए—बाँधते हुए जीव या जीवों के कदाचित् तीन, कदाचित चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है। लेकिन जिस जीव या जीवों के जो इन्द्रिय तथा योग होते हैं उस इन्द्रिय या योग के सम्बन्ध में आलापक कहना चाहिये।

औदारिक-वैक्रिय-आहारक-तैजस-कार्मण शरीर; श्रोत्रेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय-रसेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय; मनोयोग-वचनयोग-काययोग को बाँधता हुआ जीव—ऐसे तेरह आलापक हुए। एकवचन-बहुवचन को ग्रहण करने से छब्बीस आलापक होते हैं।

'६६ ९ कायिक क्रियापंचक और श्वास-निश्वास लेते हुए स्थावर जीव :—

पुढविकाइए णं भंते ! पुढविकाइयं चेव आणममाणे वा पाणममाणे वा ऊससमाणे वा णीससमाणे वा कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। पुढविकाइए णं भंते ! आउक्काइयं आणममाणे वा०? एवं चेव, एवं—जाव—वणस्सइकाइयं; एवं आउक्काइएण वि सव्वे भाणियव्वा; एवं तेउक्काइएण वि; एवं वाउक्काइएण वि;—जाव—वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाइयं चेव आणममाणे वा० पुच्छा ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

—भग० श ९। उ ३४। प्र १२-१३। पृ० ६१२

पृथ्वीकायिक जीव को श्वास या निःश्वास में पृथ्वीकायिक जीवों को ग्रहण करते हुए कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीव को श्वास-निःश्वास में अप्कायिक-अग्निकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक जीवों को ग्रहण करते हुए कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

इसी प्रकार अप्कायिक जीव को श्वास या निःश्वास में पृथ्वीकायिक-अप्कायिक-अग्निकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक जीवों को ग्रहण करते हुए कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

इसी प्रकार अग्निकायिक जीव को श्वास या निःश्वास में पृथ्वीकायिक-अप्कायिक-अग्निकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक जीवों को ग्रहण करते हुए कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

इसी प्रकार वायुकायिक जीव को श्वास या निःश्वास में पृथ्वीकायिक-अप्कायिक-अग्निकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक जीवों को ग्रहण करते हुए कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

इसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीव को श्वास या निःश्वास में पृथ्वीकायिक-अप्कायिक-अग्निकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक जीवों को ग्रहण करते हुए कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

'६६'१० कायिक क्रियापंचक और वृक्षादि को कँपाता—नीचे गिराता हुआ वायुकायिक जीव :—

वाउक्काइए णं भंते ! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइ किरिए? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। एवं कंदं एवं—जाव—मूलं, बीयं पचालेमाणे वा० पुच्छा ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। —भग० श ६। उ ३४। प्र १३। पृ० ६१२-१३

वृक्ष के मूल को हिलाते हुए या नीचे गिराते हुए वायुकायिक जीव को कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है। इसी प्रकार कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज को हिलाते हुए या नीचे गिराते हुए वायुकायिक जीव को कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

'६६'११ कायिक क्रियापंचक और ताल-वृक्ष को कँपाता तथा नीचे गिराता हुआ पुरुष तथा तालफल :—

पुरिसे णं भंते ! तालमारुहइ, तालमारुहित्ता तालाओ तालफलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तालमारुहइ, तालमारुहित्ता तालाओ तालफलं पचालेइ वा पवाडेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि णं सरीरेहिंतो ताले निव्वत्तिए, तालफले निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

अहे णं भंते ! से तालफले अप्पणो गुरूयत्ताए, जाव—पच्चोवयमाणे जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेइ, तएणं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तलप्फले अप्पणो गुरूयत्ताए जाव—जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव—चउहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो तले निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठा ; जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो तालफले निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए

जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा, जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे वट्टंति ते वि य णं जीवा काइयाए—जाव -पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

—भग० श १७। उ १। प्र ५-६। पृ० ७५४

यदि कोई पुरुष ताड़ के वृक्ष पर चढ़े तथा ताड़वृक्ष पर चढ़कर उस वृक्ष के ताड़-फल को कँपावे तथा नीचे गिरावे तो उस पुरुष को पेड़ पर चढ़ने से लेकर फल गिराने तक कायिकी आदि पाँचों क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। जिन जीवों के शरीर से ताड़ का वृक्ष वना, ताड़फल वना उन जीवों को भी पाँचो क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

उस ताड़फल के ताड़-वृक्ष से अलग होने के पश्चात् जब वह ताड़फल अपने गुरुभार से नीचे गिरता है, तथा नीचे गिरते हुए उस ताड़फल के द्वारा जिन जीवो का हनन होता है यावत् प्राण-वियोग होता है तब तक उस फल तोड़ने वाले पुरुष को फल के स्वगुरु-भार से गिरने से लेकर प्राणवियोग पर्यन्त चार क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

जिन जीवो के शरीर से ताड़ का वृक्ष वना, उन जीवों को चार क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं; जिन जीवों के शरीर से ताड़ का फल वना उन जीवों को पाँच क्रियाएं स्पृष्ट होती हैं तथा वैस्रसिक—स्वाभाविक रूप से अपने गुरुभार से गिरते हुए उस ताड़फल के जो जीव उपग्राहक—उपकारक होते हैं उन जीवों को भी कायिक आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

विश्लेषण :—ऊपरोक्त पाठ में क्रिया के छः आलापक कहे गये हैं :—

१ :—वृक्ष पर चढ़कर हिलाते व गिराते हुए पुरुष के पाँच क्रियाएँ होती हैं क्योंकि वह पुरुष ताड़फल तथा ताड़फल के आश्रित जीवों की साक्षात् हिंसा करता है अतः उसको प्राणातिपातिकी क्रिया होती है।

२ :—जिन जीवो के शरीर से ताड़ का वृक्ष, ताड़ का फल वना उन जीवों को भी पाँच क्रियाएँ होती हैं क्योंकि ताड़ का वृक्ष तथा उसका फल स्पर्शादि के द्वारा अन्य जीवों का साक्षात् हनन करता है।

३ :—स्वाभाविक गुरुभार से गिरते हुए ताड़फल के द्वारा जीवों का हनन होता है यावत् प्राणवियोग होता है उससे फल गिराने वाले व्यक्ति को चार क्रियाएँ होती हैं क्योंकि स्वाभाविक गुरुभार से गिरते हुए फल के द्वारा जो हिंसा होती है उसमें पुरुष साक्षात् कारण नहीं है लेकिन परम्परा कारण है अतः प्राणातिपातिकी क्रिया नहीं होती है।

४ :—इस स्थिति में जिन जीवों के शरीर से ताड़ का वृक्ष वना उन जीवों को चार क्रियाएँ होती हैं क्योंकि अपने गुरुभार से गिरते हुए ताड़ के वृक्ष के जो हिंसा होती है उसमें ताड़ का वृक्ष भी साक्षात् कारण नहीं है लेकिन परम्परा कारण है अतः प्राणातिपातिकी क्रिया नहीं होती है।

५ :—जिन जीवों के शरीर से ताड़फल बना, उपजा ; उन जीवों को पाँच क्रियाएँ होती हैं क्योंकि ताड़फल प्राणवध में साक्षात् कारण है।

६ :—जो जीव स्वाभाविक गुरुभार से गिरते हुए ताड़फल के उपग्राहक—उपकारक होते हैं उन जीवों को पाँच क्रियाएँ होती हैं क्योंकि स्वाभाविक गुरुभार से गिरते हुए जो ताड़फल के उपग्राहक जीव होते हैं वे वध में कारण हैं अतः प्राणातिपातिकी क्रिया होती है।

'६६'१२ कायिकी क्रियापंचक और वृक्ष के मूल यावत् बीज को कँपाता तथा नीचे गिराता हुआ पुरुष :—

पुरिसे णं भंते ! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा, पवाडेमाणे वा कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे रुक्खस्स मूलं पचालेइ वा, पवाडेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ; जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले निव्वत्तिए, जाव—बीए निव्वत्तिए, ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

अहे णं भंते ! से मूले अप्पणो गुरूययाए जाव—जीवियाओ ववरोवेइ तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से मूले अप्पणो जाव—ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ; जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो कंदे निव्वत्तिए, जाव बीए निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव—चउहिं पुट्ठा ; जेसिं पि य णं जीवा णं सरीरेहिंतो मूले निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ; जे वि य णं से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्य उवग्गहे वट्टंति ते वि णं जीवा काइयाए जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

पुरिसे णं भंते ! रुक्खस्स कंदं पचालेमाणे वा, पवाडेमाणे वा कइ किरिए ? गोयमा ! तावं च णं से पुरिसे जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ; जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले निव्वत्तिए, जाव—बीए निव्वत्तिए ते वि णं जीवा जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

अहे णं भंते ! से कंदे अप्पणो गुरूययाए जाव जीवियाओ ववरोवेइ तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ? जाव—चउहिं पुट्ठे ; जेसिं पि णं जीवा णं सरीरेहिंतो मूले निव्वत्तिए, खंधे निव्वत्तिए, जाव - चउहिं पुट्ठा ; जेसिं पि णं जीवा णं सरीरेहिंतो कंदे

निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा जाव—पंचहिं पुट्ठा ; जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स जाव—पंचहिं पुट्ठा।

जहा कंदे; एवं जावं बीयं।

—भग० श १७। उ १। प्र ७ से १०। पृ० ७५४-५५

यदि कोई पुरुष वृक्ष के मूल को कँपावे तथा नीचे गिरावे तो उस वृक्ष के मूल को कँपाते हुए—नीचे गिराते हुए पुरुष को कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। जिन जीवों के शरीर से मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज बने उन जीवों को कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

तत्पश्चात् वह वृक्ष का मूल अपने गुरुभार से नीचे गिरता है तथा नीचे गिरता हुआ मूल जीवों का हनन करे यावत् प्राणवियोग करे तो उस पुरुष को चार क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। जिन जीवों के शरीर से कंद यावत् बीज बने उन जीवों को चार क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। जिन जीवों के शरीर से वृक्ष का मूल बना उन जीवों को पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। विस्रसा—स्वाभाविक रूप से अपने गुरुभार से नीचे गिरते हुए वृक्ष के मूल के जो जीव उपग्राहक—उपकारक होते हैं उन जीवों को भी पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

यदि कोई पुरुष वृक्ष के कंद को कँपावे तथा नीचे गिरावे तो उस वृक्ष के कंद को कँपाते हुए—नीचे गिराते हुए पुरुष को कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। जिन जीवों के शरीर से मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज बने उन जीवों को कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

तत्पश्चात् वह वृक्ष का कंद अपने गुरुभार से नीचे गिरता है तथा नीचे गिरता हुआ कंद जीवों का हनन करे यावत् प्राणवियोग करे तो उस पुरुष को चार क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। जिन जीवों के शरीर से मूल, स्कंध यावत् बीज बने उन जीवों को चार क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। जिन जीवों के शरीर से वृक्ष का कंद बना उन जीवों को पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं। विस्रसा—स्वाभाविक रूप से अपने गुरुभार से नीचे गिरते हुए वृक्ष के कंद के जो जीव उपग्रहक—उपकारक होते हैं उन जीवों को भी पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

जिस प्रकार कंद का आलापक कहा उसी प्रकार स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज बने उन जीवों को भी कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

विश्लेषण—टीका— एतानि च फलद्वारेण षट् क्रियास्थानान्युक्तानि; मूलादिष्वपि षडेव भावनीयानि। 'एवं जाव बीयं' ति अनेन कन्दसूत्राणीव स्कन्धत्वक्शालप्रवालपत्रपुष्पफलबीजसूत्राण्यध्येयानीति सूचितम्।

क्रमांक '६६·११ के विश्लेषण में जैसे छः क्रियास्थान के आलापक कहे गये हैं उसी प्रकार मूल यावत् बीज के विषय में भी छः-छः क्रियास्थान आलापक समझने चाहिए।

'६६'१३ कायिकी क्रियापंचक और समुद्घात

'६६'१३'१ कायिकी क्रियापंचक और वेदना समुद्घात :—

जीवे णं भंते ! वेयणासमुग्घाएणं समोहए, समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ ××× । ते णं भंते ! पोग्गला निच्छूढा समाणा जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणंति, वत्तेंति, लेसेंति, संघाएंति संघट्टेंति परियावेंति किलामेंति उद्दवेंति, तेहिंतो णं भंते ! से जीवे कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। ते णं भंते ! जीवा ताओ जीवाओ कइ किरिया ? गोयमा ! सिय तिकिरिया, सिय चउकिरिया, सिय पंचकिरिया। से णं भंते ! जीवे ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परंपराघाएणं कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि।

नेरइए णं भंते ! वेयणासमुग्घाएणं समोहए एवं जहेव जीवे, णवरं नेरइयाभिलावो, एवं निरवसेसं जाव वेमाणिए।

—पण्ण० प ३६ । सू २१५३-५४ । पृ० ५२६

वेदना समुद्घात से समवहत—वेदना समुद्घात करने वाला जीव वेदना समुद्घात करके जिन पुद्गलों को बाहर निकालता है वे बाहर निकाले हुए पुद्गल तत्र स्थित प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों का हनन करते हैं, हेर-फेर करते हैं, थोड़ा स्पर्श करते हैं, परस्पर संघात उत्पन्न करते हैं, तीव्र संघात उत्पन्न करते हैं, पीड़ा उत्पन्न करते हैं, क्लान्त करते हैं, प्राण-वियोग करते हैं तो उन जीवों की अपेक्षा उन पुद्गलों से वेदना समुद्घात वाले जीव के कदाचित् तीन क्रिया, कदाचित् चार क्रिया, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

वेदना समुद्घात से निर्गत पुद्गलों द्वारा हननादि किये जाने वाले जीवों को उस वेदना समुद्घात करने वाले जीव की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

वेदना समुद्घात करने वाले जीव के तथा समुद्घात से निर्गत पुद्गलों द्वारा हननादि किये जाने वाले जीवों के साथ अन्य जीवों का परम्पर-आघात होने से उस वेदना समुद्घात करने वाले जीव के तथा समुद्घात से निर्गत पुद्गलों द्वारा हननादि किये जाने वाले जीवों के परम्पराघातित अन्य जीवों की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

वेदना समुद्घात करने वाले दंडक के सभी जीवों के सम्बन्ध में उपर्युक्त औघिक जीव की तरह आलापक कहने चाहिए।

'६६'१३'२ कायिकी क्रियापंचक और कषाय समुद्घात :—

एवं कसायसमुग्घायोवि भाणियव्वो (जहा वेयणासमुग्घाए)।

—पण्ण० प ३६ । सू २१५५ । पृ० ५२६

कषाय समुद्घात करने वाले औघिक जीव तथा दण्डक के जीव के सम्बन्ध में कायिकी आदि क्रियापंचक की वक्तव्यता उसी प्रकार कहनी चाहिए जैसी वक्तव्यता वेदना समुद्घात करने वाले जीव और दण्डक के जीव के सम्बन्ध में कही गई है ।

'६६'१३'३ कायिकी क्रियापंचक और मारणांतिक समुद्घात :—

जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ ××× सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया वि ।

एवं नेरइए वि, ××× सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया वि ।

असुरकुमारस्स जहा जीवपए ××× सेसं तं चेव जहा असुरकुमारे, एवं जाव वेमाणिए, णवरं एगिंदिए जहा जीवे निरवसेसं ।

—पण्ण० प ३६ । सू २१५६-५८ । पृ० ५२६-३०

मारणांतिक समुद्घात करने वाले औघिक जीव तथा दंडक के जीव के सम्बन्ध में कायिकी आदि क्रियापंचक की वक्तव्यता उसी प्रकार कहनी चाहिए जैसी वक्तव्यता वेदना समुद्घात करने वाले औघिक जीव और दण्डक के जीव के सम्बन्ध कही गई है ।

'६६'१३'४ कायिकी क्रियापंचक और वैक्रियस मुद्घात :—

जीवे णं भंते ! वेउव्वियसमुग्घाए णं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ × × × सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया वि ।

एवं नेरइए वि । × × × । तं चेव जहा जीवपए ।

एवं जहा नेरइयस्स तहा असुरकुमारस्स, × × × एवं जाव थणियकुमारस्स ।

वाउक्काइयस्स जहा जीवपए × × × ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स निरवसेसं जहा नेरइयस्स । मणूसवाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स निरवसेसं जहा असुरकुमारस्स ।

—पण्ण० प ३६ । सू २१५६ से २१६४ । पृ० ५३०

अस्तु—नारकी, असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देव, वायुकाय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक जीव, मनुष्य, वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देव वैक्रिय समुद्घात कर सकते हैं तथा पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक अग्निकायिक जीव—वनस्पतिकायिक जीव—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीवों के वैक्रिय समुद्घात नहीं होती है।

'६६'१३'५ कायिकी क्रियापंचक और तैजस समुद्घात :—

जीवे णं भंते ! तेयगसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ ××× एवं जहेव वेउव्वियसमुग्घाए तहेव ××× सेसं तं चेव, एवं जाव वेमाणियस्स ×××।
—पण्ण० प ३६। सू २१६५। पृ० ५३०

तैजस समुद्घात करने वाले औधिक जीव तथा तैजस समुद्घात करने योग्य दंडक के जीव के सम्बन्ध में कायिकी आदि क्रियापंचक की वक्तव्यता उसी प्रकार कहनी चाहिए जैसी वक्तव्यता वेदना समुद्घात करने वाले औधिक जीव और दंडक के जीव के सम्बन्ध में कही गई है।

अस्तु—चार देवनिकाय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक जीव तथा मनुष्य जीव के तैजस समुद्घात होती है अन्य दंडक के जीवों के नहीं।

'६६'१३'६ कायिकी क्रियापंचक और आहारक समुद्घात :—

जीवे णं भंते ! आहारगसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ ××× ते णं भंते ! पोग्गला निच्छूढा समाणा जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणंति जाव उद्दवेंति ते (तओ) णं भंते ! जीवे कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। ते णं भंते ! जीवाताओ जीवाओ कइ किरिया ? गोयमा ! एवं चेव। से णं भंते ! जीवे ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परंपराघाएणं कइ किरिया ? गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि, एवं मणूसे वि।
—पण्ण० प ३६। सू २१६६-६७। पृ० ५३०-३१

आहारक समुद्घात से समवहत—आहारक समुद्घात करने वाला जीव आहारक समुद्घात करके जिन पुद्गलों को बाहर निकालता है वे बाहर निकाले हुए पुद्गल तत्रस्थित प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों का हनन करते हैं, हेर-फेर करते हैं, थोड़ा स्पर्श करते हैं, परस्पर संघात उत्पन्न करते हैं, तीव्र संघात उत्पन्न करते हैं, पीड़ा उत्पन्न करते हैं, क्लांत करते हैं, प्राण-वियोग करते हैं तो उन जीवों की अपेक्षा उन पुद्गलों से आहारक समुद्घात करने वाले जीव के कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

आहारक समुद्घात से निर्गत पुद्गलों द्वारा हनन किये जाने वाले जीवों को उस

आहारक समुद्घात करने वाले जीव की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

आहारक समुद्घात करने वाले जीव के तथा समुद्घात से निर्गत पुद्गलों द्वारा हननादि किये जाने वाले जीवों के साथ अन्य जीव का परंपर-आघात होने से उस आहारक समुद्घात से निर्गत पुद्गलों द्वारा हननादि किये जाने वाले जीवों के परम्परा घातित अन्य जीवों की अपेक्षा कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

चूँकि आहारक समुद्घात केवल मनुष्य ही करता है अतः मनुष्य पद में भी ऐसा ही पाठ कहना चाहिए।

·६६·१३·७ कायिकी क्रियापंचक और केवलि समुद्घातः—

(क) अणगारस्स णं भंते। भावियप्पणो केवलिसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा निज्जरापोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पन्नत्ता ? समणाउसो ! सव्वलोगंपि य णं ते फुसित्ता णं चिट्ठंति ? हंता, गोयमा ! अणगारस्स भावियप्पणो केवलिसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा निज्जरापोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पन्नत्ता, समणाउसो ! सव्वलोगंपि य णं फुसित्ताणं चिट्ठंति।

—पण्ण० प ३६। सू २१६८। पृ० ५३१

(ख) अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवलिसमुग्घाएणं समोहणित्ता केवलकप्पं लोयं फुसित्ताणं चिट्ठइ ? हंता, चिट्ठइ।

से णूणं भंते ! केवलकप्पे लोए तेहिं निज्जरापोग्गलेहिं फुडे ? हंता, फुडे।

—उव० सू ४२। पृ० ३५

केवलिसमुद्घात से समवहत— केवलिसमुद्घात करने वाले भावितात्मा अणगार के अंतिम समय के निर्ज्जरित पुद्गल सूक्ष्म होते हैं और वे सर्वलोक को स्पर्श करके रहते हैं; केवलि के कायिकी आदि क्रिया नहीं होती है सयोगी केवलि के मात्र ऐर्यापथिक क्रिया होती है; केवलिसमुद्घात के समय में भी कायिकी आदि क्रिया नहीं होती है क्योंकि उनके द्वारा निर्ज्जरित पुद्गल सूक्ष्म होते हैं।

६६·१४ जीव और कायिकी क्रियापंचक की पारस्परिक नियमा-भजना :—

(क) जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ, जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणि (या) किरिया नियमा कज्जइ, जस्स आहिगरणि (या) किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया नियमा कज्जइ।

—पण्ण० प २२ । सू १६०७ । पृ० ४८१

जिस जीव के कायिकी क्रिया होती है उसके अधिकरणी क्रिया नियम से होती है तथा जिस जीव के अधिकरणी क्रिया होती है उसके कायिकी क्रिया नियम—निश्चय होती है।

(ख) जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पाओसिया किरिया कज्जइ, जस्स पाओसिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! एवं चेव। —पण्ण० प २२ । सू १६०८ । पृ० ४८१

जिस जीव के कायिकी क्रिया होती है उसके प्राद्वेषिकी क्रिया अवश्य होती है तथा जिसके प्राद्वेषिकी क्रिया होती है उस जीव के कायिकी क्रिया निश्चय होती है।

(ग) जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ, जस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, जस्स पुण पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया नियमा कज्जइ। —पण्ण० प २२ । सू १६०९ । पृ० ४८१

जिस जीव के कायिकी क्रिया होती है उसके पारितापनिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है तथा जिस जीव के पारितापनिकी क्रिया होती है उसके कायिकी क्रिया निश्चय से होती है।

(घ) एवं पाणाइवायकिरिया वि। —पण्ण प २२ । सू १६१० । पृ० ४८१

पारितापनिकी क्रिया की तरह प्राणातिपातिकी क्रिया को कहना। अर्थात् जिसके कायिकी क्रिया होती है उसके प्राणातिपातिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। लेकिन जिस जीव के प्राणातिपातिकी क्रिया होती है उसके कायिकी क्रिया निश्चय से होती है।

(च) एवं आइल्लाओ परोप्परं नियमा तिन्नि कज्जंति।

—पण्ण० प २२ । सू १६११ । पृ० ४८१

इस तरह प्रथम की तीन क्रियाएँ (कायिकी-अधिकरणी-प्राद्वेषिकी) परस्पर में अवश्य होती हैं।

(छ) जस्स आइल्लाओ तिन्नि कज्जंति तस्स उवरिल्लाओ दोण्णि सिय कज्जंति, सिय नो कज्जंति, जस्स उवरिल्लाओ दोण्णि कज्जंति, तस्स आइल्लाओ नियमा तिन्नि कज्जंति। —पण्ण० प २२ । सू १६११ । पृ० ४८१

जिस जीव के आदि की तीन क्रियाएँ होती हैं उनके पंचक की शेष दो क्रियाएँ (पारितापनिकी-प्राणातिपातिकी) कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। जिस जीव के पंचक की शेष की दो क्रियाएँ होती हैं उसके आदि की तीन क्रियाएँ अवश्य होती हैं।

(ञ) जस्स णं भंते ! जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पाणाइवायकिरिया कज्जइ, जस्स पाणाइवायकिरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! जस्स णं जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पाणाइवायकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, जस्स पुण पाणाइवायकिरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया नियमा कज्जइ। —पण्ण० प २२। सू १६१२। पृ० ४८१

जिस जीव के पारितापनिकी क्रिया होती है उसके प्राणातिपातिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। लेकिन जिसके प्राणातिपातिकी क्रिया होती है उसके पारितापनिकी क्रिया नियम से होती है।

(झ) जस्स णं भंते ! नेरइयस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! जहेव जीवस्स तहेव नेरइयस्स वि, एवं निरंतरं जाव वेमाणियस्स। —पण्ण० प २२। सू १६१३। पृ० ४८१-८२

जैसे जीव के सम्बन्ध में कायिकी क्रियापंचक की पारस्परिक भजना-नियमा कही वैसे ही नारक जीवों से लेकर यावत् वैमानिक देवों तक दण्डक के सभी जीवों के लिये कहना।

टीका- इह कायिकी क्रिया औदारिकादिक्रियाश्रिता प्राणातिपातनिर्वर्त्तनसमर्था प्रतिविशिष्टा परिगृह्यते न या काचन कार्मणकायाश्रिता वा, तत आद्यानां तिसृणां क्रियाणां परस्परं नियमानियामकभावः, कथमिति चेत्, उच्यते, कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक्, ततः कायस्याधिकरणत्वात् कायिक्यां सत्यामवश्यमाधिकरणिकी आधिकरणिक्यामवश्यं कायिकी, सा च प्रतिविशिष्टा कायिकी क्रिया प्रद्वेषमन्तरेण न भवति ततः प्राद्वेषिक्याऽपि सह परस्परमविनाभावः, प्रद्वेषोऽपि च काये स्फुटलिंग एव वक्त्ररूक्षत्वादेस्तदविनाभाविनः प्रत्यक्षत एवोपलम्भात्, उक्तं च—

"रूक्षयति रुष्यतो ननु वक्त्रं स्निह्यति च रज्यतः पुंसः।
औदारिकोऽपि देहो भाववशात् परिणमत्येवम् ॥"

परितापनस्य प्राणातिपातस्य चाद्यक्रियात्रयसम्भवेऽप्यनियमः, कथमिति चेत्, उच्यते, यदसौ घात्यो मृगादिर्घातकेन धनुषा क्षिप्तेन बाणादिना विध्यते ततस्तस्य परितापनं मरणं वा भवति, नान्यथा, ततो नियमाभावः परितापनस्य प्राणाति-

पातस्य च भावे पूर्वक्रियाणामवश्यं भावस्तासामभावे तयोरभावात्, ततोऽमुमेवार्थं परिभाव्य कायिकी शेषाभिश्चतसृभिः क्रियाभिः सह आधिकरणिकी तिसृभिः क्रियाभिः सह प्राद्वेषिकी द्वाभ्यां सूत्रतः सम्यक् चिन्तनीया, पारितापनिकीप्राणातिपात-क्रिययोस्तु सूत्रं साक्षादाह—

'जस्स णं भंते ! जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ' इत्यादि, पारितापनिक्याः सद्भावे प्राणातिपातक्रिया स्याद् भवति स्यान्न भवति, यदा वाणाद्यभिघातेन जीवितात् च्याव्यते तदा भवति शेषकालं न भवतीत्यर्थः, यस्य पुनः प्राणातिपातक्रिया तस्य नियमात् पारितापनिकी, परितापनमन्तरेण प्राणव्यपरोपणासंभवात्।

यहाँ कायिकी क्रिया से औदारिकादि शरीर के आश्रित प्राणातिपात—हिंसा करने में समर्थ ऐसी विशिष्ट क्रिया को ग्रहण करना लेकिन कार्मण शरीर के आश्रित क्रिया को ग्रहण नहीं करना। प्रथम तीन क्रियाओं का परस्पर में नियमित संबंध है इसका कारण यह है कि 'शरीर अधिकरण भी है।' अतः काया के अधिकरण होने से कायिकी क्रिया जहाँ होती है वहाँ आधिकरणिकी किया अवश्य होती है तथा जहाँ आधिकरणिकी क्रिया होती है वहाँ कायिकी क्रिया अवश्य होती है और वह विशिष्ट कायिकी क्रिया प्रद्वेष के बिना नहीं होती है, इसलिए प्राद्वेषिकी क्रिया के साथ भी परस्पर में नियमित सम्बन्ध है। प्रद्वेष के लक्षण काया में स्पष्ट प्रस्फुटित होते हैं क्योंकि मुख की वक्रता-रूक्षता आदि प्रद्वेष के निश्चित चिह्न प्रत्यक्ष जाने जाते हैं। अतः कायिकी और आधिकरणिकी क्रिया के साथ प्राद्वेषिकी क्रिया का अविनाभाव सम्बन्ध है।

परिताप और प्राणातिपात का प्रथम की तीन क्रियाओंके सद्भाव में होने का निश्चित नियम नहीं है। यथा—घातक शिकारी घात के पात्र मृगादि पशु को धनुष के द्वारा निक्षिप्त बाण से बींधता है उससे उसका परिताप और मरण होता है अन्यथा नहीं होता है इसलिए अनिश्चयता है। परिताप और प्राणातिपात के सद्भाव में कायिकी-आधिकरणिकी-प्राद्वेषिकी क्रिया अवश्य होती है क्योंकि इन तीन क्रियाओं के अभाव में परिताप और प्राणातिपात नहीं होता है।

पारितापनिकी क्रिया के सद्भाव में प्राणातिपातिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। बाणादि के अभिघात से जीव काया से जुदा होता है—मृत्यु को प्राप्त होता है तब प्राणातिपातिकी क्रिया होती है—अवशेष काल में नहीं होती है। जिसको प्राणातिपातिकी क्रिया होती है उसे पारितापनिकी क्रिया अवश्य होती है क्योंकि परिताप के बिना प्राणों का वियोग नहीं होता है।

'६६'१५ कायिकी आदि क्रियाओं की पारस्परिक नियमा-भजना— समय-देश-प्रदेश की अपेक्षा :—

जं समयं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तं समयं अहिगरणिया किरिया कज्जइ, जं समयं अहिगरणिया कज्जइ तं समयं काइया किरिया कज्जइ ? एवं जहेव आइल्लओ दंडओ (भणिओ), तहेव भाणियव्वो, जाव वेमाणियस्स। जं देसं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया तं देसं णं अहिगरणिया किरिया कज्जइ ?० तहेव— जाव वेमाणियस्स। जं पएसं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया तं पएसं णं अहिगरणिया किरिया कज्जइ ?० एवं तहेव जाव वेमाणियस्स। एवं एए जस्स, जं समयं, जं देसं, जं पएसं णं चत्तारि दंडगा होंति।

— पण्ण० प २२। सू० १६१४ से १६१६। पृ० ४८२

'जिस समय कायिकी क्रिया होती है उस समय आधिकरणिकी क्रिया होती है या नहीं' इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में, 'जिस देश में कायिकी क्रिया होती है उस देश में आधिकरणिकी क्रिया होती है या नहीं' इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में तथा 'जिस प्रदेश में कायिकी क्रिया होती है उस प्रदेश में आधिकरणिकी क्रिया होती है या नहीं' इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में वैसे ही सम्पूर्ण आलापक कहने चाहिए जैसे आलापक 'जिस जीव के कायिकी क्रिया होती है उसके आधिकरणिकी क्रिया होती है या नहीं'—इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में कहे गये हैं। (देखो क्रमांक '६६'१४)

इस प्रकार कायिकी क्रियापंचक के सम्बन्ध में (१) जिस जीव के, (२) जिस समय में, (३) जिस देश में, (४) जिस प्रदेश में—इन चार दण्डकों का विवेचन करना चाहिए।

टीकाकार ने कहा है—यहाँ समय से सामान्य काल का ग्रहण करना चाहिए न कि निश्चय नयवाले अतिसूक्ष्म 'समय' काल का। क्योंकि बाण आदि के निक्षेप के द्वारा जो परितापन और प्राणातिपात होता है वह कायिकी आदि क्रिया के प्रथम समय में असम्भव है।

देश और प्रदेश को क्षेत्र की अपेक्षा ग्रहण करना चाहिए।

'६६'१६ क्रियाओं की स्पृष्टता की नियमा-भजना जीव और समय की अपेक्षा :—

जीवे णं भंते ! जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए (किरियाए) पुट्ठे, पाणाइवायकिरियाए पुट्ठे ? गोयमा ! अत्थेगइए जीवे एगइयाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए पुट्ठे, पाणाइवायकिरियाए

पुट्ठे (१) ; अत्थेगइए जीवे एगइयाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए पुट्ठे, पाणाइवाय-किरियाए अपुट्ठे (२) ; अत्थेगइए जीवे एगइयाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए अपुट्ठे, पाणाइ-वायकिरियाए अपुट्ठे (३)। —पण्ण० प २२ । सू १६२० । पृ० ४८२

कोई जीव कोई एक जीव की अपेक्षा जिस समय—कायिकी-आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया के द्वारा स्पृष्ट होता है उस समय पारितापनिकी क्रिया द्वारा स्पृष्ट होता है तथा प्राणातिपातिकी क्रिया के द्वारा स्पृष्ट होता है (१) या कोई जीव कोई एक जीव की अपेक्षा जिस समय कायिकी-आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया के द्वारा स्पृष्ट होता है उस समय पारितापनिकी क्रिया द्वारा स्पृष्ट होता है लेकिन प्राणातिपातिकी क्रिया द्वारा स्पृष्ट नहीं होता है (२) या कोई जीव कोई एक जीव की अपेक्षा जिस समय कायिकी-आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया के द्वारा स्पृष्ट होता है उस समय न पारितापनिकी क्रिया के द्वारा स्पृष्ट होता है, न प्राणातिपातिकी क्रिया द्वारा।

यहाँ—समय का भाव—सामान्य काल की अपेक्षा ग्रहण करना चाहिए।

उदाहरणतः—मृग शिकार के लिए बाण का निक्षेप करने पर जब मृग बाण द्वारा बींधा जाता है उस समय उसकी मृत्यु न हो तो जीव मृग की अपेक्षा केवल पारितापनिकी क्रिया द्वारा स्पृष्ट होता है परन्तु प्राणातिपातिकी क्रिया द्वारा स्पृष्ट नहीं होता है और यदि बाण से बींधने से मृग की मृत्यु हो जाय तो पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी दोनों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। यदि बाण निक्षेप से लक्ष्य भंग हो जाय तो पारितापनिकी क्रिया और प्राणातिपातिकी क्रिया दोनों से स्पृष्ट नहीं होता है।

(अत्थेगइए जीवे एगइयाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए अपुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए अपुट्ठे पाणइवाय-किरियाए अपुट्ठे) —पण्ण० प २२ । सू १६२०

कोई एक जीव कोई एक जीव की अपेक्षा जिस समय कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया के द्वारा अस्पृष्ट होता है उस समय पारितापनिकी क्रिया तथा प्राणातिपातिकी क्रिया के द्वारा भी अस्पृष्ट होता है।

·६६·१७ कर्म बाँधता हुआ जीव और कायिकी क्रियापंचक :—

जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए, एवं नेरइए जाव वेमाणिए।

जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ किरिया ? गोयमा ! (सिय) तिकिरिया वि (सिय) चउकिरिया वि (सिय) पंचकिरिया वि; एवं नेरइया निरंतरं जाव वेमाणिया।

एवं दरिसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं, अंतराइयं च अट्ठविहकम्मपगडीओ भाणियव्वाओ; एगत्तपोहत्तिया सोलस दंडगा (भवंति)।

—पण्ण० प २२ : सू १५८७-८७ । पृ० ४८०

प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव सात । आठ कर्म-प्रकृतियाँ बाँधता है। अब प्रश्न होता है कर्म-प्रकृति बाँधते हुए जीव को (प्राणातिपात सम्बन्धी) कितनी क्रियाएँ होती हैं।

प्राणातिपात या हिंसा का कार्य तीन भूमिका में समाप्त होता है। प्रथम स्थान में कायिकी क्रियापंचक की तीन क्रियाएँ होती हैं, द्वितीय स्थान में चार क्रियाएँ होती हैं, प्राणातिपात पूर्ण होने पर पाँच क्रियाएँ होती हैं।

कहा भी है :—

"तिसृभिश्चतसृभिरथ पञ्चभिश्च हिंसा समाप्यते क्रमशः।
बन्धोऽस्य विशिष्टः स्यात योगप्रद्वेषसाम्यं चेत्॥"

कायिकी व्यापार की तत्परता, अधिकरणों का ग्रहण—सज्जा-तैयारी, पकडूँगा, बाधूँगा, मारूँगा—ऐसा अप्रशस्त मन का होना यह प्रथम भूमिका है; इसके पश्चात जब जीव को किसी अधिकरण के द्वारा कष्ट—वेदना पहुँचाई जाती है तब दूसरी भूमिका होती है; इसके बाद जब अधिकरण से आहत जीव का प्राणवध हो जाता है तब हिंसाकार्य समाप्त हो जाता है।

'६६'१८ आयोजिका विशेषण सहित कायिकी क्रियापंचक :—

कइ णं भंते ! आयोजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! पंच आयोजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—काइया जाव पाणाइवायकिरिया, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया आयोजिया किरिया अत्थि, तस्स अहिगरणिया किरिया आयोजिया—अत्थि, जस्स अहिगरणिया आयोजिया किरिया अत्थि, तस्स काइया आयोजिया किरिया अत्थि ? एवं एएणं अभिलावेणं ते चेव चत्तारि दंडगा भाणियव्वा, जस्स, जं समयं, जं देसं, (जं पएसं) जाव वेमाणियाणं।
—पण्ण० प २२ । सू १६१७-१६ । पृ० ४८२

आयोजिका क्रिया पाँच प्रकारकी कही गई है—यथा—कायिकी आयोजिका क्रिया, आधिकरणिकी आयोजिका क्रिया, प्राद्वेषिकी आयोजिका क्रिया, पारितापनिकी आयोजिका क्रिया तथा प्राणातिपातिकी आयोजिका क्रिया।

जिस प्रकार निर्विशेषण कायिकी क्रियापंचक के आलापक के (देखो क्रमांक '६६'१४'१६) कहे गये हैं उसी प्रकार आयोजिका विशेषण सहित कायिकी क्रियापंचक के आलापक कहने चाहिए।

'६६'१६ कायिकीपंचक क्रिया के उदाहरण :—

'१ मृगवधिक का —

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा, दहंसि वा, उदगंसि वा, दवियंसि वा, वलयंसि वा, नूमंसि वा, गहणंसि वा, गहणविदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयविदुग्गंसि वा, वणंसि वा, वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए, मियसंकप्पे, मियपणिहाणे, मियवहाए गंता 'एए मिए' त्ति काउं अण्णयरस्स मियस्स वहाए कूडपासं उद्दाइ, तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए पन्नत्ते ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे कच्छंसि वा—जाव—कूडपासं उद्दाइ, तावं च णं से पुरिसे सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ?'

गोयमा ! जे भविए उद्दवणयाए, णो बंधणयाए, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए—तिहिं किरियाहिं पुट्ठे।

जे भविए उद्दवणयाए वि, बंधणयाए वि, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, पारियावणियाए—चउहिं किरियाहिं पुट्ठे।

जे भविए उद्दवणयाए वि, वंधणयाए वि, मारणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए जाव पाणाइवायकिरियाए—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, से तेणट्ठेणं जाव पंचकिरिए। —भग० श १। उ ८। प्र २६४-६५। पृ० ४०८

शिकार-संकल्पी, शिकार में दत्तचित्त, मृग-शिकार से आजीविका चलाने वाला कोई पुरुष कच्छार, जलाशयादि, झीलादि, जल से परिवेष्टित स्थान, घास से परिपूर्ण स्थान, नदी से परिवेष्टित भूमि में, अंधकारावृत स्थान में, अटवी में, गहन अटवी में, पर्वत में, पर्वत के दुर्गम स्थलों में, वन में, वन के विषम स्थानों में मृग के शिकार के लिए जाकर—'ये मृग हैं' ऐसा सोचकर किसी मृग या अन्य पशु को मारने के लिए कूटपाश रचे अर्थात् गड्ढा खोदे या जाल फैलावे तो उस पुरुष को कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

जब तक वह पुरुष कूटपाश रचने में उद्यत है, मृग को बाँधता नहीं है तथा मारता नहीं है तब तक वह पुरुष कायिकी-आधिकरणिकी-प्राद्वेषिकी—इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

जब तक वह पुरुष कूटपाश रच कर मृग को बाँधता है लेकिन मारता नहीं है तब तक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी—इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

और जब वह पुरुष कूटपाश रचकर, मृग को बाँधकर, उसको मारता है तब वह पुरुष कायिकी आदि पाँचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है अर्थात् उसको पाँचों क्रियायें होती हैं।

विश्लेषण—मृग-शिकारी शिकार के निमित्त जब घर से वन—जंगलों में जाता है उसके कायिकी क्रिया होती है ; जाने के समय जाल, कुदाल आदि अधिकरण ग्रहण करता है तथा वन—जंगल में जाकर कूटपाशादि रचता है तब उसको आधिकरणिकी क्रिया होती है ; मारने के उद्देश्य से प्रद्वेष उत्पन्न होता है तथा शिकार को देखकर प्रद्वेप में वृद्धि होती है तब उसको प्राद्वेषिकी क्रिया होती है—ये तीनों क्रियाएँ जब भी होती हैं—युगपत् होती हैं।

·२ मृगवधिक का :—

पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा—जाव—वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय, ऊसविय अगणिकायं णिसिरइ। तावं च णं से भंते! पुरिसे कइकिरिए? गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

से केणट्ठेणं? गोयमा! जे भविए उस्सवणयाए तिहिं। उस्सवणयाए वि, णिसि-

रणयाए वि,णो दहणयाए चउहिं। जे भविए उस्सवणयाए वि, णिसिरणयाए वि, दहणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे काइयाए—जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा०। —भग० श १। उ ८। प्र २६६-६७। पृ० ४०८-६

कोई पुरुष कच्छार यावत् वन के विषम स्थानों में (देखो क्रमांक '६६'१६'१) शिकार या अन्य उद्देश्य से जाकर वहाँ तृण एकत्रित करके उसमें अग्नि-निक्षेप करे तो उस पुरुष को कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं।

जब तक वह पुरुष घास के तिनके एकत्रित करता है तब तक उसको तीन क्रियाएँ होती हैं; तृण एकत्रित करके उसमें आग डालता है किन्तु जलाता नहीं है तब तक उसको चार क्रियाएँ होती हैं; तृण एकत्रित कर तथा अग्नि डाल करके जब वह तृण-समूह को जलाता है तब उस पुरुष को कायिकी आदि पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

'३ मृगवधिक का :—

पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा—जाव—वणदुग्गंसि वा मियवित्तीए, मियसंकप्पे, मियपणिहाणे, मियवहाए गंता 'एए मिय' त्ति काउं अण्णयरस्स मियस्स वहाए उसुं णिसिरइ, तओ णं भंते! से पुरिसे कइकिरिए? गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

से केणट्ठेणं? गोयमा! जे भविए णिसिरणयाए, णो विद्धंसणयाए वि, णो मारणयाए वि तिहिं। जे भविए णिसिरणयाए वि, विद्धंसणयाए वि, णो मारणयाए चउहिं। जे भविए णिसिरणयाए वि, विद्धंसणयाए वि, मारणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे—जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। —भग० श १। उ ८। प्र २६८-६६। पृ० ४०६

शिकार संकल्पी, शिकार में दत्तचित्त,मृग-शिकार से आजीविका चलाने वाला कोई पुरुष कच्छार यावत् वन के विषम स्थानों में (देखो क्रमांक '६६'१६'१) मृग-शिकार के लिए जाकर 'ये मृग हैं' ऐसा सोचकर किसी मृग या अन्य पशु को मारने के लिए बाण छोड़ता है तो उस पुरुष को कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रिया होती है।

जब तक वह पुरुष बाण छोड़ता है परन्तु मृग को बींधता नहीं है तथा मारता नहीं है तब तक वह पुरुष तीन क्रिया से स्पृष्ट होता है। जब वह पुरुष बाण फेंककर मृग को बींधता है लेकिन मृग को मारता नहीं है तब तक वह पुरुष चार क्रिया से स्पृष्ट होता है, जब वह पुरुष बाण फेंककर मृग को बींधकर, उसको मारता है तब वह पुरुष कायिकी आदि पाँचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है अर्थात् उसको पाँचों क्रियायें होती हैं।

·४ मृगवधिक का :—

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा—जाव—अण्णयरस्स मियस्स वहाए आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता चिट्ठेज्जा, अन्ने य (अन्नयरे) से पुरिसे मग्गओ आगम्म सयपाणिणा, असिणा सीसं छिंदेज्जा, से य उसूताए चेव पुव्वायामणयाए तं मियं विंधेज्जा, से णं भंते ! पुरिसे मियवेरेणं पुट्ठे, पुरिसवेरेणं पुट्ठे ? गोयमा ! जे मियं मारेइ, से मियवेरेणं पुट्ठे। जे पुरिसं मारेइ, पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ - जाव—से पुरिसवेरेणं पुट्ठे ? से नूणं गोयमा ! कज्जमाणे कडे, संधिज्जमाणे संधित्ते, निव्वित्तिज्जमाणे निव्वित्तते, निसिरिज्जमाणे निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ? हंता, भगवं ! कज्जमाणे कडे - जाव—निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! जे मियं मारेइ, से मियवेरेणं पुट्ठे। जे पुरिसं मारेइ, से पुरिसवेरेणं पुट्ठे। अंतोछण्हं मासाणं मरइ, काइयाए—जाव—पंचकिरियाहिं पुट्ठे। बाहिंछण्हं मासाणं मरइ, काइयाए - जाव—पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे।
—भग० श १। उ ८। प्र २७०-७१। पृ० ४०६

शिकार-संकल्पी, शिकार में दत्तचित्त, मृगया-जीवी कोई पुरुष कच्छार यावत् (देखो क्रमांक ·६६·१६·१) किसी मृग या अन्य पशु को मारने के लिए धनुष को कान तक टानकर, वाण को प्रयत्न पूर्वक खींचकर खड़ा हो उस समय अन्य कोई व्यक्ति पीछे से आकर उस खड़े हुए पुरुष का सिर अपने हाथ से तलवार द्वारा काट डाले। उस समय वह टना हुआ वाण पहले के खिंचाव से छूटकर उस मृग को बींध डाले तो जो पुरुष तीर से मृग को मारता है वह मृग के वैर से स्पृष्ट है तथा जो असिधारी पुरुष धनुधारी पुरुष को मारता है वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट है।

क्योंकि यह निश्चित है—क्रियमाण कृत अर्थात् जो किया जा रहा है वह 'किया हुआ' कहलाता है, जो संधान किया जा रहा है वह 'संधान किया हुआ' कहलाता है, जो तैयार किया जा रहा है वह 'तैयार किया हुआ' कहलाता है, जो छोड़ा जा रहा है वह 'छोड़ा हुआ' कहलाता है—इस कारण से जो मृग को मारता है वह मृग के वैर से स्पृष्ट कहलाता है तथा जो पुरुष को मारता है वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहलाता है और यदि मरने वाला छः मास के अन्दर मर जाता है तो मारने वाला व्यक्ति कायिकी आदि पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है, यदि मरने वाला छः मास के बाद मरता है तो मारने वाला व्यक्ति कायिकी आदि चार क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है।

टीका :—क्रियमाणं धनुष्काण्डादि कृतमिति व्यपदिश्यते। युक्तिस्तु प्राग्वत्। तथा सन्धीयमानं प्रत्यञ्चायामारोप्यमाणं काण्डं धनुर्वाऽऽरोप्यमाणप्रत्यञ्चं सन्धितं

कृतसन्धानं भवति। तथा निर्वृत्यमानं नितरां वर्तुलीक्रियमाणं प्रत्यञ्चाकर्षणेन निर्वर्त्तितं वृत्तीकृतं मण्डलाकारं कृतं भवति, तथा निसृज्यमानं निक्षिप्यमाणं काण्डनिसृष्टं भवति। यदा च निसृज्यमानं निसृष्टं, तदा निसृज्यमानतया धनुर्द्धरेण कृतत्वात्तेन। काण्डनिसृष्टं भवति –काण्डनिसर्गाच्च मृगस्तेनैव मारितः।

क्रियामाण को कृत कहना—यह एक जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण, प्रमुख सिद्धान्त है जिसका अर्थ है जो काम 'किया जा रहा है' उसको 'किया हुआ' कहना चाहिए। यद्यपि काम सम्पूर्ण नहीं हुआ है लेकिन काम का करना प्रारम्भ हो गया है उसको जैनदर्शन के अनुसार 'किया हुआ' कहा जाता है।

'कज्जमाण', **'संधिज्जमाण'**, **'निविचित्तिज्जमाण'** तथा **'निसिरिज्जमाण'** इन चारों शब्दों को टीकाकार ने धनुषधारी व्यक्ति की क्रियाओं पर घटाया है।

१—**कज्जमाण**—**क्रियमाण**—धनुषधारी व्यक्ति जो धनुष और वाण को ग्रहण कर रहा है वह 'ग्रहण किया' कृत—(ग्रहण) कहा जाता है।

२—**संधिज्जमाण**—**संधीयमान**—धनुष और प्रत्यञ्चा में वाण को जो आरोपण कर रहा है वह 'आरोपित—कृतसंधान' कहा जाता है।

३—**निविचित्तिज्जमाण**—**निर्वर्त्यमान**—प्रत्यञ्चा को टान कर धनुष का वर्तुल बनाकर वाण को छोड़ने की जो तैयारी की जा रही है वह 'छोड़ने को तत्पर हुआ—निर्वर्त्तित' कहा जाता है।

४—**निसिरिज्जमाण**—**निक्षिप्यमाण**—टानी हुई प्रत्यञ्चा के ढीली पड़ने से वाण धनुष से निकल रहा है उसको 'निकला हुआ—निसृष्ट' कहा जाता है।

उस गला कटे हुए व्यक्ति का हाथ शिथिल होने से, प्रत्यञ्चा ढीली पड़ गई और प्रत्यञ्चा ढीली पड़ जाने से तीर धनुष से निकल गया और उससे मृग बींधा जाकर मर गया। धनुषधारी व्यक्ति गला कटने के समय वाण छोड़ रहा है—निसृज्यमान है अतः 'छोड़ा हुआ—निसृष्टकाण्ड—निक्षिप्तवाण' कहा जाता है। इसलिए धनुषधारी व्यक्ति को मृग को मारने वाला कहा जाता है।

'क्रियमाण कृत' सिद्धान्त के अनुसार गला कटने वाला व्यक्ति वाण छोड़ रहा है अतः 'छोड़ा हुआ' कहा गया है। छोड़े हुए वाण से मृग के मरने से उसको मृग का वधिक कहा गया है।

टीका—षण्मासान् यावत्प्रहारहेतुकं मरणम्, परतस्तु परिणामान्तरापादितमिति कृत्वा षण्मासादूर्ध्वं प्राणातिपातक्रिया न स्यादिति हृदयम्। एतच्च व्यवहारनयापेक्षया प्राणातिपातक्रियाव्यपदेशमात्रोपदर्शनार्थमुक्तम्; अन्यथा यदा कदाऽप्यधिकृतप्रहारहेतुकं मरणं भवति तदैव प्राणातिपातक्रियेति।

प्रहार के हेतु से यदि जीव का छः मास के अन्दर मरण हो तो प्रहारक को प्राणातिपातिकी क्रिया होती है लेकिन छः मास के बाद मरण हो तो प्रहारक को प्राणातिपातिकी क्रिया नहीं होती है—ऐसा हार्द-भाव है। यह छः मास के भीतर-बाहर का कथन व्यवहार-नय की अपेक्षा से प्राणातिपातिकी क्रिया का उपदर्शन मात्र कराने के लिये कहा गया है ; अन्यथा प्रहार के निमित्त से जब कभी मरण हो तो प्रहारक को तभी प्राणातिपातिकी क्रिया होती है।

५ पुरुषवधिक का :—

पुरिसे णं भंते ! पुरिसं सत्तीए समभिधंसेज्जा सयपाणिणा वा, से असिणा छिंदेज्जा तओ णं भंते ! से पुरिसे कइकिरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिधंसेइ, सयपाणिणा वा, से असिणा सीसं छिंदइ, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए—जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे।

आसन्नवहएण य अणवकंखवत्तीए णं पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

—भग० श १। उ ८। प्र २७२। पृ० ४०६

यदि कोई व्यक्ति अपने हाथ से किसी पुरुष को सशक्त भाले से भेदन करे या तलवार के द्वारा शिर का छेदन करे तो वह व्यक्ति कायिकी आदि पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

दूसरों के प्राणों के प्रति बेपरवाह और आसन्नवधक वह व्यक्ति पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है।

विश्लेषण :—यहाँ भाला फेंकने में, तलवार चलाने में जो काया से क्रिया हुई वह कायिकी ; भाला, खड्ग आदि अधिकरणों का ग्रहण—आधिपत्य-प्रयोग वह आधिकरणिकी ; भेदे जाने वाले या छेदे जाने वाले व्यक्ति के प्रति जो दुष्ट प्रणिधान—अध्यवसाय हुए—वह प्राद्वेपिकी ; शरीर भेदन से—शिरछेदन से जो पीड़ा तथा प्राण-वियोग होता है वह क्रमशः पारितापनिकी, प्राणातिपातिकी क्रिया है। अतः भेदन-छेदन से प्राण-वियोग करनेवाले व्यक्ति को कायिकी आदि पाँचों कियायें होती हैं।

छेदन-भेदन से पुरुष को मारने वाला व्यक्ति आसन्नवधक होता है अर्थात् पुरुष-वैर से वह व्यक्ति अनागत काल में किसी जन्म-जन्मान्तर में मारे जाने वाले पुरुष के द्वारा अथवा अन्य किसी जीव के द्वारा मारा जाता है।

टीकाकार ने एक प्राकृत की गाथा उद्धृत की है जिसका आशय है कि जो व्यक्ति एक बार किसी का प्राणवध करता है वह व्यक्ति दूसरों से दस बार मारा जाता है।

·६ धनुर्धर के :—

पुरिसे णं भंते ! धणुं परामुसइ, परामुसित्ता उसुं परामुसइ, परामुसित्ता ठाणं ठाइ, ठित्ता आययकण्णाययं करेइ, (आययकण्णाययं उसुं करेत्ता उसुं) उड्ढं वेहासं उसुं उव्विहइ, तएणं से उसुं उड्ढं वेहासं उव्विहए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं, भूयाइं, जीवाइं, सत्ताइं अभिहणइ, वत्तेइ, लेसेइ, संघाएइ, संघट्टेइ, परियावेइ, किलामेइ, ठाणाओ ठाणं संकामेइ, जीवियाओ ववरोवेइ, तए णं भंते ! से पुरिसे कइकिरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे धणुं परामुसइ, परामुसित्ता—जाव—उव्विहइ, तावं च णं पुरिसे काइयाए—जाव—पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिं धणुं निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए—जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, एवं धणु पुट्ठे पंचहिं किरियाहिं, जीवा पंचहिं, ण्हारू पंचहिं, उसू पंचहिं, सरे, पत्तणे, फले, ण्हारू पंचहिं।

अहे णं से उसू अप्पणो गुरूयत्ताए, भारियत्ताए, गुरूसंभारियत्ताए, अहे वीससाए पच्चोवयमाणे जाइं (तत्थ) पाणाइं—जाव—जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से उसुं अप्पणो गुरूयत्ताए,—जाव—ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए—जाव—चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ; जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिं धणु निव्वत्तिए ते वि जीवा चउहिं किरियाहिं, धणु पुट्ठे चउहिं, जीवा चउहिं, ण्हारू चउहिं, उसू पंचहिं, सरे, पत्तणे, फले, ण्हारू पंचहिं, जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे वट्टंति ते वि य णं जीवा काइयाए—जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। —भग० श ५ । उ ६ । प्र १०-११ । पृ० ४८१

कोई पुरुष धनुष को ग्रहण करे ; धनुष को ग्रहण करके वाण को ग्रहण करे ; वाण को ग्रहण करके यथायोग्य आसन ग्रहण करे ; आसन को ग्रहण करके वाण व प्रत्यञ्चा को कान तक खींचे ; कान तक खींचकर वाण को ऊँचा आकाश में छोड़े और ऊँचे आकाश में छोड़ा हुआ वह वाण आकाश में अभिमुख जाते हुए तत्र स्थित जिन प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों का अभिहनन करे, हेर-फेर करे, श्लिष्ट करे, परस्पर संघात करे, तीव्र संघात वा स्पर्श करे, पीड़ा पहुँचावे, क्लान्त करे, स्थानान्तर करे और प्राण-रहित करे तो धनुष ग्रहण करने से लेकर यावत् धनुप छोड़ने तक वह पुरुप कायिकी आदि पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

जिन-जिन जीवों के शरीर से धनुप वना, धनुप की पीठ वनी—वे जीव पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं ; जिन-जिन जीवों के शरीर से जीवा (डोरी) वनी, न्हारु वनी, वाण वना—वे जीव पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं ; जिन-जिन जीवों के शरीर से शर, पत्र, फल, न्हारु वने—वे सव जीव पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

विश्लेषण :—धनुषधारी को धनुष ग्रहण करने से लेकर वाण छोड़ने तक पाँच क्रियायें होती हैं वे प्रवृत्ति की अपेक्षा से होती हैं तथा जिन जीवों के शरीर से धनुष, धनुष की पीठ, जीवा (डोरी), न्हारु-वाण बने ; शर, पत्र, न्हारु वने वे जो पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं वह अविरति की अपेक्षा से होते हैं।

अस्तु—सिद्ध के अविरत परिणाम नहीं होते हैं इसलिए उनको परित्यक्त शरीरों से होने वाली कायिकी आदि क्रियायें नहीं होती हैं।

जब तक वाण वेग में रहता है, नीचे की तरफ नहीं गिरता है उपरोक्त विवेचन उस समय तक का है।

जब वह वाण अपनी गुरुता से, अपने भार से, अपनी गुरुसंभारता से विस्रसा—स्वभाव से नीचे गिरता है और ऊपर से नीचे गिरता हुआ वह वाण बीच मार्ग में प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों का अभिहनन यावत् प्राणरहित करता है तब बाण निक्षेपकारी वह पुरुष कायिकी आदि चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

जिन जीवों के शरीर से धनुष वना, जिन से धनुष की पीठ वनी, जिनसे धनुष की डोरी वनी, जिनसे न्हारु वना—वे जीव चार क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

जिन जीवों के शरीर से वाण, जिनसे शर वना, जिनसे पत्र वना, जिनसे फल वना, जिनसे न्हारु वना—वे पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

नीचे गिरते हुए वाण के अवग्रह में जो जीव आते हैं वे जीव भी कायिकी आदि पाँच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

विश्लेषण :—पुरुष के द्वारा छोड़ा हुआ वह वाण अपनी गुरुता आदि के कारण जब नीचे गिरता है तब जिन जीवों के शरीर से धनुष, धनुष की पीठ, डोरी, न्हारु वने उन जीवों को चार क्रियायें होती हैं क्योंकि धनुष आदि साक्षात् वध-क्रिया में प्रवृत्त नहीं होते हैं अर्थात् वे उसमें निमित्त मात्र हैं। जिन जीवों के शरीर से वाण, शर, पत्र, फल, न्हारु वने, उन जीवों को पाँच क्रियाएँ होती हैं क्योंकि वाणादि साक्षात्—मुख्य रूप से जीवहिंसा में प्रवृत्त होते हैं।

•७ लुहार का :—

पुरिसे णं भंते ! अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहमाणे वा पव्विहमाणे वा कइ किरिए ? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहिइ वा पव्विहिइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए—जाव—पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो अए (यो) निव्वत्तिए अयकोट्ठे निव्वत्तिए संडासए निव्वत्तिए इंगाला निव्वत्तिया

इंगालकड्ढिणी निव्वत्तिया भत्था निव्वत्तिया ते वि णं जीवा काइयाए—जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

पुरिसे णं भंते ! अयं अयकोट्ठाओ अयोमएणं संडासएणं गहाय अहिगरणिसि उक्खिवमाणे वा निक्खिवमाणे वा कइ किरिए? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठाओ—जाव—निक्खिवइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए—जाव—पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो अए निव्वत्तिए संडासए निव्वत्तिए चम्मट्ठे निव्वत्तिए मुट्ठिए निव्वत्तिए अहिगरणी निव्वत्तिए (या) अहिगरणिखोडी निव्वत्तिया उदगदोणी निव्वत्तिया अहिगरंणसाला निव्वत्तिया ते वि य णं जीवा काइयाए—जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

—भग० श १६। उ १। प्र ३-४। पृ० ७४०

लोह को तपाने के लिए भट्टी में लोह के संडसा के द्वारा लोहवस्तु को ऊँचा-नीचा करते हुए पुरुष को जब तक लोहवस्तु को ऊँचा-नीचा करता है तब तक कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

तथा जिन जीवों के शरीर से लोहवस्तु बनी, भट्टी बनी, संडसा बना, अंगार बने, अंगारा निकालने की शलाका तथा धौंकनी बनी—उन सब जीवों को भी कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

भट्टी में से संडसा के द्वारा लोहवस्तु को निकाल कर एरण पर रखते—उठाते हुए पुरुष को जब तक लोहवस्तु को एरण पर रखता है, उठाता है तब तक उसको कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

तथा जिन जीवों के शरीर से लोहवस्तु बनी, संडासा बना, घन बना, हथौड़ी बनी, एरण बनी, एरण खोदने की लकड़ी बनी, गर्म लोहवस्तु को ठण्डा करने की पानी की कुण्ड बनी, लोहारशाला बनी—उन सब जीवों को कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

·८ वर्षा और पुरुष :—

पुरिसे णं भंते ! वासं वासइ वासं नो वासतीति हत्थं वा पायं वा बाहुं वा उरुं वा आउट्टावेमाणे वा पसारेमाणे वा कइ किरिए? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे वासं वासइ वासं नो वासतीति हत्थं वा—जाव—उरुं वा आउंटावेइ वा पसारेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए—जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे।

—भग० श १६। उ ८। प्र ८। पृ० ७५२

यह जानने के लिए कि वर्षा बरसती है या नहीं—हाथ, पैर, बाहु और शरीर को समेटता है या फैलाता है तो उस पुरुष को कायिकी आदि पाँच क्रियाएँ स्पृष्ट होती हैं।

·६७ त्रय क्रियापंचक

·६७·१ दंडक के जीव और दृष्टिका क्रियापंचक :—

पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडुच्चिया, सामंतोवणियाइया, साहत्थिया, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

—ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१९। पृ० २६२

नारकी जीवों से लेकर वैमानिक जीवों तक दंडक के सभी जीवों के दृष्टिका क्रिया पंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

·६७·२ दंडक के जीव और आज्ञापनिका क्रियापंचक :—

पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—णेसत्थिया, आणवणिया, वेयारणिया, अणाभोगवत्तिया, अणवकंखवत्तिया; एवं जाव वेमाणियाणं।

ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१९। पृ० २६२

नारकी जीवों से लेकर वैमानिक जीवों तक दंडक के सभी जीवों के आज्ञापनिका क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

·६७·३ दंडक के जीव और रागप्रत्ययिकी क्रियापंचक :—

पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिया, पओगकिरिया, समुदाणकिरिया, ईरियावहिया, एवं मणुस्साण वि, सेसाणं णत्थि।

—ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१९। पृ० २६२-६३

मनुष्य के रागप्रत्ययिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ होती हैं। मनुष्य बाद शेष दंडक के जीवों के रागप्रत्ययिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ नहीं होती हैं।

विश्लेषण—यहाँ रागप्रत्ययिकी क्रियापंचक का सामान्य पद से कथन किया गया है; चतुर्विंशति दंडकों में से यह केवल मनुष्य दंडक में ही संभव है। यद्यपि रागप्रत्ययिकी, द्वेषप्रत्ययिकी, प्रयोगक्रिया, समुदानक्रिया—ये चारों क्रियाएँ नारकी जीवों से लेकर वैमानिक जीवों तक के सभी जीवों में होती हैं। लेकिन ऐर्यापथिकी क्रिया ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों—मनुष्यों के होती है। अतः शेष दंडक के जीवों के रागप्रत्ययिकी क्रियापंचक की पाँचों क्रियाएँ नहीं होती हैं।

·६८ पापस्थान क्रिया

·६८·१ पापस्थान क्रियाओं की स्पृष्टता आदि :—

अत्थि णं भंते! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ? हंता, अत्थि। सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ?—जाव—निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघाय पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं। सा भंते! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ? गोयमा! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ। सा भंते! किं अत्तकडा कज्जइ, परकडा कज्जइ, तदुभयकडा कज्जइ? गोयमा! अत्तकडा कज्जइ, णो परकडा कज्जइ, णो तदुभयकडा कज्जइ। सा भंते! किं आणुपुव्विं कडा कज्जइ, अणाणुपुव्विं कडा कज्जइ? गोयमा! आणुपुव्विं कडा कज्जइ, णो अणाणुपुव्विं कडा कज्जइ। जा य कडा कज्जइ, जा य कज्जिस्सइ सव्वा सा आणुपुव्विं कडा, णो अणाणुपुव्विं कड त्ति वत्तव्वं सिया।

अत्थि णं भंते! नेरइयाणं पाणाइवायकिरिया कज्जइ? हंता, अत्थि। सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ? जाव—नियमा छद्दिसिं कज्जइ। सा भंते! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ? तं चेव जाव—णो अणाणुपुव्विं कड त्ति वत्तव्वं सिया।

जहा नेरइयाणं तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा जाव—वेमाणिया। एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा।

जहा पाणाइवाए तहा मुसावाए, तहा अदिन्नादाणे, मेहुणे, परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं एए अट्ठारस चउवीसं दंडगा भाणियव्वा।

—भग० श १। उ ६। प्र २०६-१५। पृ० ४०२-३

जीव प्राणातिपात के द्वारा क्रिया करते हैं तथा वह क्रिया स्पृष्ट होती है, अस्पृष्ट नहीं होती है, यदि वह क्रिया निर्व्याघात हो तो छओं दिशाओं से और सव्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशा से, कदाचित् चार दिशा से तथा कदाचित् पाँच दिशा से स्पृष्ट होती है। वह क्रिया कृत है, अकृत नहीं है। आत्मकृत है, परकृत तथा तदुभयकृत नहीं है। वह क्रिया अनुक्रमपूर्वक कृत है, अननुक्रमपूर्वक कृत नहीं है। जो क्रिया की जा रही है तथा जो की जायगी वह सब क्रिया अनुक्रमपूर्वक है, अननुक्रमपूर्वक नहीं है।

नरक के जीव प्राणातिपात के द्वारा क्रिया करते हैं तथा वह क्रिया स्पृष्ट होती है, और नियम से छओं दिशाओं से स्पृष्ट होती है। अवशेष विवेचन औघिक जीवों के विवेचन की तरह जानना।

जैसा नारकी जीवों के विषय में कहा वैसा एकेन्द्रिय के जीवोंको बाद देकर वैमानिक तक दंडक के सभी जीवों के लिए कहना।

जैसा औघिक जीवों का कहा वैसा सम्पूर्ण एकेन्द्रिय जीवों के संवंध में कहना।

प्राणातिपात की तरह मृषावाद आदि अन्य सत्रह पापस्थानों के विषय में जीवों के बारे में कहना तथा उसी प्रकार चौबीस जीवदंडकों के बारे में भी सभी पापस्थानों के विषय में कहना।

'६८'२ पापस्थान क्रिया और कर्मप्रकृति का वंध :—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ वंधइ? गोयमा ! सत्तविहवंधए वा अट्ठविहवंधए वा। एवं नेरइए जाव निरंतरं वेमाणिए।

जीवा णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ वंधइ? गोयमा ! सत्तविह-वंधगा वि अट्ठविहवंधगा वि।

नेरइया णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ वंधंति? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहवंधगा ; अहवा सत्तविहवंधगा य अट्ठविहवंधए य ; अहवा सत्तविहवंधगा य अट्ठविहवंधगा य।

एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा।

पुढविआउतेउवाउवणस्सइकाइया य एए सव्वे वि जहा ओहिया जीवा, अवसेसा जहा नेरइया। एवं ते जीवेगिंदियवज्जा तिण्णि तिण्णि भंगा सव्वत्थ भाणियव्व त्ति, जाव मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं एगत्तपोहत्तिया छत्तीसं दंडगा होंति।

—पण्ण० पद २२। सू० १५८१-८४। पृ० ४७६-८०

जीव प्राणातिपात (क्रिया) द्वारा सात कर्मप्रकृति वांधता है, या आठ कर्मप्रकृति वाँधता है। इसी प्रकार नारकी से लेकर वैमानिक तक एकवचन की अपेक्षा जानना। जिस समय आयुषकर्म का वंध नहीं होता उस समय सात कर्मप्रकृति का वंध होता है तथा जब आयुषकर्म का भी वंध होता है तब आठ कर्मप्रकृति का वंध होता है।

जीवों की अपेक्षा अनेक जीव सात कर्मप्रकृति वाँधते हैं, अनेक जीव आठ कर्मप्रकृति वाँधते हैं।

नारकियों की अपेक्षा या सर्व नारकी सात कर्मप्रकृति वाँधते हैं, या कोई एक आठ कर्मप्रकृति वाँधता है, शेष सब सात कर्मप्रकृति वाँधते हैं तथा या अनेक नारकी सात कर्मप्रकृति वाँधते हैं तथा अनेक आठ कर्मप्रकृति वाँधते हैं।

नारकियों की तरह असुरकुमारों से यावत् स्तनितकुमारों तक जानना।

एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में औघिक जीवों की तरह जानना।

अवशेष दण्डक के जीवों के संबंध में बहुवचन की अपेक्षा नारकियों की तरह जानना। जीव और एकेन्द्रियों को बाद देकर सभी के तीन-तीन दण्डक अर्थात् (१) सभी सात कर्मप्रकृति बाँधते हैं। (२) या कोई एक आठ कर्मप्रकृति बाँधता है शेष सब सात कर्मप्रकृति बाँधते हैं तथा (३) या अनेक सात तथा अनेक आठ कर्मप्रकृति बाँधते हैं।

इसी प्रकार मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शनशल्य पापस्थानों के विषय में जानना।

अठारह पापस्थान तथा एकवचन-बहुवचन की अपेक्षा ३६ दंडक होते हैं।

·६९ पचीस क्रियाओं का समवाय से विवेचन

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।

—तत्त्व० अ ६। सू ६

भाष्य—पञ्चविंशतिः क्रियाः। तत्रेमे क्रियाप्रत्यया यथासंख्यं प्रत्येतव्याः। तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः, कायाधिकरणप्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः, दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकांक्षा, आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति।

क्रिया पचीस होती है—पचीस क्रियाओं का समुच्चय विवेचन कहीं भी नहीं मिला। पाँच पंचकों के रूप में विवेचन मिला है। यथा—सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया, प्रयोगक्रिया, समादानक्रिया, ऐर्यापथिकी क्रिया ; कायिकी क्रिया, आधिकरणिकी क्रिया, प्राद्वेषिकी क्रिया ; पारितापनिकी क्रिया, प्राणातिपातिकी क्रिया, ; दर्शनक्रिया, स्पर्शनक्रिया, प्रत्ययक्रिया, समन्तानुपातिकी क्रिया, अनाभोग क्रिया ; स्वहस्तक्रिया, निसर्गक्रिया, वैदारणिकी क्रिया, आनयनक्रिया, अनवकांक्षाक्रिया ; आरंभिकी क्रिया, पारिग्रहिकी क्रिया, मायाप्रत्ययिकी क्रिया, मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया तथा अप्रत्याख्यान क्रिया।

·७ सदनुष्ठानक्रिया का विवेचन

[चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव को छोड़कर सभी संसारी जीव सक्रिय हैं। वे सावद्य या निरवद्य—किसी न किसी प्रकार की क्रिया करते रहते हैं। जो क्रियाएँ पापकर्म के वन्ध की हेतु हैं वे सावद्य हैं तथा जो क्रियाएँ कर्मों का छेदन करने वाली हैं वे निरवद्य हैं। इन कर्मों के छेदन करने वाली क्रियाओं को सदनुष्ठानक्रिया कहा गया है।

क्रिया से जीव कर्म का बंध करते हैं। सकषायी जीव क्रिया से सांपरायिक कर्म का वन्ध करते हैं तथा अकषायी जीव ऐर्यापथिक कर्म का वन्ध करते हैं। जब तक जीव

परिस्पंदनात्मक क्रिया करता रहता है तब तक उसके कर्म का बन्ध होता रहता है और वह अन्तक्रिया नहीं कर सकता है। ऐर्यापथिक क्रिया करने वाला जीव भी—यद्यपि उसकी सब क्रियाएँ सदनुष्ठान क्रिया—कर्म का छेदन करने वाली क्रिया हैं फिर भी ऐर्यापथिक कर्म का बन्ध होने के कारण—अन्तक्रिया नहीं कर सकता है।

जो सकषायी जीव सावद्य क्रिया करते हैं उनके पापकर्म का बन्ध होता रहता है; जो सकषायी जीव सदनुष्ठान क्रिया करते हैं उनके कर्म की निर्जरा होती है तथा पुण्य कर्म का बंध होता है। इस प्रकार सदनुष्ठान क्रिया चाहे वह सांपरायिक हो, चाहे ऐर्यापथिक हो—निर्जरा की तथा पुण्य कर्म के बंध की हेतु होती हैं।]

·७१ सदनुष्ठानक्रिया

·७१·१ सदनुष्ठान क्रिया के पयार्यवाची शब्द :—

·१ सदनुष्ठान सदनुष्ठानक्रिया तस्यां कुशलः क्रियाकुशलः।

—सूय० श्रु २। अ ४। सू १। टीका

·२ संयमानुष्ठान—मेधावी सर्वभावज्ञः क्रियां संयमानुष्ठानरूपां कर्मोच्छेत्री-मनीदृशीमनन्यसदृशीमाख्यातवान्।

—आया० श्रु १। अ ६। उ १। गा १६। टीका

·३ सत्क्रिया—यदि वा परसंबंध्यविचारितमनोवाक्कायवाक्यः सत्क्रियासु प्रवर्त्तते। —सूय० श्रु २। अ ४। सू १। टीका

·४ सम्यगनुष्ठान –क्रियां सम्यगनुष्ठानरूपां प्रतिक्रमणप्रतिलेखनरूपां मोक्ष-मार्गसाधनभूतां ज्ञानसहितां रोचयति।

—उत्त० अ १८। गा ३। लक्ष्मीवल्लभटीका

·५ धर्मानुष्ठान—क्रियया धर्मानुष्ठानेन रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः।

—उत्त० अ २८। गा १६। लक्ष्मीवल्लभटीका

·६ चरण—विद्या च ज्ञानं चरणं च क्रिया। xxx। असौ विद्या च चरणो मोक्षः। ज्ञानक्रियासाध्य इत्यर्थः।

—सूय० श्रु १। अ १२। गा ११। टीका

·७ ऐर्यापथिकी—प्रवृत्तिनिमित्तं त्विदं सर्वत्रोपयुक्तस्य निकपायस्य समीक्षित-मनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया तया यत्कर्म तदीर्यापथिकं सैवा क्रिया ईर्यापथिकेत्युच्यते। —सूय० श्रु २। अ २। सू १४। टीका

'७१'२ विभिन्न सदनुष्ठानक्रिया :—

'७१'२'१ सामायिक - चतुर्विंशतिस्तव-वंदना-प्रतिक्रमण-कार्योत्सर्ग-प्रत्याख्यान—षट् आवश्यकक्रिया –

पण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः।

—तत्त्वसर्व० अ ६। सू २४। पृ ३३६। ला ४-५

षडावश्यकक्रियाः सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चेति। तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं चित्तस्यैकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम्। चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थंकरगुणानुकीर्तनम्। वंदना त्रिशुद्धिः द्व्यासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना। अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम्। अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम्। परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः। इत्येतासां पण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनम् अनौत्सुक्यं आवश्यकाऽपरिहाणिरिति परिभाष्यते —तत्त्वराज०। अ ६। सू २४। पृ० ५३०। ला १० से १६

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इन छः आवश्यक क्रियाओं को यथाकाल करते रहना—आवश्यकपरिहाणि है।

सर्वसावद्य योगों का त्याग करना, चित्त को एकाग्र रूप से ज्ञान में लगाना—सामायिक है। तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है। मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक आसनपूर्वक चार वार शिरोनति और बारह आवर्तपूर्वक वंदना होती है। कृत दोषों की निवृत्ति करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। भविष्य में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना—प्रत्याख्यान है। अमुक समय तक शरीर से ममत्व का त्याग करना—कायोत्सर्ग है।

'७१'२'२ दर्शन - ज्ञान - चारित्र- तपविनय-सत्य - समिति-गुप्ति-अष्टसंयमानुष्ठान-क्रिया :—

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्च समिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम॥

—उत्त० अ २८। गा २५। पृ० १०२६

दीपिका टीका—स खलु निश्चयेन क्रियारुचिर्नाम प्रसिद्धो ज्ञेयः यः पुरुषो दर्शनज्ञानचारित्रे तथा तपोविनये क्रियाभावरुचिर्भवति तथा सत्यसमितिगुप्तिषु क्रियाभावरुचिर्भवति दर्शनञ्च ज्ञानञ्च चरित्रञ्च दर्शनज्ञानचारित्रं तस्मिन् तपांसि च विनयाश्च तेषां समाहारस्तपोविनयं तस्मिन् तपोविनये तपस्सु द्वादशविधेषु तथा विनयेषु आचार्य्यादीनां भक्तिषु तथा सत्यायाः समितयः सत्यसमितयः तासु सत्यसमितिषु

क्रियायां दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयसमितीनां आराधनानुष्ठानविधौ भावेन रुचिर्यस्य स क्रियाभावरुचिः।

यहाँ ग्रन्थकार ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्तिरूप क्रियाओं में जो व्यक्ति भावरुचि रखता है उसको निश्चय से क्रियारुचि नाम सम्यक्त्व वाला कहा है क्योंकि वह उपर्युक्त क्रियाओं के करने में भावसे रुचि रखता है।

ये सब क्रियायें सदनुष्ठान रूप क्रियायें हैं। टीकाकार के अनुसार जो व्यक्ति दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति रूप क्रियाओं की अनुष्ठान-विधि से भाव—आराधना करता है वह क्रियारुचि सम्यक्त्व का आराधक है।

·७२ अक्रिया (क्रिया का अभाव)

·७२·१ परिभाषा / अर्थ :—

अक्रिया योगनिरोधलक्षणा। —सम० सम १। सू १८। टीका
—ठाण० स्था ३। उं ३। सू १६०। टीका

योगनिरोध अक्रिया है। 'शैलेशीकरणे योगनिरोधाद् नो एजते',—योग का निरोध होने से शैलेशीकरण की अवस्था में ऐर्यापथिक तथा एजनादि क्रियाएँ वन्द हो जाती हैं और इन क्रियाओं का अभाव—अक्रिया है।

·७२·२ भेद :—

एगा अकिरिया। —सम० सम १। सू २। पृ० ३१६

योगनिरोध से होने वाली क्रिया का अभाव रूप अक्रिया एक है।

·७२·३ अक्रिया किसका फल और उसका क्या फल :—

(क) से णं भंते! वोदाणे किं फले? (वोदाणे) अकिरिया फले।

से णं भंते अकिरिया किंफला? सिद्धिपज्जवसाणफला पन्नत्ता, गोयमा!

—भग० श २। उ ५। प्र ४५-४६। पृ० ४३१

(ख) सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संयमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया निव्वाणे॥

—जाव—से णं भंते! अकिरिया किं फला? निव्वाणफला, से णं भंते! निव्वाणे किं फले? सिद्धगइगमणपज्जवसाणफले पन्नत्ते, समणाउसो।

—ठाण० स्था ३। उ। ३ सू १६०। पृ० २१६

(ग) वोदाणेणं भंते ! जीवं किं जणयइ ? वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ। —उत्त० अ २९ । सू २४ । पृ० १०३२

कर्मों के व्यवदान अर्थात् कर्म के शोधन से अक्रिया होती है। अक्रिया से निर्वाण अर्थात् कर्मों से मुक्ति होती है ; तत्पश्चात् जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है तथा परिनिर्वाण को प्राप्त कर सर्व दुःखों का अन्त करता है। सिद्धगतिगमन रूप पर्यवसानफल अर्थात् सबसे अन्तिम फल को प्राप्त करता है।

·७२·४ अक्रिय भिक्षु :—

(क) से भिक्खू अकिरिए, अलूसिए, अकोहे, अमाणे, अमाए, अलोहे, उवसंते, परिनिव्वुडे ; ××× । इति से महओ आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए।

—सूय० श्रु २ । अ १ । सू १५ । पृ० १४३-४४

टीका—स मूलोत्तरगुणव्यवस्थितो भिक्षुर्नास्य क्रिया सावद्या विद्यते इत्यक्रियः संवृत्तात्मकतया सांपरायिककर्माबंधक इत्यर्थः।

(ख) से भिक्खू अकिरिए, अलूसए, अकोहे जाव अलोभे, उवसंते, परिनिव्वुडे। एस खलु भगवया अक्खाए संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए भवइ। —सूय० श्रु २ । अ ४ । सू ५ । पृ० १६६

टीका—स भिक्षुर्निवृत्तश्च सर्वाश्रवद्वारेभ्यो दंतप्रक्षालनादिकाः क्रियाः कुर्वन् सावद्यक्रियाया अभावादक्रियोऽक्रियत्वाच्च।

यहाँ जो भिक्षु को अक्रिय कहा गया है वह सर्व योगनिरोधात्मक चौदहवें गुणस्थान का अक्रिय नहीं है। यहाँ अक्रिया से सावद्यानुष्ठान—असदनुष्ठान क्रिया से रहित भिक्षु को ही ग्रहण करना चाहिए। यह भिक्षु सर्वहिंसा से निवृत्त, शरीर की शोभनक्रिया ; यथा—दन्त-प्रक्षालन आदि क्रिया से निवृत्त होता है। तथा इस प्रकार सावद्यानुष्ठान क्रियाओं से रहित होता है। अतः उसको सावद्यक्रिया के अभाव के कारण अक्रिय कहा गया है।

·७३ अन्तक्रिया—

·७३·१ परिभाषा / अर्थ :—

(क) 'अन्तकिरिय' त्ति सकलकर्मक्षयरूपा।

योगनिरोधाभिधानशुक्लध्यानेन सकलकर्मध्वंसरूपा अंतक्रिया भवति।

एवं एजनादिरहितस्य शुक्लध्यानस्य चतुर्थभेदानलेन कर्मदाह्य दहनं स्यादिति, अथ निष्क्रियस्यैव अन्तक्रिया भवति।

—भग० श ३। उ ३। प्र ११-१४। टीका

(ख) 'अंतकिरियं' ति अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनि क्रिया च अन्त्यक्रिया, अन्त्यस्य वा कर्माऽन्तस्य क्रिया अन्त्यक्रिया, ताम्—कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणां मोक्षप्राप्तिमित्यर्थः।

—भग० श १। उ २। प्र १०७। टीका

(ग) अंतो भवान्तस्तस्य क्रियाऽन्तक्रिया भवच्छेद इत्यर्थः।

—ठाण० स्था २। उ ४। सू १०७। टीका

(घ) 'अंतक्रिया' मिति अन्तः—अवसानं, तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यं, अन्यत्रागमेऽन्तक्रियाशब्द(वाच्यतया त)स्य रूढत्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया—कर्मान्तकरणं मोक्ष इति भावार्थः, "कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः" इति वचनात् तां कुर्याद्।

—पण्ण० प २०। सू १४०७। टीका

अंतक्रिया—सकल कर्मक्षयरूप है।

जीव की वह अन्तिम क्रिया—प्रचेष्टा अर्थात् धर्मानुष्ठानिक-चारित्रिक क्रिया जिसके द्वारा जीव कर्मों का संपूर्ण अन्त—अवसान करके उसी भव में सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है, सर्व दुःखों का अन्त करता है।

ऐर्यापथिक तथा एजनादि क्रिया से रहित—योगनिरोधात्मक शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद में स्थित अक्रिय—निष्क्रिय जीव को अन्तक्रिया होती है।

·७३·२ भेद :—

चत्तारि अंतकिरियाओ पन्नत्ताओ तं जहा—

(१) तत्थ खलु इमा पढमा अंतकिरिया—अप्पकम्मपच्चायाए यावि भवइ, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, लूहे, तीरट्ठी उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी। तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ, णो तहप्पगारा—वेयणा भवइ, तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं परियाएणं सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा—से भरहे राया—चाउरंतचक्कवट्टी, पढमा अंतकिरिया।

(२) अहावरा दोच्चा अंतकिरिया, महाकम्मे पच्चायाए यावि भवइ, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, संजमबहुले संवरबहुले जाव उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी, तस्स णं तहप्पगारे तवे भवइ तहप्पगारा वेयणा

·७१·२ विभिन्न सदनुष्ठानक्रिया :—

·७१·२·१ सामायिक - चतुर्विंशतिस्तव-वंदना-प्रतिक्रमण-कायोत्सर्ग-प्रत्याख्यान—षट् आवश्यकक्रिया –

पण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः।

—तत्त्वसर्व० अ ६। सू २४। पृ ३३६। ला ४-५

षडावश्यकक्रियाः सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चेति। तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं चित्तस्यैकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम्। चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थंकरगुणानुकीर्तनम्। वंदना त्रिशुद्धिः द्व्यासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना। अतीतदोपनिवर्तनं प्रतिक्रमणम्। अनागतदोपापोहनं प्रत्याख्यानम्। परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः। इत्येतासां पण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनम् अनौत्सुक्यं आवश्यकाऽपरिहाणिरिति परिभाष्यते　　—तत्त्वराज०। अ ६। सू २४। पृ० ५३०। ला १० से १६

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याखयान और कायोत्सर्ग—इन छः आवश्यक क्रियाओं को यथाकाल करते रहना—आवश्यकपरिहाणि है।

सर्वसावद्य योगों का त्याग करना, चित्त को एकाग्र रूप से ज्ञान में लगाना—सामायिक है। तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है। मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक आसनपूर्वक चार वार शिरोनति और बारह आवर्तपूर्वक वंदना होती है। कृत दोषों की निवृत्ति करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। भविष्य में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना—प्रत्याख्यान है। अमुक समय तक शरीर से ममत्व का त्याग करना—कायोत्सर्ग है।

·७१·२·२ दर्शन - ज्ञान - चारित्र- तपविनय-सत्य - समिति-गुप्ति-अष्टसंयमानुष्ठान-क्रिया :—

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्च समिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम॥

—उत्त० अ २८। गा २५। पृ० १०२६

दीपिका टीका—स खलु निश्चयेन क्रियारुचिर्नाम प्रसिद्धो ज्ञेयः यः पुरुषो दर्शनज्ञानचारित्रे तथा तपोविनये क्रियाभावरुचिर्भवति तथा सत्यसमितिगुप्तिषु क्रियाभावरुचिर्भवति दर्शनञ्च ज्ञानञ्च चरित्रञ्च दर्शनज्ञानचारित्रं तस्मिन् तपांसि च विनयाश्च तेषां समाहारस्तपोविनयं तस्मिन् तपोविनये तपस्सु द्वादशविधेषु तथा विनयेषु आचार्य्यादीनां भक्तिषु तथा सत्यायाः समितयः सत्यसमितयः तासु सत्यसमितिषु

क्रियायां दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयसमितीनां आराधनानुष्ठानविधौ भावेन रुचिर्यस्य स क्रियाभावरुचिः।

यहाँ ग्रन्थकार ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्तिरूप क्रियाओं में जो व्यक्ति भावरुचि रखता है उसको निश्चय से क्रियारुचि नाम सम्यक्त्व वाला कहा है क्योंकि वह उपर्युक्त क्रियाओं के करने में भावसे रुचि रखता है।

ये सब क्रियायें सदनुष्ठान रूप क्रियायें हैं। टीकाकार के अनुसार जो व्यक्ति दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति रूप क्रियाओं की अनुष्ठान-विधि से भाव—आराधना करता है वह क्रियारुचि सम्यक्त्व का आराधक है।

·७२ अक्रिया (क्रिया का अभाव)

·७२·१ परिभाषा / अर्थ :—

अक्रिया योगनिरोधलक्षणा। —सम० सम १। सू १८। टीका

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १६०। टीका

योगनिरोध अक्रिया है। 'शैलेशीकरणे योगनिरोधाद् नो एजते',—योग का निरोध होने से शैलेशीकरण की अवस्था में ऐर्यापथिक तथा एजनादि क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं और इन क्रियाओं का अभाव—अक्रिया है।

·७२·२ भेद :—

एगा अकिरिया। —सम० सम १। सू २। पृ० ३१६

योगनिरोध से होने वाली क्रिया का अभाव रूप अक्रिया एक है।

·७२·३ अक्रिया किसका फल और उसका क्या फल :—

(क) से णं भंते! वोदाणे किं फले? (वोदाणे) अकिरिया फले।

से णं भंते अकिरिया किंफला? सिद्धिपज्जवसाणफला पन्नत्ता, गोयमा!

—भग० श २। उ ५। प्र ४५-४६। पृ० ४३१

(ख) सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संयमे।

अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया निव्वाणे॥

—जाव—से णं भंते! अकिरिया किं फला? निव्वाणफला, से णं भंते! निव्वाणे किं फले? सिद्धगइगमणपज्जवसाणफले पन्नत्ते, समणाउसो!

—ठाण० स्था ३। उ। ३ सू १६०। पृ० २१६

(ग) वोदाणेणं भंते! जीवं किं जणयइ? वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ। —उत्त० अ २६। सू २४। पृ० १०३२

कर्मों के व्यवदान अर्थात् कर्म के शोधन से अक्रिया होती है। अक्रिया से निर्वाण अर्थात् कर्मों से मुक्ति होती है; तत्पश्चात् जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है तथा परिनिर्वाण को प्राप्त कर सर्व दुःखों का अन्त करता है। सिद्धगतिगमन रूप पर्यवसानफल अर्थात् सबसे अन्तिम फल को प्राप्त करता है।

·७२·४ अक्रिय भिक्षु :—

(क) से भिक्खू अकिरिए, अलूसिए, अकोहे, अमाणे, अमाए, अलोहे, उवसंते, परिनिव्वुडे; ×××। इति से महओ आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए। —सूय० श्रु २। अ १। सू १५। पृ० १४३-४४

टीका—स मूलोत्तरगुणव्यवस्थितो भिक्षुर्नास्य क्रिया सावद्या विद्यते इत्यक्रियः संवृत्तात्मकतया सांपरायिककर्माबंधक इत्यर्थः।

(ख) से भिक्खू अकिरिए, अलूसए, अकोहे जाव अलोभे, उवसंते, परिनिव्वुडे। एस खलु भगवया अक्खाए संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए भवइ। —सूय० श्रु २। अ ४। सू ५। पृ० १६६

टीका—स भिक्षुर्निवृत्तश्च सर्वाश्रवद्वारेभ्यो दंतप्रक्षालनादिकाः क्रियाः कुर्वन् सावद्यक्रियाया अभावादक्रियोऽक्रियत्वाच्च।

यहाँ जो भिक्षु को अक्रिय कहा गया है वह सर्व योगनिरोधात्मक चौदहवें गुणस्थान का अक्रिय नहीं है। यहाँ अक्रिया से सावद्यानुष्ठान—असदनुष्ठान क्रिया से रहित भिक्षु को ही ग्रहण करना चाहिए। यह भिक्षु सर्वहिंसा से निवृत्त, शरीर की शोभनक्रिया; यथा—दन्त-प्रक्षालन आदि क्रिया से निवृत्त होता है। तथा इस प्रकार सावद्यानुष्ठान क्रियाओं से रहित होता है। अतः उसको सावद्यक्रिया के अभाव के कारण अक्रिय कहा गया है।

·७३ अन्तक्रिया–

·७३·१ परिभाषा / अर्थ : —

(क) 'अन्तकिरिय' त्ति सकलकर्मक्षयरूपा।

योगनिरोधाभिधानशुक्लध्यानेन सकलकर्मध्वंसरूपा अंतक्रिया भवति।

एवं एजनादिरहितस्य शुक्लध्यानस्य चतुर्थभेदानलेन कर्मदारुदहनं स्यादिति, अथ निष्क्रियस्यैव अन्तक्रिया भवति।

—भग० श ३। उ ३। प्र ११-१४। टीका

(ख) 'अंतकिरियं' ति अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनि क्रिया च अन्त्यक्रिया, अन्त्यस्य वा कर्माऽन्तस्य क्रिया अन्त्यक्रिया, ताम्—कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणां मोक्षप्राप्तिमित्यर्थः।

—भग० श १। उ २। प्र १०७। टीका

(ग) अंतो भवान्तस्तस्य क्रियाऽन्तक्रिया भवच्छेद इत्यर्थः।

—ठाण० स्था २। उ ४। सू १०७। टीका

(घ) 'अंतक्रिया' मिति अन्तः—अवसानं, तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यं, अन्यत्रागमेऽन्तक्रियाशब्द(वाच्यतया त)स्य रूढत्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया—कर्मान्तकरणं मोक्ष इति भावार्थः, "कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः" इति वचनात् तां कुर्याद्।

—पण्ण० प २०। सू १४०७। टीका

अंतक्रिया—सकल कर्मक्षयरूप है।

जीव की वह अन्तिम क्रिया—प्रचेष्टा अर्थात् धर्मानुष्ठानिक-चारित्रिक क्रिया जिसके द्वारा जीव कर्मों का संपूर्ण अन्त—अवसान करके उसी भव में सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है, सर्व दुःखों का अन्त करता है।

ऐर्यापथिक तथा एजनादि क्रिया से रहित—योगनिरोधात्मक शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद में स्थित अक्रिय—निष्क्रिय जीव को अन्तक्रिया होती है।

·७३·२ भेद :—

चत्तारि अंतकिरियाओ पन्नत्ताओ तं जहा—

(१) तत्थ खलु इमा पढमा अंतकिरिया—अप्पकम्मपच्चायाए यावि भवइ, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, लूहे, तीरट्ठी उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी। तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ, णो तहप्पगारा—वेयणा भवइ, तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं परियाएणं सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा—से भरहे राया—चाउरंतचक्कवट्टी, पढमा अंतकिरिया।

(२) अहावरा दोच्चा अंतकिरिया, महाकम्मे पच्चायाए यावि भवइ, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, संजमबहुले संवरबहुले जाव उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी, तस्स णं तहप्पगारे तवे भवइ, तहप्पगारा वेयणा

भवइ, तहप्पगारे पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ, जहा—से गयसूमाले अणगारे, दोच्चा अंतकिरिया।

(३) अहावरा तच्चा अंतकिरिया, महाकम्मे पच्चायाए यावि भवइ, से णं मुंडे भवित्ता—अगाराओ अणगारियं पव्वइए, जहा दोच्चा, नवरं दीहेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा—से सणंकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी. तच्चा अंतकिरिया।

(४) अहावरा चउत्था अंतकिरिया—अप्पकम्मपच्चायाए यावि भवइ, से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए, संजमबहुले, जाव तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ, णो तहप्पगारा वेयणा भवइ, तहप्पगारे पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा—सा मरुदेवा भगवई, चउत्था अंतकिरिया।

—ठाण० स्था ४। उ १। सू २३५। पृ० २२२

अन्तक्रिया वास्तव में एक ही है, इससे जीव सर्व-दुःखों का अंत करके सिद्धगति को प्राप्त करता है लेकिन साधन सामग्री के भेद से चार प्रकार की कही गई है यथा—(१) तथाविध तप नहीं होता है, तथाविध परीषह आदि से उपजती वेदना नहीं होती है परन्तु दीर्घकाल की दीक्षापर्याय द्वारा सिद्धि होती है; (२) तथाविध तप और घोर वेदना होती है लेकिन अल्पकाल की दीक्षापर्याय द्वारा सिद्धि होती है; (३) तथाविध उत्कृष्ट तप और वेदना होती है तथा दीर्घकाल की दीक्षापर्याय द्वारा सिद्धि होती है तथा (४) तथाविध तप और वेदना नहीं होती है और अल्पकाल की दीक्षापर्याय द्वारा सिद्धि होती है।

(१) कोई जीव पूर्वभव से अल्प कर्म वाला होकर मनुष्यभव में आता है और वहाँ दीक्षा ग्रहण करके, गृहस्थ जीवन को त्यागकर अणगार—साधु हो जाता है। वह संयम और संवर में बहुलता से प्रयत्नवंत है, अधिकाधिक समाधिवंत होता है, राग-स्नेहरहित होता है, संसार-सागर को पार करने का इच्छुक होता है, उपधान—श्रुत में सुस्थिर होता है। दुःख के कारण कर्मों का क्षय करता है, तपस्वी होता है। उस जीव के उस प्रकार यथा—भगवान् महावीर के समान तप भी नहीं होता है, परीषह—उपसर्गादि की वेदना भी नहीं होती है लेकिन उस प्रकार की पुरुषार्थ वाली दीर्घकाल की दीक्षा-पर्याय होती है तथा उससे वह जीव सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण को प्राप्त होता है, सर्व दुःखों का अंत करता है; यथा—भरत चक्रवर्ती—यह प्रथम अंतक्रिया है।

(२) कोई जीव पूर्वभव से महाकर्म वाला होकर मनुष्यभव में आता है और वहाँ दीक्षा ग्रहण करके, गृहस्थ जीवन को त्याग कर अणगार—साधु हो जाता है। वह संयम और संवर में बहुलता से प्रयत्नवंत है यावत् उपधान—श्रुत में सुस्थिर होता है। दुःख के

कारण कर्मों का क्षय करता है, तपस्वी होता है। उस जीव के उस प्रकार यथा—भगवान् महावीर के समान तप होता है, परीषह—उपसर्गादि की वेदना भी होती है। उसके उस प्रकार की पुरुषार्थ वाली लेकिन अल्पकाल की दीक्षा-पर्याय होती है तथा उससे वह जीव सिद्ध होता है यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है ; यथा श्रीकृष्ण के लघु भाई गजसुकुमाल अणगार—यह दूसरी अंतक्रिया है।

(३) कोई जीव पूर्वभव से महाकर्म वाला होकर मनुष्यभव में आता है और वहाँ दीक्षा ग्रहण करके, गृहस्थ-जीवन को त्याग कर अणगार—साधु हो जाता है। वह संयम और संवर में बहुलता से प्रयत्नवंत है यावत् उपधान—श्रुत में सुस्थिर होता है। दुःख के कारण कर्मों का क्षय करता है, तपस्वी होता है। उस जीव के उस प्रकार यथा—भगवान् महावीर के समान तप होता है, परीषह—उपसर्गादि की वेदना भी होती है तथा उस प्रकार की पुरुषार्थ वाली दीर्घकाल की दीक्षा-पर्याय होती है तथा उससे वह जीव सिद्ध होता है यावत् सर्व दुःखों का अंत करता है ; यथा—सनत्कुमार चक्रवर्ती—यह तीसरी अंतक्रिया है।

(४) कोई जीव पूर्वभव से अल्पकर्म वाला होकर मनुष्यभव में आता है और वहाँ दीक्षा ग्रहण करके, गृहस्थ-जीवन को त्यागकर अणगार—साधु हो जाता है। वह संयम और संवर में बहुलता से प्रयत्नवंत है यावत् उस जीव के उस प्रकार यथा—भगवान् महावीर के समान तप भी नहीं होता है, परीषह—उपसर्गादि की वेदना भी नहीं होती है और उस प्रकार की पुरुषार्थ वाली लेकिन अल्पकाल की दीक्षा-पर्याय होती है तथा उससे वह जीव सिद्ध होता है यावत् सर्व दुःखों का अंत करता है ; यथा—भगवती मरुदेवी—यह चतुर्थ अंतक्रिया है।

·७३·३ अन्तक्रिया और जीवदंडक :—

जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए करेज्जा, अत्थेगइए नो करेज्जा। एवं नेरइए जाव वेमाणिए। नेरइए णं भंते ! नेरइएसु अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। नेरइया णं भंते ! असुरकुमारेसु अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। एवं जाव वेमाणिएसु। नवरं मणूसेसु अंतकिरियं करेज्ज त्ति पुच्छा। गोयमा ! अत्थेगइए करेज्जा, अत्थेगइए नो करेज्जा। एवं असुर-कुमारा जाव वेमाणिए। एवमेव चउवीसं चउवीसं दंडगा भवंति।

—पण्ण० । पद २०। सू १४०७-९ । पृ० ४५९-६०

कोई जीव अंतक्रिया करता है, कोई जीव नहीं करता है इसी प्रकार नारकी से लेकर यावत् वैमानिक देव तक सभी जीवदण्डकों के विषय में जानना।

नारक जीव नारकभव में अंतक्रिया नहीं करता है। नारक जीव असुरकुमार भव में अंतक्रिया नहीं करता है, इसी प्रकार मनुष्यभव वाद वैमानिक भव तक सभी दंडकों में अंतक्रिया नहीं करता है। नारक जीव मनुष्यभव में आकर कोई एक नारक जीव अंतक्रिया करता है, कोई एक नहीं करता है।

नारकी की तरह असुरकुमार से लेकर यावत् वैमानिक तक दंडक के सभी जीव मनुष्यभव वाद अन्य दंडकों में अन्तक्रिया नहीं करते हैं। मनुष्य भव में आकर कोई जीव अन्तक्रिया करता है, कोई नहीं करता है।

·७३·४ अनन्तर-परंपर भव में अंतक्रिया और जीवदंडक :—

नेरइया णं भंते ! किं अणंतरागया अंतकिरियं करेंति, परंपरागया अंतकिरियं करेंति ? गोयमा ! अणंतरागया वि अंतकिरियं करेंति परंपरागया वि अंतकिरियं करेंति। एवं रयणप्पभापुढवीनेरइया वि जाव पंकप्पभापुढवीनेरइया। धूमप्पभा-पुढवीनेरइया णं पुच्छा। गोयमा ! णो अणंतरागया अंतकिरियं पकरेंति, परंपरागया अंतकिरियं पकरेंति, एवं जाव अहेसत्तमापुढवीनेरइया। असुरकमारा जाव थणियकुमारा पुढवीआउवणस्सइकाइया य अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरेंति, परंपरागया वि अंतकिरियं पकरेंति। तेउवाउवेइंदियतेइंदियचउरिंदया णो अणंत-रागया अंतकिरियं पकरेंति, परंपरागया अंतकिरियं पकरेंति। सेसा अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरेंति, परंपरागया वि अंतकिरियं पकरेंति।

—पण्ण० । पद २० । सू १४१०-१३ । पृ० ४६०

नारक जीव अनंतरभव में भी अन्तक्रिया करते हैं तथा परम्परभव में भी अन्तक्रिया करते हैं। इसी प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक जीव यावत् पंकप्रभा पृथ्वी के नारक जीव अनन्तरभव में भी अन्तक्रिया करते हैं तथा परंपरभव में भी अन्तक्रिया करते हैं। धूमप्रभा पृथ्वी के नारक जीव अनन्तरभव में अन्तक्रिया नहीं करते हैं परन्तु परंपरभव में अन्तक्रिया करते हैं। इसी प्रकार यावत् तमतमा पृथ्वी (सातवीं नारकी) के नारक जीव अनन्तर भव में अन्तक्रिया नहीं करते हैं लेकिन परम्परभव में अंतक्रिया करते हैं।

असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देव, पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, वनस्पति-कायिक जीव अनंतरभव में भी तथा परंपरभव में भी अन्तक्रिया करते हैं।

अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीव अनंतरभव में अन्तक्रिया नहीं करते हैं लेकिन परंपरभव में अन्तक्रिया करते हैं।

अवशेष जीव अर्थात् तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक जीव अनंतरभव में भी तथा परंपरभव में भी अन्तक्रिया करते हैं।

·७३·५ दंडक के जीव अनंतरभव में कितने एक समय में अंतक्रिया करते हैं :—

अणंतरागया नेरइया एगसमये केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एगो वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं दस। रयणप्पभापुढवीनेरइया वि एवं चेव, जाव वालुयप्पभापुढवीनेरइया। अनंतरागया णं भंते ! पंकप्पभापुढवीनेरइया एगसमयेणं केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा—उक्कोसेणं चत्तारि। अनंतरागया णं भंते ! असुरकुमारा एगसमये केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं दस। अणंतरागया णं भंते ! असुरकुमारीओ एगसमये केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं पंच। एवं जहा असुरकुमारा सदेवीया तहा जाव थणियकुमारा।

अणंतरागया णं भंते ! पुढवीकाइया एगसमये केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं चत्तारि। एवं आउक्काइया वि चत्तारि, वणस्सइकाइया छच्च, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दस, तिरिक्खजोणिणीओ दस, मणुस्सा दस, मणुस्सीओ वीसं, वाणमंतरा दस, वाणमंतरीओ पंच, जोइसिया दस, जोइसिणीओ वीसं, वेमाणिआ अट्ठसयं, वेमाणिणीओ वीसं।

—पण्ण० । पद २० । सू० १४१४-१६ । पृ० ४६०

नारक जीव अनंतर मनुष्यभव में एक अथवा दो अथवा तीन अथवा उत्कृष्ट में दस जीव एक समय में अन्तक्रिया करते हैं। इसी प्रकार रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा-वालुकाप्रभा पृथ्वी के नारकी अनन्तर मनुष्यभव में एक से लेकर दस तक एक समय में अन्तक्रिया करते हैं। पंकप्रभा पृथ्वी के नारकी अनन्तर मनुष्यभव में एक से लेकर चार तक एक समय में अन्तक्रिया करते हैं।

असुरकुमार देव अनंतर मनुष्यभव में एक से लेकर दस तक एक समय में अन्तक्रिया करते हैं। असुरकुमार देवियाँ अनंतर मनुष्यभव में एक से लेकर पाँच तक एक समय में अन्तक्रिया करती हैं। असुरकुमार देवों की तरह स्तनितकुमार देवों तक जानना। असुरकुमार देवियों की तरह स्तनितकुमार देवियों तक जानना।

पृथ्वीकायिक जीव अनंतर मनुष्यभव में एक से लेकर चार तक एक समय में अन्तक्रिया करते हैं। अप्कायिक जीव भी अनंतर मनुष्यभव में एक से लेकर चार तक

एक समय में अन्तक्रिया करते हैं। वनस्पतिकायिक जीव अनंतर मनुष्यभव में एक से छः तक, पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव अनंतर मनुष्यभव में एक से दस तक, पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक स्त्री जीव अनन्तर मनुष्यभव में एक से दस तक, मनुष्य अनंतर मनुष्यभव में एक से दस तक, मनुष्यणी अनंतर मनुष्यभव में एक से वीस तक, वाणव्यंतर देव अनंतर मनुष्यभव में एक से दस तक, वाणव्यंतर देवियाँ अनंतर मनुष्यभव में एक से पाँच तक, ज्योतिषी देव अनंतर मनुष्यभव में एक से दस तक, ज्योतिषी देवियाँ अनंतर मनुष्यभव में एक से वीस तक, वैमानिक देव अनंतर मनुष्य भव में एक से एक सौ आठ तक तथा वैमानिक देवियाँ अनंतर मनुष्यभव में एक से वीस तक एक समय में अंतक्रिया करते हैं।

टीका—'अणंतरागया णं भंते! इत्यादि, नैरयिकभवादनन्तरं—अव्यवधानेन मनुष्यभवमागता अनन्तरागताः।

'७३'६ एक भव से अनंतरभव में अंतक्रिया :—

'७३'६'१ नारकभव से अनंतर मनुष्यभव में अंतक्रिया :—

नेरइए णं भंते! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मणुस्सेसु उववज्जेज्जा? गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जेज्जा। जे णं भंते! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए? गोयमा! जहा पंचिंदियतिरिक्ख जोणिएसु जाव (अत्थेगइए लभेज्जा! अत्थेगइए णो लभेज्जा। जे णं भंते! केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलं(लिं) वोहिं बुज्झेज्जा? गोयमा! अत्थेगइए बुज्झेज्जा, अत्थेगइए णो बुज्झेज्जा। जे णं भंते! केवलं वोहिं बुज्झेज्जा से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा? गोयमा! सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा। जे णं भंते। सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा से णं आभिणिबोहियनाणसुयनाणाइं उप्पाडेज्जा? हंता, गोयमा! उप्पाडेज्जा। जे णं भंते! आभिणिबोहियनाणसुयनाणाइं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा वयं वा गुणं वा वेरमणं वा पच्चक्खाणं वा पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए? गोयमा! अत्थेगइए संचाएज्जा, अत्थेगइए णो संचाएज्जा। जे णं भंते! संचाएज्जा सीलं वा जाव पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए से णं ओहिनाणं उप्पाडेज्जा? गोयमा! अत्थेगइए उप्पाडेज्जा अत्थेगइए णोउप्पाडेज्जा।) जे णं भंते! ओहिनाणं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए? गोयमा! अत्थेगइए संचाएज्जा, अत्थेगइए णो संचाएज्जा। जे णं भंते! संचाएज्जा मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए से णं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा? गोयमा! अत्थेगइए उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए णो

उप्पाडेज्जा। जे णं भंते! मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा से णं केवलनाणं उप्पाडेज्जा? गोयमा! अत्थेगइए उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए णो उप्पाडेज्जा। जे णं भंते! केवलनाणं उप्पाडेज्जा से णं सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा मुच्चेज्जा सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा? गोयमा! सिज्झेज्जा जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा।

—पण्ण० प २०। सू० १४२१। पृ० ४६१

संक्षिप्त अर्थः—नारकभव से अनंतर मनुष्यभव में कोई एक नारकी जीव उत्पन्न होता है, कोई एक उत्पन्न नहीं होता है। जो मनुष्यभव में उत्पन्न होता है उसमें—यावत् कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है, कोई एक नहीं प्राप्त करता है। जो केवलज्ञान प्राप्त करता है वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है—निर्वाण को प्राप्त होता है तथा सर्व दुःखों को अंत करने वाली अंतक्रिया करता है।

·७३·६·२ भवनपति देव से अनंतर मनुष्यभव में अंतक्रिया :—

असुरकुमारेणं भंते! असुरकुमारेहिंतो अणंतर उव्वट्टित्ता ××× अवसेसेसु पंचसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियाइसु असुरकुमारे (सु) जहा नेरइए (ओ); एवं जाव थणियकुमारा।

—पण्ण० प २०। सू० १४२६। पृ० ४६१-६२

जिस प्रकार नारकभव से अनंतर मनुष्यभव में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है—निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्व दुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया करता है उसी प्रकार असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देवभव से अनंतर मनुष्यभव में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा सर्व दुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया करता है।

·७३·६·३ पृथ्वीकाय-अप्काय-वनस्पतिकाय से अनंतर मनुष्यभव में अन्तक्रिया :—

पुढविकाइए णं भंते! पुढवीक्काइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता ××× पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सेसु जहा नेरइए। ×××। एवं जहा पुढविक्काइओ भणिओ तहेव आउक्काइओ वि जाव वणस्सइकाइओ वि भाणियव्वो।

—पण्ण० प २०। सू० १४२७-२६। पृ० ४६२

जिस प्रकार नारकभव से अनन्तर मनुष्य भव में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है, निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्व दुःख को अंत करने वाली अंतक्रिया करता है उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीव से अनंतर मनुष्य भव में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्व दुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया करता है।

पृथ्वीकायिक जीव की तरह अप्कायिक जीव से अनन्तर मनुष्य भव में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है—निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्व दुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया करता है।

पृथ्वीकायिक जीव की तरह वनस्पतिकायिक जीव से अनन्तर मनुष्य में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है—निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्व दुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया करता है।

'७३'६'४ अग्निकाय से अनंतर मनुष्यभव में अंतक्रिया—

तेउक्काइए णं भंते ! तेउक्काइएहिंतो अणंतर उव्वट्टित्ता ××× । मणूसवाणमंतर-जोइसियवेमाणिएसु—पुच्छा । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

—पण्ण० प २० । सू १४३२-३३ । पृ० ४६२

अग्निकाय से अनन्तर मनुष्यभव में कोई जीव उत्पन्न नहीं होता है अतः अग्निकाय से अनन्तरभव में उत्पन्न होकर कोई भी जीव अन्तक्रिया नहीं कर सकता है।

'७३'६'५ वायुकाय से अनंतर मनुष्यभव में अन्तक्रिया :—

एवं जहेव तेउक्काइए निरंतरं एवं वाउक्काइए ति ।

—पण्ण० प २० । सू १४३४ । पृ० ४६२

अग्निकायिक जीव की तरह वायुकाय से अनन्तर मनुष्यभव में कोई जीव उत्पन्न नहीं होता है अतः वायुकाय से अनन्तरभव में उत्पन्न होकर कोई जीव अन्तक्रिया नहीं कर सकता है।

'७३'६'६ द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय से अनंतर मनुष्यभव में अन्तक्रिया :—

बेइंदिए णं भंते ! बेइंदिएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहा पुढविक्काइए नवरं मणूसेसु जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा । एवं तेइंदिया चउरिंदिया वि जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा । जे णं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा से णं केवलनाणं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

—पण्ण० प २० । सू १४३५-३६ । पृ० ४६२

द्वीन्द्रिय जीव से अनन्तर मनुष्यभव से कोई जीव उत्पन्न होता है लेकिन केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है अतः वह अनन्तर मनुष्यभव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं होता है—निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है तथा सर्व दुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया नहीं करता है।

द्वीन्द्रिय जीव की तरह त्रीन्द्रिय जीव से अनन्तर मनुष्यभव से कोई जीव उत्पन्न होता है लेकिन केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है अतः वह अनन्तर मनुष्य भव में सिद्ध-बुद्ध-

मुक्त नहीं होता है, निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है तथा सर्व दुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया नहीं करता है।

द्वीन्द्रिय जीव की तरह चतुरिन्द्रिय जीव से अनन्तर मनुष्यभव से कोई जीव उत्पन्न होता है लेकिन केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है अतः वह अनन्तर मनुष्यभव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं होता है, निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है तथा सर्व दुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया नहीं करता है।

'७३'६'७ तिर्यंच पंचेन्द्रिय भव से अनंतर मनुष्यभव में अन्तक्रिया :—

पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते! पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता ××× । पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु मणूसेसु य जहा नेरइए।

—पण्ण० प २० । सू १४३७-४० । पृ० ४६२-६३

जिस प्रकार नारकभव से अनन्तर मनुष्य भव में उत्पन्न होकर कोई जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है, निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्वदुःखों को अन्त करनेवाली अन्तक्रिया करता है उसी प्रकार तिर्यंच पंचेन्द्रियभव से अनन्तर मनुष्यभव में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है—निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्वदुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया करता है।

'७३'६'८ मनुष्यभव से अनंतर मनुष्यभव में अन्तक्रिया :—

एवं मणूसे वि। —पण्ण० प २० । सू १४४२ । पृ० ४६३

तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव की तरह मनुष्यभव से अनन्तर मनुष्यभव में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है—निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्वदुःखों को अन्त करने वाली अन्तक्रिया करता है।

'७३'६'९ वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देव से अनंतर मनुष्यभव में अन्तक्रिया :—

वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिए (सु) जहा असुरकुमारे।

—पण्ण० प २० । सू १४४३ । पृ० ४६३

जिस प्रकार असुरकुमार से अनन्तर मनुष्यभव में उत्पन्न होकर कोई जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है, निर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्वदुःखों को अन्त करनेवाली अन्तक्रिया करता है उसी प्रकार वाणव्यंतर-ज्योतिष-वैमानिक देवभव से अनन्तर मनुष्यभव में उत्पन्न होकर कोई एक जीव केवल ज्ञान प्राप्त करता है तथा सिद्ध-

बुद्ध-मुक्त होता है—निर्वाण को प्राप्त करता है और सर्व दुःखों को अन्त करनेवाली अन्त-क्रिया करता है।

·७३·७ सलेशी पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिक जीव और अनन्तर भव में अन्तक्रिया—

से नूणं भंते ! काउलेस्से पुढविकाइए काउलेस्सेहिंतो पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभइ माणुस्सं विग्गहं लभइत्ता केवलं बोहिं बुज्झइ केवलं बोहिं बुज्झइत्ता तओ पच्छा सिज्झइ जाव अंतं करेइ ? हंता, मागंदियपुत्ता ! काउलेस्से पुढविकाइए जाव अंतं करेइ।

से नूणं भंते ! काउलेस्से आउकाइए काउलेस्सेहिंतो आउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभइ माणुस्सं विग्गहं लभइत्ता केवलं बोहिं बुज्झइ, जाव अंतं करेइ ? हंता, मागंदियपुत्ता ! जाव अंतं करेइ।

से नूणं भंते ! काउलेस्से वणस्सइकाइए एवं चेव जाव अंतं करेइ। ×××।

एवं खलु अज्जो ! कण्हलेस्से पुढविकाइए कण्हलेस्सेहिंतो पुढविकाइएहिंतो जाव अंतं करेइ ; एवं खलु अज्जो ! नीललेस्से पुढविकाइए जाव अंतं करेइ, एवं काउलेस्से वि, जहा पुढविकाइए एवं आउकाइए वि, एवं वणस्सइकाइए वि सच्चे णं एसमट्ठे। —भग० श १८। उ ३। प्र १ से ३। पृ० ७६६-६७

कापोतलेशी पृथ्वीकायिक जीव कापोतलेशी पृथ्वीकायिक जीव से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है, मनुष्य शरीर को प्राप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलबोधि को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है।

कापोतलेशी अप्कायिक जीव कापोतलेशी अप्कायिक योनि से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है, मनुष्य शरीर को प्राप्त करके केवल-ज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

कापोतलेशी वनस्पतिकायिक जीव कापोतलेशी वनस्पतिकायिक योनि से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य-शरीर को प्राप्त करता है ; मनुष्य शरीर को प्राप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

आर्यों के पूछने पर भगवान् महावीर ने भी (अहंपि णं अज्जो ! एवमाइक्खामि) माकंदीपुत्र के उपर्युक्त कथन का समर्थन किया है।

कृष्णलेशी पृथ्वीकायिक जीव कृष्णलेशी पृथ्वीकायिक जीव से, कृष्णलेशी अप्कायिक जीव कृष्णलेशी अप्कायिक जीव से तथा कृष्णलेशी वनस्पतिकायिक जीव कृष्णलेशी वनस्पतिकायिक जीव से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है, मनुष्य शरीर को प्राप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

नीललेशी पृथ्वीकायिक जीव नीललेशी पृथ्वीकायिक योनि से, नीललेशी अप्कायिक जीव नीललेशी अप्कायिक योनि से तथा नीललेशी वनस्पतिकायिक जीव नीललेशी वनस्पतिकायिक योनि से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है ; मनुष्य के शरीर को प्राप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

·७३·८ कहाँ से अनंतर मनुष्यभव में आकर जीव तीर्थंकरत्व पाकर अन्तक्रिया करता है :—

रयणप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा ? गोयमा ! जस्स णं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थयरनामगोयाइं कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं (निधत्ताइं) कडाइं पट्ठवियाइं निविट्ठाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं उदिन्नाइं, णो उवसंताइं भ(ह)वंति, से णं रयणप्पभापुढविनेरइए रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा, जस्स णं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थयरनामगोयाइं णो बद्धाइं जाव णो उदिन्नाइं उवसंताइं भ(ह)वंति, से णं रयणप्पभापुढविनेरइए रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं णो लभेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—'अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा'। एवं (सक्करप्पभा०) जाव वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो तित्थयरत्तं लभेज्जा। पंकप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! पंकप्पभानेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा ! गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा। ××× । असुरकुमारे णं० (कुमारा णं) पुच्छा। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा। एवं निरंतरं जाव आउकाइए। ××× । वणप्फ(स्स)इकाइए णं० पुच्छा। (तित्थयरत्तं लभेज्जा) ! गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा। ××× । पंचिंदियतिरिक्खजोणिय-मणूस-वाणमंतर-जोइसिए णं० पुच्छा। (तित्थयरत्तं लभेज्जा ?) गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा। सोहम्मगदेवे णं भंते ! अणं-

तरं चइं (चयं० च) चइत्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा, एवं जहा रयणप्पभापुढविनेरइए, एवं जाव सव्वट्ठसिद्धग-देवे।

—पण्ण० प २० । सू० १४४४-१४४६, १४५०, ५१,५४,५६-५८ । पृ० ४६३-६४

रत्नप्रभापृथ्वी से अनन्तर मनुष्यभव में कोई नारक जीव तीर्थंकर पद प्राप्त करता है, कोई एक नहीं करता है। जिसने तीर्थंकर नाम-गोत्र-कर्म का वन्ध किया है, निधत्त किया है, कृत-निकाचित किया है, प्रस्थापित किया है, निविष्ट किया है, अभिनिविष्ट किया है, अभिसमन्वागत किया है, उदयाभिमुख किया है परन्तु उपशान्त नहीं किया है वह तीर्थंकरत्व पद प्राप्त करता है तथा जिसने तीर्थंकर नाम-गोत्र-कर्म का वन्ध नहीं किया है यावत् उदय में लाया नहीं है लेकिन उपशान्त किया है वह तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है। इसी प्रकार शर्कराप्रभा—वालुकाप्रभा पृथ्वी का कोई एक नारकी अनन्तर मनुष्यभव में तीर्थंकरत्व को प्राप्त करता है, कोई एक नहीं करता है।

पंकप्रभा पृथ्वी से अनन्तर मनुष्यभव में आकर कोई भी नारकी तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है लेकिन कोई एक जीव अन्तक्रिया करता है। धूमप्रभा पृथ्वी से अनन्तर मनुष्यभव में आकर कोई भी नारकी तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है, अन्तक्रिया भी नहीं करता है लेकिन कोई एक जीव सर्व विरति प्राप्त करता है। तमप्रभा-पृथ्वी से अनन्तर मनुष्यभव में कोई भी नारकी तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है, अन्तक्रिया भी नहीं करता है लेकिन कोई जीव देश-विरति प्राप्त करता है। तमतमाप्रभा-पृथ्वी से कोई भी नारकी अनन्तर भव में तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है, अन्तक्रिया भी नहीं करता है लेकिन कोई एक जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

असुरकुमार देव से अनन्तर मनुष्यभव पाकर कोई भी जीव तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है लेकिन कोई एक जीव अन्तक्रिया करता है। इसी प्रकार नागकुमार से यावत् अप्-काय तक ऐसे ही जानना।

अग्निकाय-वायुकाय से अनन्तर भव में कोई भी जीव तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है तथा अन्तक्रिया भी नहीं करता है लेकिन कोई एक जीव केवली प्ररूपित धर्म का श्रवण करता है।

वनस्पतिकाय से अनन्तर मनुष्यभव पाकर कोई भी जीव तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है लेकिन कोई एक जीव अन्तक्रिया करता है।

द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय से अनन्तर मनुष्यभव पाकर कोई भी जीव तीर्थंकरत्व को प्राप्त नहीं करता है, अन्तक्रिया भी नहीं करता है लेकिन कोई एक जीव मनः-पर्यवज्ञान प्राप्त करता है।

'७३'६ कौन जीव अन्तक्रिया करते हैं—

'७३'६'१ दया-धर्म की प्ररूपणा करने वाले जीव :—

तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति— सव्वे पाणा (सव्वे भूया सव्वे जीवा) सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेयव्वा ण उद्द-वेयव्वा। ते णो आगंतुच्छेयाए ते णो आगंतुभेयाए जाव जाइ-जरा-मरण-जोणि-जम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंच-कलंकलीभागिणो भविस्संति। [ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं मुंडणाणं जाव बहूणं दुक्ख-दोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्संति।] अणाइं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारभुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति, ते सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति।

—सूय० श्रु २। अ २। सू २६। पृ० १५६

वे श्रमण-ब्राह्मण जो ऐसा कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों का हनन नहीं करना चाहिए, दण्ड नहीं देना चाहिए, दासवृत्ति नहीं करानी चाहिए, यावत् उद्वेग नहीं पहुँचाना चाहिए। भविष्यत् काल में वे सब जीव छेदन-भेदन को प्राप्त नहीं होंगे यावत् जाति-जरा-मरण-योनि-जन्म-संसार में बार-बार जन्म लेकर गर्भ में आकर भव-प्रपंच में महान पीड़ा नहीं पायेंगे। वे बहुत कष्ट-मण्डन-तर्जन यावत् दौर्मनस्य के भागी नहीं होंगे। वे इस अनादि अनन्त चातुर्गतिक संसार रूपी अटवी में दीर्घकाल पर्यन्त बार-बार परिभ्रमण नहीं करेंगे।

ऐसा दयाधर्म प्रतिपादित करने वाले श्रमण-ब्राह्मण सिद्ध होंगे यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे अर्थात् अन्तक्रिया करेंगे।

'७३'६'२ निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थित जीव अन्तक्रिया करता है :—

(क) इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलए, संसुद्धे, पडिपुण्णे, णेयाउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, णिव्वाणमग्गे, णिज्जाणमग्गे, अवितह-मविसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे, इहट्ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। —ओव०। सू० ३४। पृ० २२

(ख) इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं, अणुत्तरं, के[illegible], पडिपुण्णं, संसुद्धं,

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवल—अद्वितीय है, प्रतिपूर्ण है, संशुद्ध—निर्दोष है, नैयायिक—न्याय से सिद्ध—प्रमाण से अबाधित है, मायाकर्तन—मायादिशल्य का निवारक है, सिद्धिमार्ग है, मुक्तिमार्ग है, निर्वाणमार्ग है, निर्याणमार्ग—पुनरागमन से रहित है, अवितथ—वास्तविक है, अविसन्धि—विच्छेद रहित है, सर्वदुःखप्रहीण—सकल दुःखों का निःशेष करने वाला मार्ग है।

ऐसे प्रवचन में स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं तथा सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

·७३·९·३ संवृत अनगार अंतक्रिया करता है :—

संवुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झइ (बुज्झइ, मुचइ, परिनिव्वाइ) जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ?

हंता ! सिज्झइ, जाव अंतं करेइ।

से केणट्ठेणं भंते ?

गोयमा ! संवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसगाओ अप्पएसगाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं ण बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं णो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीईवयइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—संवुडे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ।

—भग० श १। उ १। प्र ५८-५९। पृ० ३८९-९०

संवृत्त अणगार सिद्ध होता है यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है क्योंकि संवृत्त अणगार आयुकर्म को छोड़ कर गाँठ रूप से बँधी हुई सात कर्म-प्रकृतियों को शिथिल रूप से बन्धन करता है ; दीर्घकालीन स्थिति वाली कर्मप्रकृतियों को अल्पकालीन स्थिति वाली करता है ; तीव्रानुभाव वाली को मंदानुभाव वाली करता है ; बहु प्रदेशवाली को अल्प प्रदेशवाली करता है ; आयुकर्म को नहीं बाँधता है ; असातावेदनीय कर्म को बार-बार उपचय नहीं करता है ; अनादि—अनंत दीर्घमार्ग वाले चार गति रूप संसार-अटवी को उल्लंघ जाता है, इस कारण से ऐसा कहा गया है कि संवृत्त अणगार सिद्ध होता है यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

·७३·९·४ एजनादि क्रिया नहीं करने वाला जीव अन्तक्रिया करता है :—

जीवे णं भंते ! सया समियं नो एयइ—जाव—नो तं तं भावं परिणमइ ? हंता, मंडियपुत्ता ! जीवे णं सया समियं—जाव—नो परिणमइ।

जाव च णं भंते ! से जीवे नो एयइ—जाव—नो तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ ? हंता, जाव—भवइ।

से केणट्ठेणं—जाव—भवइ ? मंडियपुत्ता ! (मंडिआ !) जावं च णं से जीवे सया समियं नो एयइ—जाव—नो परिणमइ, तावं च णं से जीवे नो आरंभइ, नो सारंभइ, नो समारंभइ ; नो आरंभे वट्टइ, नो सारंभे वट्टइ, नो समारंभे वट्टइ ; अणारंभमाणे, असारंभमाणे, असमारंभमाणे; आरंभे अवट्टमाणे, सारंभे अवट्टमाणे, समारंभे अवट्टमाणे बहूणं पाणाणं, भूयाणं, जीवाणं, सत्ताणं अदुक्खवणयाए—जाव—अपरियावणयाए वट्टइ। ××× से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता ! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समियं णो एयइ, जाव—अंते अंतकिरिया भवइ।

—भग० श ३। उ ३। प्र १३-१५। पृ० ४५७

जो जीव सदा समपूर्वक कम्पन नहीं करता है यावत् उन-उन भावों में परिणमन नहीं करता है वह जीव अन्तक्रिया करता है क्योंकि जो जीव एजनादि क्रिया नहीं करता है, उन-उन भावों में परिणमन नहीं करता है वह आरम्भ-सारंभ-समारम्भ नहीं करता है, आरम्भ-सारम्भ-समारम्भ में नहीं वर्त्तता है, आरम्भमान-सारम्भमान-समारम्भमान नहीं है, आरम्भ-सारम्भ-समारम्भ में वर्तमान नहीं है वह जीव बहुत प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों को दुःख-शोक आदि नहीं पहुँचाता है अतः उस कम्पनरहित जीव को अन्त समय में अन्तक्रिया होती है।

·७३·६·५ अक्रिय जीव उसी भव में अन्तक्रिया करता है :—

जइ अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति—जाव—(बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं) अंतं करेंति ? हंता, (गोयमा !) सिज्झंति जाव अंतं करेंति।

—भग० श ४१। उ १। प्र १८। पृ० ६३५

जो जीव अक्रिय हो जाता है वह उसी भव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त करता है और सर्व दुःखों का अन्त करता है।

·७३·६·६ तेरहवें क्रियास्थान में वर्तमान जीव अन्तक्रिया करता है :—

एयंसि चेव तेरसमे किरियाट्ठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिसु बुज्झिसु मुच्चिसु परिणिव्वाइंसु जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा।

—सूय० श्रु २। अ २। सू २७। पृ० १५६

तेरहवें क्रियास्थान (ऐर्यापथिक:क्रियास्थान) में वर्त्तता हुआ जीव अतीत काल में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त किया है तथा सर्व दुःखों का अन्त किया है, वर्तमान काल में सर्व दुःखों का अंत करते हैं तथा भविष्यत् काल में सर्व दुःखों का अंत करेंगे।

'७३'६'७ केवली अंतक्रिया करते हैं :—

केवली णं भंते ! मणूसे अतीतं, अणंतं, सासयं समयं जाव—अंतं करेंसु ?

हंता, सिज्झिंसु, जाव—अंतं करेंसु, एते तिन्नि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा, नवरं—सिज्झिंसु, सिज्झंति, सिज्झिस्संति।

से णूणं भंते ! अतीतं, अणंतं, सासयं समयं पडुप्पण्णं वा सासयं समयं; अणागयं अणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा, अंतिमसरीरिया वा, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा ; सव्वे ते उप्पन्नणाणदंसणधरा, अरहा, जिणा (णं), केवली भवित्ता, तओ पच्छा सिज्झंति, जाव—अंतं करिस्संति वा ?

हंता, गोयमा ! अतीतं, अणंतं, सासयं जाव—अंतं करिस्संति वा।

—भग० श १। उ ४। प्र १६१-६२। पृ० ३६८

बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में केवली मनुष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुआ है यावत् सर्व दुःखों का अन्त किया है ; वर्तमानकाल में करते हैं तथा भविष्यत् काल में करेंगे।

बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में, वर्तमान शाश्वत काल में तथा अनंत शाश्वत भविष्यत् काल में अंतकरों ने, चरम शरीर वालों ने सर्व दुःखों का अन्त किया है, करते हैं तथा करेंगे। वे सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी, अरिहंत, जिन, केवली होकर फिर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे।

'७३'१० केवली जीव अंतक्रिया कैसे करते हैं :—

[सयोगी केवली आवश्यकतानुसार समुद्घात करके या बिना किये ही अंतक्रिया की शेष पर्याय मनोयोग के निरोध से प्रारंभ करते हैं।]

(क) अहाउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सहुम-किरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए 'मणजोगं निरुंभइ, मणजोगं निरुंभित्ता वयजोगं निरुंभइ, वयजोगं निरुंभित्ता (कायजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभित्ता) आणपाणनिरोहं करेइ, आणपाणनिरोहं करित्ता, ईसिपंचहस्सक्खरुच्चा-रणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ।

तओ ओरालिय (तेय) कम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जु-सेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

—उत्त० अ २६। सू ७३-७४। पृ० १०३६

केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर केवली जीव अपने अवशिष्ट आयुकर्म को भोगता हुआ जब अन्तर्मुहूर्त कालप्रमाण आयु शेष रह जाती है तब योगों का निरोध करते हुए *सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाती शुक्लध्यान ध्याते हुए पहले मनोयोग का निरोध करते हैं,* मनोयोग का निरोध करके वचनयोग का निरोध करते हैं, वचनयोग का निरोध करके काययोग का निरोध करते हैं, काययोग का निरोध करके श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हैं।

इसके बाद पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण करने में जितना समय लगे उतने समय में केवली अणगार समुच्छिन्न अक्रिय अनिवृत्ति शुक्लध्यान को ध्याते हुए वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र—इन चार कर्मों को एक साथ क्षय कर देते हैं।

फिर औदारिक, तैजस तथा कार्मण शरीर को सर्वथा त्यागकर ऋजुश्रेणी को प्राप्त होता है और अस्पृष्ट (अव्याहत) अविग्रह, एक समय ऊर्ध्वगति से साकारोपयोग सहित सिद्धस्थान पाकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

(ख) से णं पुव्वामेव सण्णिस्स पंचिंदियपज्जत्तयस्स जहण्णजोगिस्स (जोगस्स) हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोगं निरुंभइ, तओ (तदा) अणंतरं च णं बेइंदियपज्जत्तगस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखिज्जगुणपरिहीणं दोच्चं (विइयं) वइजोगं निरुंभइ, तओ अणंतरं च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तयस्स जहजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तच्चं (तईयं) कायजोगं निरुंभइ, से णं एएणं उवाएणं - पढमं मणजोगं निरुंभइ, मणजोगं निरुंभित्ता वइजोगं निरुंभइ, वइजोगं निरुंभित्ता कायजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभित्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोहं करेत्ता अजोगयं (त्तं) पाउणइ, अजोगयं पाउणित्ता ईसीहस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं असंखेज्जे कम्मखंधे (अणंते कम्मंसे) खवयइ, खवइत्ता वेयणिज्जऽऽउणामगोत्ते इच्चेए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ, जुगवं खवेत्ता ओरालियतेयाकम्मगाइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता उजु (ज्जु) सेढीपडिवण्णे (ण्णो) (उज्जुसेढीपडिवण्णे) अफुसमाणगईए (अफुसमाणगई) एगसमएणं अविग्गहेणं उड्ढं गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ०। (जाव अंतं करेइ) (तत्थ सिद्धो भवइ।)

—पण्ण० प ३६। सू २१७५। पृ० ५३३

—उव० सू ४३। पृ० ३७

समुद्घात समाप्त करके आसनादि वापस देने के बाद सयोगी केवली—पहले जघन्य योग वाले पर्याप्तसंज्ञी पंचेन्द्रिय के मनोयोग से नीचे असंख्यात गुणहीन मनोयोग का निरोध करता है; इसके बाद अविलम्ब—दूसरे जघन्य योग वाले पर्याप्त द्वीन्द्रिय के वचन-

योग से नीचे असंख्यातगुणहीन वचनयोग का निरोध करता है ; इसके बाद अविलम्ब तीसरे—ज़घन्य योग वाले अपर्याप्त पनकजीव के काययोग से नीचे असंख्यातगुणहीन काय-योग का निरोध करता है।

इस उपाय से अथवा इस प्रकार वह पहले, मनोयोग का निरोध करता है ; दूसरे, मनोयोग का निरोध करके वचनयोग का निरोध करता है ; तीसरे, वचनयोग का निरोध करके काययोग का निरोध करता है ; काययोग का निरोध करके योग का निरोध करता है ; योग का निरोध करके अयोगित्व को प्राप्त करता है ; अयोगित्व को प्राप्त करके थोड़े काल में पाँच ह्रस्वाक्षर को उच्चारण करने में जितना समय लगे उतने असंख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समय में शैलेशीत्व को प्राप्त होता है।

तथा पूर्व में जिनकी गुणश्रेणी रची गई है ऐसे कर्मों का अनुभव करता है। वह उस शैलेशी काल में असंख्यात गुणश्रेणी द्वारा असंख्यात (अनन्त) कर्मस्कंधों का क्षय करता है तथा कर्मस्कंधों का क्षय करके वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र—इन चार कर्मांशों—कर्मभेदों को एक साथ खपाता है।

चारों कर्मों को एक साथ खपाकर औदारिक, तैजस तथा कार्मण शरीरों को सर्व-प्रकार से त्याग देता है। शरीरों को त्याग करके ऋजुश्रेणी को प्राप्त करके अस्पृष्ट गति से एक समय की अविग्रहगति द्वारा ऊर्ध्व में जाकर साकारोपयोग सहित सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर, सर्व दुःखों का अन्त करके सिद्धपद को प्राप्त करता है।

टीका- योगनिरोधं कुर्वन् प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि, तच्च पर्याप्तमात्रसंज्ञिपञ्चे-न्द्रियस्य प्रथमसमये यावन्ति मनोद्रव्याणि यावन्मात्रश्च तद्व्यापारः तस्मादसंख्येय-गुणहीनं मनोयोगं प्रतिसमयं निरुन्धानोऽसंख्येयैः समयैः साकल्येन निरुणद्धि, उक्तं च —"पज्जत्तमेत्तसण्णिस्स जत्तियाइं जहण्णजोगिस्स। होंति मणोदव्वाइं तव्वावारो य जम्मत्तो ॥१॥ तदसंखगुणविहीणं समए समए निरुंभमाणो सो। मणसो सव्वनिरोहं करे असंखेज्जसमएहिं ॥२॥" एतदेवाह—'से णं भंते !' इत्यादि, सः—अधिकृतकेवली योगनिरोधं चिकीर्षन् पूर्वमेव संज्ञिनः पर्याप्तस्य जघन्ययोगिनः सत्कस्य मनोयोगस्येति गम्यतेऽधस्तात् असंख्येयगुणपरिहीनं समये समये निरुन्धानोऽसंख्येयैः समयैः साकल्येनेति गम्यते प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि, 'ततोऽनंतरं च णं' मित्यादि, तस्मात् मनोयोगनिरोधादनन्तरं च शब्दो वाक्यसमुच्चये णमिति वाक्यालङ्कारे द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्ययोगिनः सत्कस्य वाग्योगस्येति गम्यतेऽधस्तात् वाग्योगं असंख्येयगुणपरिहीनं समये समये निरुन्धानोऽसंख्येयैः समयैः साकल्येनेति गम्यते द्वितीयं वाग्योगं निरुणद्धि, आह च भाष्यकृत्—"पज्जत्तमित्तबिंदिय जहण्णवइजोग-

पज्जवा जे उ। तदसंखगुणविहीणं समये समये निरुंभंतो ॥१॥ सव्ववइजोगरोहं संखाईएहिं कुणइ समएहिं" 'ततोऽणंतरं च ण' मित्यादि, ततो वाग्योगादनन्तरं च णं प्राग्वत् सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य अपर्याप्तकस्य प्रथमसमयोत्पन्नस्येति भावार्थः जधन्ययोगिनः—सर्वाल्पवीर्यस्य पनकजीवस्य यः काययोगस्तस्याधस्तादसंख्येयगुणहीनं काययोगं समये समये निरुंधन् असंख्येयैः समयैः समस्तमपीति गम्यते तृतीयं काययोगं निरुणद्धि, तं च काययोगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति ध्यानमधिरोहति, तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्त्तिप्रदेशो भवति, तथा चाह भाष्यकृत्—"तत्तो य सुहुमपणगस्स पढमसमयोववण्णस्स ॥ जो किर जहण्णजोगी तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के। समएहिं रुंभमाणो देहतिभागं च मुंचंतो ॥१॥

रुंभइ स कायजोगं संखाईएहिं चेव समएहिं, काययोगनिरोधकालान्तरे चरमे अन्तर्मुहूर्त्ते वेदनीयादित्रयस्य प्रत्येकं स्थितिः सर्वापवर्त्तनया अपवर्त्त्यायोग्यवस्थासमाना क्रियते गुणश्रेणिक्रमविरचितप्रदेशा ×××।

अयोगतां च प्राप्य—अयोगताप्राप्त्यभिमुखो भूत्वा 'ईसिं' ति स्तोकं कालं शैलेशीं प्रतिपद्यते इति संबंधः;कियता कालेन विशिष्टां इत्यत आह—ह्रस्वपंचाक्षरोच्चारणाद्धया, किमुक्तं भवति ?—नातिद्रुतं नातिविलम्बितं किन्तु मध्यमेन प्रकारेण यावता कालेन ङञणनम-इत्येवं रूपाणि पंचाक्षराणि उच्चार्य्यन्ते तावता कालेन विशिष्टामिति, एतावान् कालः किं समयप्रमाण इति निरूपणार्थमाह—असंख्येयसामयिकां—असंख्येयसमयप्रमाणां, यच्चासंख्येयसमयप्रमाणं तच्च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं तत एवाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेति ख्यापनायाह—'आन्तर्मुहूर्त्तिकीं शैलेशी' मिति, शीलं—चारित्रं तच्चेह निश्चयतः सर्वसंवररूपं तद् ग्राह्यं, तस्यैव सर्वोत्तमत्वात्, तस्येशः शीलेशः तस्य याऽवस्था सा शैलेशी तां प्रतिपद्यते, तदानीं च ध्यानं ध्यायति व्यवच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति, उक्तं च—सीलं व समाहाणं निच्छयओ सव्वसंवरो सो य। तस्सेसो सीलेसो सेलेसी होइ तदवत्था ॥१॥ हस्सक्खराइं मज्झेणं जेण कालेण पंच भण्णंति। अच्छइ सेलेसिगतो तत्तियमित्तं तओ कालं ॥२॥तणुरोहारंभाओ झायइ सुहुमकिरियानियट्टिं सो। वोच्छिन्नकिरिमप्पडिवाई सेलेसिकालंमि॥३॥"न केवलं शैलेशीं प्रतिपद्यते पूर्वरचितगुणश्रेणीकं च वेदनीयादिकं कर्म अनुभवितुमिति शेषः। ×××। आह—'तीसे सेलेसिअद्धाए' इत्यादि, तस्यां शैलेश्यद्धायां वर्त्तमानोऽसंख्येयाभिर्गुणश्रेणीभिः पूर्वनिर्वर्त्तिताभिः प्रापिता ये कर्मत्रयस्य पृथक् प्रतिसमयमसंख्येयाः कर्मस्कंधास्तान् 'क्षपयन्' विपाकतः प्रदेशतो वा वेदनेन निर्जरयन् चरमे समये वेदनीयमायुर्नामगोत्रमित्येतान् चतुरः'कर्मांशान्' कर्मभेदान् युगपत् क्षपयति,युगपच्च क्षपयित्वा ततोऽनन्तर-

समये औदारिकतैजसकार्मणरूपाणि त्रीणि शरीराणि 'सव्वाहिं विप्पजहणाहिं' इति सर्वविप्रहानैः, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, विप्रजहाति, किमुक्तं भवति ?—यथा प्राक् देशतस्त्यक्तवान् तथा न त्यजति, किन्तु सर्वैः प्रकारैः परित्यजतीति, उक्तं च—"ओरालियाइं चयइ सव्वाहिं विप्पजहणाहिं जं भणियं। निस्सेस तहा न जहा देसच्चाएण सो पुव्विं ॥१॥"

साकारोपयुक्तः सन् सिद्ध्यति निष्ठितार्थो भवति, सर्वा हि लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्य उपजायते नानाकारोपयुक्तस्य, सिद्धिरप्येषा सर्वलब्ध्युत्तमा लब्धिरिति साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायते, आह च—"सव्वाओ लद्धीओ जं सागारोवओगलाभाओ। तेणेह सिद्धिलद्धी उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स ॥१॥" तदनन्तरं तु क्रमेणोपयोगप्रवृत्तिः। तदेवं यथा केवली सिद्धो भवति तथा प्रतिपादितमिदानीं सिद्धा यथास्वरूपास्तत्रावतिष्ठन्ते तथा प्रतिपादयति—"ते णं तत्थ सिद्धा भवंती' त्यादि, ते—अनन्तरोक्तक्रमसम्भूता णमिति वाक्यालंकारे तत्र लोकान्ते सिद्धा भवन्ति।

—पण्ण० प ३६। सू २१७५। टीका

सयोगी केवली योगनिरोध करता हुआ पहले मनोयोग का निरोध करता है और वह पर्याप्तसंज्ञी पंचेन्द्रिय के प्रथम समय में जितना मनोद्रव्य और जितना उसका व्यापार होता है उससे असंख्यात गुण न्यून मनोयोग का प्रति समय निरोध करता हुआ असंख्यात समय में सर्वथा मनोयोग का निरोध करता है। किसी आचार्य ने कहा है—"जघन्य योग वाले पर्याप्त मात्र संज्ञी के जितने मनोद्रव्य होते हैं और जितना उसका व्यापार होता है उससे असंख्यातगुण हीन मनोयोग का समय-समय में निरोध करता हुआ असंख्यात समय में मनोयोग का सर्वथा निरोध करता है।"

समुद्घात किया हुआ केवली जब योगनिरोध करने की इच्छा करता है तो पहले वह जघन्य योग वाले पर्याप्त संज्ञी के मनोयोग से नीचे असंख्यात गुणहीन मनोयोग का समय-समय पर निरोध करता हुआ असंख्यात समय में प्रथम मनोयोग का निरोध करता है।

तत्पश्चात् मनोयोग का निरोध करके जघन्य योगवाले पर्याप्त द्वीन्द्रिय के वचनयोग से नीचे असंख्यात गुणहीन वचनयोग को समय-समय पर निरोध करता हुआ असंख्यात समय में सर्वथा वचनयोग का निरोध करता है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने कहा है—"पर्याप्त मात्र द्वीन्द्रिय के जघन्य वचनयोग की जो पर्याय है उससे असंख्यात गुणहीन वचनयोग को समय-समय पर निरोध करता हुआ असंख्यात समय में सकल वचनयोग का निरोध करता है।"

वचनयोग का निरोध करने के बाद अविलम्ब प्रथम समय उत्पन्न हुए अपर्याप्त सूक्ष्म पनकजीव के जितना जघन्य योग वाला तथा सबसे अल्पवीर्य वाला सूक्ष्म पनकजीव का

जितना काययोग होता है उससे नीचे असंख्यात गुणहीन काययोग को समय-समय पर निरोध करता हुआ असंख्यात समय में सर्वथा काययोग का निरोध करता है।

वह काययोग का निरोध करता हुआ सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाती शुक्लध्यान को प्राप्त होता है और उस ध्यान के सामर्थ्य से मुख, उदरादि के खाली भाग को पूरण करता हुआ शरीर के तीसरे भाग समान आत्मप्रदेशों को संकुचित करता है और शरीर के दो तृतीयांश भाग में आत्मप्रदेश घनरूप हो जाते हैं। भाष्यकार ने भी कहा है—"तत्पश्चात् उत्पत्ति के प्रथम समय में सूक्ष्म पनकजीव के जो जघन्य काययोग होता है उससे असंख्यात गुणहीन काययोग को एक-एक समय में निरोध करता हुआ तथा शरीर के तृतीयांश का त्याग करता हुआ असंख्यात समय में काययोग का निरोध करता है।"

काययोग के निरोधकाल के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में वेदनीयादि तीन कर्मों में से प्रत्येक कर्म की स्थिति सर्व अपवर्तनाकरण के द्वारा घटा कर गुणश्रेणी क्रम द्वारा कर्मप्रदेशों की रचना अयोगी अवस्था के कालप्रमाण के समान करता है। XXX।

अयोगी प्राप्ति के अभिमुख होकर थोड़े काल में शैलेशीत्व को प्राप्त करता है। शैलेशीत्व कितने कालप्रमाण होता है ? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने कालप्रमाण शैलेशीत्व होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नातिशीघ्र तथा नातिविलम्ब लेकिन मध्यमगति से 'ङ ञ ण न म' इन पाँच ह्रस्वाक्षरों का उच्चारण करने में जितना समय लगे उतना शैलेशीत्व का कालप्रमाण है। और यह समय भी सूत्रकारानुसार असंख्यात समय प्रमाण है और इस असंख्यात समय के प्रमाण को जघन्य से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहना। सूत्रकार ने इसका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाने के लिए ही (**अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ**) अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शैलेशीत्व को प्राप्त करता है—ऐसा कहा है।

शील—चारित्र को यहाँ निश्चयनयमतानुसार सर्वसंवर रूप ग्रहण करना क्योंकि यह सबसे उत्तम है। ऐसे चारित्र का जो स्वामी हो, उसकी जो अवस्था हो वह शैलेशी अवस्था। उस अवस्था में व्यवच्छिन्न (समुच्छिन्न) अक्रिय अप्रतिपाति शुक्लध्यान प्राप्त होता है। किसी आचार्य ने कहा है—"शील—समाधि—निश्चय से सर्वसंवर रूप होती है और उसका ईश शीलेश। और उसकी अवस्था शैलेशी अवस्था।" शैलेशीत्व को प्राप्त हुआ जीव जितने काल में पाँच ह्रस्वाक्षरों को मध्यम प्रकार से उच्चारण किया जा सकता है उतने काल तक रहता है। काययोग के निरोध के प्रारम्भ से सूक्ष्मक्रिय अनिवृत्तिशुक्लध्यान होता है और शैलेशीकाल में व्यवच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है। केवल शैलेशत्व को नहीं प्राप्त करता है परन्तु पूर्व में रचित गुणश्रेणी वाले वेदनीयादि कर्मों का अनुभव—वेदन भी प्राप्त करता है। X XX X X।

उस शैलेशीकाल में वर्तता हुआ पूर्व में रचित असंख्यात गुणश्रेणी द्वारा वेदनीयादि तीन कर्मों के अलग-अलग प्रति समय असंख्यात कर्मस्कंधों को विपाक से तथा प्रदेश से वेदता हुआ, उनकी निर्जरा करता हुआ, शेष समय में वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र इन चार कर्मों का एक साथ क्षय करता है। चार कर्मों का एक साथ क्षय करके, तत्पश्चात् समय में औदारिक-तैजस-कार्मण—तीनों शरीरों को सर्व प्रकार से त्याग करता है। सर्व प्रकार से त्याग करने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आगे शरीर का (जन्म-मरण के चक्र में) त्याग किया जाता था वैसे नहीं किन्तु सर्व प्रकार से परिहार किया जाता है। किसी आचार्य ने कहा भी है—"औदारिकादि शरीर को सर्व प्रकार से त्याग द्वारा त्याग करता है अर्थात् निःशेष रूप से त्याग करता है लेकिन पूर्व में देशत्याग द्वारा त्याग करता था वैसे नहीं। ××××।

साकारोपयोग वाला होकर सिद्ध होता है, कृतार्थ होता है—सर्व प्रकार की लब्धि साकारोपयोग वाले को होती है लेकिन अनाकार उपयोग वाले को नहीं होती है। यह सिद्धि भी जो सर्व लब्धियों में उत्तम लब्धि है, साकारोपयोग वाले को ही होती है। किसी आचार्य ने कहा है—"जिस कारण से सर्व लब्धियाँ साकारोपयोग वाले को प्राप्त होती है उसी कारण से यह सिद्धि-लब्धि भी साकारोपयोग वाले को उत्पन्न होती है। इसके बाद क्रमशः उपयोग की प्रवृत्ति होती है—इस प्रकार केवली जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर सर्व दुःखों का अंत करते हैं।

(ग) (केवली) गत्वा च अगत्वा च समुद्घातं ×××। बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो बादरवाग्योगम्, ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्; तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्मवाग्योगं च; सूक्ष्मकाययोगं तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि, अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगान्तरस्य तदाऽसत्त्वात्। तद्ध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। [तस्मिंश्च ध्याने वर्तमानः स्थितिघातादिभिरायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि भवोपग्राहिककर्माणि तावदपवर्तयति यावत् सयोग्यवस्थाचरमसमयः। तस्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माणि अयोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि। नवरं येषां कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषां स्थितिं स्वरूपं प्रतीत्य समयोनां विधत्ते, कर्मत्वमात्ररूपतां त्वाश्रित्यायोग्यवस्थासमानाम्। तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमयेऽन्यतरद्वेदनीयमौदारिक-तैजस-कार्मणशरीरसंस्थानषट्क-प्रथमसंहनन- औदारिकाङ्गोपांग - वर्णादिचतुष्टया-ऽगुरुलघु - उपघात-पराघात-उच्छ्वास-शुभा-ऽशुभविहायोगति-प्रत्येकस्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-सुस्वर-दुःस्वर-निर्माणनाम्नामुदयोदीरणाव्यवच्छेदः।]

तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रं कालं शैलेशीकरणं प्रविशति। तत्र शैलेशः— मेरुः तस्येयं स्थिरता— साम्यावस्था शैलेशी, यद्वा सर्वसंवरः शीलं तस्य य ईशः शीलेश तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी, तस्यां करणं— पूर्वविरचितशैलेशीसमयसमानगुणश्रेणीकस्य वेदनीयनामगोत्राख्याऽघातिकर्मत्रितयस्याऽसंख्येयगुणया श्रेण्या आयुः शेषस्य तु यथास्वरूपस्थितया श्रेण्या निर्जरणं शैलेशीकरणम्। तत्रासौ प्रविष्टोऽयोगी स चासौ केवली च अयोगिकेवली। अयं च शैलेशीकरणचरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबंधनत्वाद् अष्टमृत्तिकालेपलिप्साऽधोनिमग्नक्रमाऽपनीतमृत्तिकालेपजलतलमर्यादोर्ध्वगामितथाविधाऽलाबुवद् ऊर्ध्वं लोकान्ते गच्छति। न परतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्पगत्युपष्टम्भिधर्मास्तिकायाऽभावात्। स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत एव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्च समयान्तरमसंस्पृशन् गच्छति।

—कर्म० भा २। सू २। टीका

—(परिवेष्टितांश) कर्म० भा ६। सू ६४। टीका

कर्म समीकरण करने के लिये समुद्घात करके या बिना किये ही केवली अंतक्रिया की शेषपर्याय वादर काययोग के द्वारा वादर मनोयोग के निरोध से प्रारंभ करते हैं। तत्पश्चात् वादर काययोग से वादर वाग्योग का निरोध करते हैं; तदनन्तर सूक्ष्म काययोग से वादर काययोग का निरोध, तव सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध, तव सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वाग्योग का निरोध करते हैं।

तत्पश्चात् सूक्ष्मक्रिय अनिवृत्ति शुक्लध्यान को स्वशक्ति से ध्याते हुए सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हैं। अन्य की शक्ति से योगान्तर का असद्भाव है अर्थात् अन्य की शक्ति से योग का निरोध नहीं होता है। उस ध्यान के सामर्थ्य से मुख, उदर आदि के विवर को पूर्ण करते हुए आत्मप्रदेश शरीर के एक तीसरे भाग प्रमाण संकुचित हो जाते हैं।

इस ध्यान में वर्तमान रहते हुए केवली आयु वाद सव भवोपग्राहिक कर्म की स्थिति, घातादि का तव तक अपवर्तन करता रहता है, जव तक सयोगी अवस्था का चरम समय नहीं आता है। उस सयोगी अवस्था के चरम समय में सव कर्मों की स्थिति अयोगी अवस्था की स्थिति के वरावर हो जाती है। लेकिन अयोगी अवस्था में जिन कर्मों के उदय का अभाव है उन कर्मों का स्वरूप जानने के लिए समय—काल का उल्लेख है चूँकि अयोगी अवस्था में अयोगी के कर्मत्व मात्र का काल एक समान है।

उस सयोगी अवस्था के चरम समय में दो वेदनीय कर्मों में से कोई एक, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर, षट् संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिकाङ्गोपांग, चारों वर्ण, अगुरुलघु,

उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ-अशुभ विहायगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, निर्माण नाम-कर्मों का उदय—उदीरणा से व्यवच्छेद हो जाता है।

तदनन्तर समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाति शुक्लध्यान को ध्याते हुए मध्यमगति से पाँच ह्रस्वाक्षर को उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने कालप्रमाण शैलेशीकरण में प्रवेश करते हैं।

गिरिराज—मेरु के समान स्थिरता वाली अवस्था—शैलेशी अवस्था अथवा सर्वसंवर रूप जिसका शील हो उसका ईश—शीलेश। उसकी यह योगनिरोधावस्था शैलेशीपन। उसका करण शैलेशीकरण।

(उस शैलेशीकरण में वर्तता हुआ) शैलेशी के समय के समान पूर्व में रचित वेदनीय, नाम, गोत्र—तीन कर्मों की श्रेणी का—असंख्यात गुणश्रेणी द्वारा—शेष आयुष्य कर्म का यथास्वरूप से—श्रेणी स्थिति से कर्मस्कंधों की निर्जरा—शैलेशीकरण। वहाँ पर प्रविष्ट अयोगी है तथा केवली है अतः उसे अयोगी केवली कहते हैं।

जिस प्रकार आठ मिट्टी के लेप से लिपायमान तुंबा पानी में नीचे जाकर डूब जाता है फिर क्रमशः उन लेपों के अलग हो जाते ही वह जल के ऊपर आ जाता है उसी प्रकार शैलेशीकरण के चरम समय के अनन्तर चारों कर्मों के बंधन से छुटकारा पाने पर वे ऊर्ध्व लोकांत में गमन करते हैं लेकिन नीचे नहीं आते हैं। जलकल्प में गति करने वाले मत्स्य की तरह धर्मास्तिकाय की सहायता से गति होती है परन्तु आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के बाहर गमन नहीं करते हैं।

ऋजुश्रेणी से ऊर्ध्व में जाकर उसने जितने आकाशप्रदेश को अवगाहित किया उतने ही आकाशप्रदेश को अवगाहित कर—विवक्षित समय से अनंतर समय स्पर्श करके रहता है।

'७३'११ जीव किससे अंतक्रिया करता है :—

'१ सम्यक्त्व पराक्रम से जीव अंतक्रिया करता है :—

इह खलु सम्मत्तपरक्कमे 'नाम अज्झयणे' समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तियाइत्ता रोयइत्ता फासइत्ता पालइत्ता तीरइत्ता किट्टइत्ता सोहइत्ता आराहइत्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

—उत्त० अ २६। सू १। पृ० १०२६

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने 'सम्यक्त्व पराक्रम' नाम का अध्ययन कहा है, जिसपर भलीभाँति श्रद्धाकर, प्रतीति कर, रुचि रखकर, जिसके विषय का स्पर्शकर, स्मृति में रखकर, समग्र रूप से हस्तगत कर, गुरु को पठित पाठ का निवेदन कर, गुरु के समीप उच्चारण की शुद्धि कर, सही अर्थ का बोध प्राप्तकर और अर्हत् की आज्ञा के अनुसार अनुपालन कर बहुत जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं और सर्व दुःखों का अंत करते हैं।

'२ व्यवदान से जीव अंतक्रिया करता है :—

वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वोदाणेणं अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्व दुक्खाणमंतं करेइ ?

—उत्त० अ २६ । सू २६ । पृ० १०३२

व्यवदान अर्थात् पूर्व संचित कर्मों का तप से विनाश करने से जीव अक्रिय होता है और अक्रिय होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त कर सर्व दुःखों का अन्त करता है।

'३ सर्वभावप्रत्याख्यान से जीव अंतक्रिया करता है :—

सव्भावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? सव्भावपच्चक्खाणेणं अणियट्टिं जणयइ। अणियट्टिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तंजहा— वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

—उत्त० अ २६ । सू ४२ । पृ० १०३३

सर्वभाव प्रत्याख्यान अर्थात् सर्व प्रवृत्तियों का परित्याग करने से जीव के अनिवृत्ति—शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद की प्राप्ति होती है। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अणगार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघाति कर्मों का क्षय कर देता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्व दुःखो का अंत करता है।

'४ कायसमाधारणता से जीव अंतक्रिया करता है :—

कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहेत्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, अहक्खायचरित्तं विसोहित्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

—उत्त० अ २६ । सू ५६ । पृ० १०३४

कायसमाधारणता से जीव चारित्र-पर्यायों की विशुद्धि करता है; चारित्रपर्यायों को विशुद्ध करके यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि करता है; यथाख्यातचारित्र के विशोधन से

चारों अघाति कर्मों का क्षय करता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्व दुःखों का अन्त करता है।

·५ चारित्रसंपन्नता से जीव अंतक्रिया करता है :—

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ, सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

—उत्त० अ २९। सू ६२। पृ० १०३५

चारित्रसंपन्नता से जीव शैलेशी भाव को प्राप्त करता है; शैलेशी भाव को प्राप्त हुआ अणगार चारों अघाति कर्मों का क्षय करता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त करता है तथा सर्व दुःखों का अन्त करता है।

·६ यथाख्यात चारित्र से अंतक्रिया :—

अहक्खाए—पुच्छा। गोयमा ! एवं अहक्खायसंजए वि जाव—अहन्नमणुक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा, अत्थेगइए सिज्झइ, जाव—अंतं करेइ।

—भग० श २५। उ ७। प्र २९। पृ० ८८८

यथाख्यात संयती कितनेक अनुत्तरविमान में उत्पन्न होते हैं, कितनेक सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अंत करते हैं।

·७ केवली-आराधना से अंतक्रिया :—

केवलिआराहणा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—अंतकिरिया चेव, कप्पविमाणोववत्तिया चेव। —ठाण० स्था० २। उ ४। सू १०७। पृ० २०१

केवली आराधना अर्थात् केवली-प्ररूपित धर्म की आराधना। मतिज्ञानी-श्रुतज्ञानी-अवधिज्ञानी-मनःपर्यवज्ञानी-केवलज्ञानी संबंधी जो धर्मानुष्ठान क्रिया—केवलिकी क्रिया और इस प्रकार की आराधना को केवलिकी आराधना कहा जाता है।

फल की अपेक्षा से केवलिकी आराधना दो प्रकार की है—यथा—(१) अंतक्रिया केवलिकी आराधना—भव का अंत करने वाली क्रिया और इस प्रकार की आराधना को अंतक्रिया केवलिकी आराधना कहा जाता है। (२) कल्पविमानोपपत्तिका आराधना—जिस आराधना के द्वारा कल्प-विमानों में उपपात होता है वह कल्पविमानोपपत्तिका आराधना है।

टीकाकार का मंतव्य है कि ज्ञानादि की आराधना श्रुतकेवली आदि को होती है—कल्पविमानोपपत्तिका फल वाली आराधना अनंतर फल रूप कही गई है। वस्तुवृत्त्या परंपरा फल भवान्तर क्रिया के अनुसार होता है।

·८ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना से अन्तक्रिया :—

उक्कोसियं णं भंते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ ? गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ, अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ, अत्थेगइए कप्पोवएसु वा कप्पातीयएसु वा उववज्जइ ; उक्कोसियं णं भंते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं० एवं चेव ; उक्कोसियं णं भंते ! चरित्ताराहणं आराहेत्ता० एवं चेव, नवरं अत्थेगइए कप्पातीयएसु उववज्जइ।

मज्झिमियं णं भंते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ ? गोयमा ! अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ, तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ ; मज्झिमियं णं भंते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता० एवं चेव ; एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणं पि।

जहन्नियन्नं भंते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ ? गोयमा ! अत्थेगइए तच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ, सत्त-(अ) ट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ ; एवं दंसणाराहणं पि ; एवं चरित्ताराहणं पि।

—भग० श० ८। उ १०। प्र० ८ से १३। पृ० ५७१

उत्कृष्ट ज्ञानाराधना करने वाला कोई एक जीव उसी भव में अन्तक्रिया करता है, कोई एक जीव दो भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है, कोई एक जीव कल्पोपपन्न अथवा कल्पातीत देवलोक में उत्पन्न होता है।

उत्कृष्ट दर्शनाराधना करनेवाला कोई एक जीव उसी भव में अन्तक्रिया करता है, कोई एक जीव दो भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है, कोई एक जीव कल्पोपपन्न अथवा कल्पातीत देवलोक में उत्पन्न होता है।

उत्कृष्ट चारित्राराधना करनेवाला कोई एक जीव उसी भव में अन्तक्रिया करता है, कोई एक जीव दो भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है, कोई एक जीव कल्पातीत देवलोक में उत्पन्न होता है।

मध्यम ज्ञानाराधना करने वाला कोई एक जीव दो भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है, लेकिन कोई भी जीव तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करता है।

मध्यम दर्शनाराधना करने वाला कोई एक जीव दो भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है, लेकिन कोई भी जीव तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करता है।

मध्यम चारित्राराधना करने वाला कोई एक जीव दो भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है लेकिन कोई भी जीव तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करता है।

जघन्य ज्ञानाराधना करने वाला कोई एक जीव तीन भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है लेकिन कोई भी जीव सात-आठ भव का अतिक्रमण नहीं करता है।

जघन्य दर्शनाराधना करनेवाला कोई एक जीव तीन भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है लेकिन कोई भी जीव सात-आठ भव का अतिक्रमण नहीं करता है।

जघन्य चारित्राराधना करनेवाला कोई एक जीव तीन भव ग्रहण करके अन्तक्रिया करता है, लेकिन कोई भी जीव सात-आठ भव का अतिक्रमण नहीं करता है।

'७३'१२ कौन जीव अंतक्रिया नहीं करते हैं :—

'७३'१२'१ हिंसा की प्ररूपणा करने वाले जीव :—

तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति— सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिघेयव्वा परितावेयव्वा किलामेयव्वा उद्दवेयव्वा। ते आगंतुच्छेयाए, ते आगंतु-भेयाए जाव ते आगंतु-जाइ-जरा मरण-जोणि-जम्मण - संसार - पुणब्भवगब्भवास - भवपवंच-कलंकली भागिणो भविस्संति। ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अंदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिइमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जा पुत्तधूय-सुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पिय-संवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्ख-दोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति। अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति। ते णो सिज्झिस्संति णो बुज्झिस्संति जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति।

—सूय० श्रु २। अ २। सू २६। पृ० १५८-५९

वे श्रमण-ब्राह्मण जो ऐसा कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों का हनन करना चाहिए, दण्ड से ताड़ना करनी चाहिए, दासवृत्ति करानी चाहिए, शारीरिक-मानसिक पीड़ा उपजानी चाहिए, क्लेश और उद्वेग पहुँचाना चाहिए। भविष्यत्-काल में वे सब जीव छेदन-भेदन को प्राप्त होंगे। जाति, जरा, मरण, योनि, जन्म— संसार में बार-बार जन्म लेकर गर्भ में आकर भव-प्रपंच में महान् पीड़ा पायेंगे। वे बहुत कष्ट, मुण्डन, तर्जन, ताड़न, बन्धन, घुलन आदि तथा माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र-पुत्री-पुत्रवधू के मरण का दुःख सहन करेंगे। दरिद्रता, दुर्भाग्य, अप्रियप्राप्ति, प्रियवियोग आदि बहुत दुःख और मानसिक पीड़ा को सहेंगे, वे इस अनादि-अनन्त चातुर्गतिक संसार रूपी अटवी में दीर्घकाल पर्यन्त बार-बार परिभ्रमण करेंगे।

ऐसा कहनेवाले श्रमण-ब्राह्मण सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-परिनिवृत्त नहीं होंगे यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करेंगे अर्थात् अन्तक्रिया नहीं करेंगे।

·७३·१२·२ प्रथम बारह क्रियास्थान में वर्तमान जीव अंतक्रिया नहीं करता :—

इच्चेहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा नो सिज्झिसु, नो बुज्झिसु, नो मुच्चिसु, नो परिणिव्वाइंसु—जाव— नो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा नो करेंति वा नो करिस्संति वा। —सूय० श्रु २। अ २। सू २७। पृ० १५६

इन बारह अर्थदण्ड यावत् लोभप्रत्ययिक क्रियास्थानों में वर्तमान जीव अतीत-काल में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-परिनिवृत्त नहीं हुए हैं यावत् सर्व दुखों का अन्त नहीं किये हैं। न वर्तमानकाल में करते हैं न भविष्यत्काल में करेंगे।

·७३·१२·३ असंवृत अनगार अंतक्रिया नहीं करता है :—

असंवुडे णं भंते! अणगारे किं सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्व-दुक्खाणं अंतं करेइ? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं जाव णो अंतं करेइ?

गोयमा! असंवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधण-बद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ हस्सकालठिइयाओ दीहकालठिइयाओ पकरेइ। मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गओ बहुप्पएसग्गओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय णो बंधइ अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! असंवुडे अणगारे णो सिज्झइ जाव (णो बुज्झइ, णो मुच्चइ, णो परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणं) णो अंतं करेइ।

—भग० श १। उ १। प्र० ५६-५७। पृ० ३८६-६०

असंवृत अणगार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं करता है, सर्व दुःखों का अन्त नहीं करता है क्योंकि असंवृत अणगार आयुकर्म को छोड़कर शिथिल बंधन से बाँधी हुई सात कर्मप्रकृतियों को गाढ़ रूप से बाँधना प्रारम्भ करता है; अल्प-कालीन स्थितिवाली कर्मप्रकृतियों को दीर्घकालीन स्थिति वाली करता है; मंदानुभाव वाली को तीव्रानुभाव वाली करता है; अल्प प्रदेश वाली को बहु प्रदेश वाली करता है; आयुष्य कर्म को कदाचित् बाँधता है और कदाचित् नहीं बाँधता है; असातावेदनीय कर्म का बारम्बार उपार्जन करता है; अनादि-अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चातुर्गतिक संसार रूपी अरण्य में बार-बार पर्यटन करता है। इस कारण से असंवृत अणगार सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं होता है यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करता है।

'७३'१२'४ छद्‌मस्थ—अवधिज्ञानी—परमावधिज्ञानी अंतक्रिया नहीं करते हैं :—

छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से अतीतं, अणंतं, सासयं समयं केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणमाईहिं सिज्झिसु, बुज्झिंसु जाव—सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—तं चेव जाव—अंतं करेंसु ?

गोयमा ! जे केइ अंतकरा वा, अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा, सव्वे ते उप्पण्णणाणदंसणधरा, अरहा, जिणा, केवली भवित्ता, तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा ; से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव—सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु ; पडुप्पन्ने वि एवं चेव, नवरं—'सिज्झंति' भाणियव्वं, अणागये वि एवं चेव, नवरं—'सिज्झिस्संति' भाणियव्वं ।

जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि ; तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा ।

—भग० श १ । उ ४ । प्र० १५६-६० । पृ० ३६८

—भग० श ५ । उ ५ । प्र १ । पृ० ४७६

—भग० श ७ । उ ८ । प्र १ । पृ० ५२२

बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में छद्‌मस्थ मनुष्य केवल संयम से, केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से और केवल प्रवचनमाता से सिद्ध नहीं हुआ है, बुद्ध नहीं हुआ है यावत् सर्व दुःखों का अन्त करनेवाला नहीं हुआ है ।

क्योंकि जो कोई जीव कर्मों का अन्त करने वाले और चरमशरीरी हुए हैं वे सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी, अरिहन्त, जिन, केवली होकर फिर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं और निर्वाण को प्राप्त हुए हैं तथा समस्त दुःखों का अन्त किये हैं, करते हैं, करेंगे ।

वैसे केवली अतीतकाल में सिद्ध आदि हुए हैं, वर्तमान काल में सिद्ध आदि होते हैं, भविष्यत् काल में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होंगे यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे ।

छद्‌मस्थ मनुष्य की तरह अवधिज्ञानी-परमावधिज्ञानी भी अतीतकाल में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हुए हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं किये हैं, वर्तमान में नहीं करते हैं तथा भविष्यत् काल में नहीं करेंगे ।

टीका—इह छद्‌मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयः, न पुनरकेवलिमात्रम् ।

उपर्युक्त पाठ में 'छद्‌मस्थ' शब्द से अवधिज्ञान से रहित जीव को ग्रहण करना चाहिए । अकेवली मात्र को छद्‌मस्थ नहीं समझना चाहिये ।

·७३·१२·५ एजनादि से सक्रिय जीव अन्तक्रिया नहीं करता है :—

जीवे णं भंते ! सया समियं एयइ, वेयइ, चलइ, फंदइ, घट्टइ, खुब्भइ, उदीरइ, तं तं भावं परिणमइ ? हंता, मंडियपुत्ता ! जीवे णं सया समियं एयइ—जाव—तं तं भावं परिणमइ।

जावं च णं भंते ! से जीवे सया समियं—जाव—परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ ? णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समियं—जाव—अंते अंतकिरिया ण भवइ ?

मंडियपुत्ता ! जावं च णं से जीवे सया समियं—जाव—परिणमइ, तावं च णं से जीवे आरंभइ, सारंभइ, समारंभइ ; आरंभे वट्टइ, सारंभे वट्टइ, समारंभे वट्टइ ; आरंभमाणे, सारंभमाणे समारंभमाणे ; आरंभे वट्टमाणे, सारंभे वट्टमाणे, समारंभे वट्टमाणे बहूणं पाणाणं, भूयाणं, जीवाणं, सत्ताणं दुक्खवणयाए, सोयावणयाए, जूरावणयाए, तिप्पावणयाए, पिट्टावणयाए, परियावणयाए वट्टइ, से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता ! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समियं एयइ—जाव—परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया ण भवइ।

—भग० श ३ । उ ३ । प्र १०-१२ । पृ० ४५६-५७

जो जीव सदा समपूर्वक कम्पन करता है, विविध रूप से कम्पन करता है, चलता है, स्पंदन करता है, थोड़ा चलता है, क्षुब्ध होता है ; प्रबलतापूर्वक प्रेरण करता है तथा उन-उन भावों में परिणमन करता है वह जीव अन्तक्रिया नहीं करता है क्योंकि जो जीव एजनादि क्रिया करता है, उन-उन भावों में परिणमन करता है वह जीव आरम्भ-सारम्भ-समारम्भ करता है ; आरम्भ-सारम्भ समारम्भ में वर्त्तता है। आरम्भमाण, सारम्भमाण, समारम्भमाण है ; आरम्भ-सारंभ-समारंभ में वर्तमान है वह जीव बहुत प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों को दुःख-शोक यावत् परिताप—त्रास पहुँचाता है अतः उस (सक्रिय) जीव की अन्त में अन्तक्रिया नहीं होती है।

·७३·१२·६ केवली समुद्घात करता हुआ जीव अन्तक्रिया नहीं करता है—

से णं भंते ! तहा समुग्घायगए सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे !

से णं तओ पडिनियत्तइ [तओ] पडिनियत्तइत्ता [इहमागच्छइ आगच्छइत्ता] तओ पच्छा मणजोगं पि जुंजइ, वइजोगं पि जुंजइ, कायजोगं पि जुंजइ। मणजोगं जुंजमाणे किं सच्चमणजोगं जुंजइ, मोसमणजोगं जुंजइ, सच्चामोसमणजोगं जुंजइ,

असच्चामोसमणजोगं जुंजइ ? गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजइ, नो मोसमणजोगं जुंजइ, नो सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं [पि] जुंजइ।

वइजोगं जुंजमाणे किं सच्चवइजोगं जुंजइ, मोसवइजोगं जुंजइ, [किं] सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं जुंजइ ? गोयमा ! सच्चवइजोगं जुंजइ, नो मोसवइजोगं जुंजइ, नो सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं पि जुंजइ।

कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा गच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा उल्लंघेज्ज वा पलंघेज्ज वा [उक्खेवणं वा अवक्खेवणं वा तिरियक्खेवणं वा करेज्जा] पाडिहारियं पीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जा।

से णं तहा सजोगी सिज्झइ जाव अंतं करेइ ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

—पण्ण० प ३६। सू २१७४-७५। पृ० ५३२-३३

केवली समुद्घात को करता हुआ या प्राप्त होता हुआ जीव उस अवस्था में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं होता है तथा सर्व दुःखों का अन्त नहीं करता है।

समुद्घात से निवृत्त होने के वाद वे केवली मन-वचन-काययोग का व्यापार करते हैं, यदि वे मनोयोग का व्यापार करते हैं तो वे सत्यमनोयोग तथा व्यवहार मनोयोग का व्यापार करते हैं। यदि वे वचनयोग का व्यापार करते हैं तो वे सत्यवचनयोग तथा व्यवहार वचनयोग का व्यापार करते हैं। काययोग का व्यापार करते हुए वे आते हैं, जाते हैं, खड़े होते हैं, आलोटन करते हैं, उल्लंघन करते हैं, प्रलंघन करते हैं, पास में रहे हुए प्रातिहारिक-पीठ-आसन-फलक, पाट्टिया, शय्या तथा संथारा वापस देते हैं। अतः यह कहा जाता है कि समुद्घात के वाद के उक्त सयोगी अवस्था में जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं होता है यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करता है।

'७३'१३ विभिन्न जीव और अन्तक्रिया :—

'७३'१३'१ क्षत्रिय और अन्तक्रिया :—

उग्गा भोगा राइन्ना इक्खागा नाया कोरव्वा एए णं अस्सिं धम्मे ओगाहंति, अस्सिं धम्मे ओगाहित्ता अट्ठविहं कम्मरयमलं पवाहेंति, अट्ठविहकम्मरयमलं पवाहित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, जाव—अंतं करेंति ?

हंता, गोयमा ! जे इमे उग्गा भोगा तं चेव जाव—अंतं करेंति, अत्थेगइया अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

—भग० श २०। उ ८। प्र १५। पृ० ८०५

क्या उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात तथा कौरव कुल के क्षत्रिय इस निर्ग्रन्थ धर्म में प्रवेश करते हैं तथा प्रवेश करके आठ प्रकार के रजोमल को धूनकर तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

हाँ, उन उग्र, भोग आदि कुल के क्षत्रिय में से कितने ही सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं तथा कितने ही कोई एक देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होते हैं।

'७३'१३'२ श्रमणोपासक और अन्तक्रिया :—

समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासु-एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम साइमेणं पडिलाभेमाणे किं लब्भइ ? गोयमा ! समणोवासए णं तहारूवं समणं वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएइ, समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलभइ।

समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा जाव पडिलाभेमाणे किं चयइ ? गोयमा ! जीवियं चयइ, दुच्चयं चयइ, दुक्करं करेइ, दुल्लहं लहइ, बोहिं बुज्झइ, तओ पच्छा सिज्झइ, जाव अंतं करेइ।

—भग० श ७ । उ १ । प्र० ८, ६ । पृ० ५०६

तथारूप श्रमण साधु को प्राशुक-एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार देता हुआ श्रमणोपासक—उन श्रमण साधु को समाधि उत्पन्न करता है तो स्वयमेव भी समाधि को प्राप्त होता है तथा जीवितव्य अर्थात् जीवन-निर्वाह के कारणभूत वस्तुओं का त्याग करता है तथा कठिनता से त्यक्त होने वाली वस्तुओं का त्याग करता है, दुर्लभ वस्तु को प्राप्त करता है—बोधि (सम्यक्त्व) को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

'७३'१३'३ अणगार और अन्तक्रिया :—

(क) ते (से जहानामए अणगारा भगवंतो) णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति पाउणंति बहुबहु आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति, पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, अणसणाए छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ (थेरकप्पभावे जिणकप्पभावे) नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे पर-घर-पवेसे लद्धावलद्धे माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गाम-कंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सास-

निस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवल-वर-नाण-दंसण समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति। —सूय० श्रु २। अ २। सू २३। पृ० १५६

इस प्रकार साधुचर्य्या में विहार करते हुए वे अनगार भिक्षु बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय को पालन कर, रोगादि के उत्पन्न होने या न होने पर बहु प्रकार के अशनादि का परित्याग करके अनशन स्वीकार करते हैं तथा बहुत काल तक अनशन का पालन करते हैं। इसके बाद जिस उद्देश्य के लिए नग्न हुए, मुण्डित हुए, स्नान-दन्तमंजन आदि शरीर-संस्कार को छोड़ा, छत्र तथा पादुका का त्याग किया, भूमि, काठ, शिला पर शयन किया, केशलुंचन किया, ब्रह्मचर्य का पालन किया, पर-घर से भिक्षा मांगी, भिक्षा मिलने, न मिलने पर समता धारी, मान-अपमान-अवहेलना-निन्दा-अवज्ञा-भर्त्सना-तर्जना तथा ताड़ना सही, ग्रामीण लोगों के ऊँच-नीच कंटक सम वचन सहे, बावीस परीषह के उपसर्ग आदि सहे तथा सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की आराधना की तथा उस मार्ग की आराधना करते हुए वे अणगार भिक्षु उस उद्देश्य की प्राप्ति स्वरूप अन्तिम श्वास-निःश्वास में अनन्त, अनुत्तर, व्याघात रहित, निरावरण परिपूर्ण श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करते हैं और फिर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और परिनिवृत्त होकर सभी दुःखों का अन्त करते हैं।

(ख) एवामेव मंडियपुत्ता! अत्तत्तासंवुडस्स अणगारस्स ईरियासमियस्स—जाव—गुत्तबंभयारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स, चिट्ठमाणस्स, णिसीयमाणस्स, तुयट्ट-माणस्स, आउत्तं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणं गेण्हमाणस्स, णिक्खिवमाणस्स, जाव—चक्खुपम्हणिवायमवि वेमाया सुहुमा ईरियावहिया किरिया कज्जइ, सा पढम-समयबद्धपुट्ठा, बिइयसमयवेइया, तइयसमयणिज्जरिया, सा बद्धा, पुट्ठा, उदीरिया, वेइया, णिज्जिण्णा, सेयकाले अकम्मं वा वि भवइ। से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समियं णो एयइ, जाव—अंते अंतकिरिया भवइ।

—भग० श ३। उ ३। प्र १५ का अंश। पृ० ४५७-५८

जो आत्मार्थी संवृत अणगार ईर्या-भाषा-एषणा-आदानभंडनिक्षेपण-उच्चार-प्रस्रवण आदि समितियों से समित, मनोगुप्ति आदि गुप्तियों से गुप्त, ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक गमन करने वाले, सावधानी पूर्वक ठहरने वाले, सावधानतापूर्वक सोने वाले, सावधानतापूर्वक वस्त्र-पात्र-कम्बल-रजोहरण आदि को ग्रहण करने वाले या रखने वाले हैं उनको यावत् अक्षिनिमेष (आँख की पलक टमकारने) मात्र समय में विमात्रापूर्वक विविध मात्रा वाली—योग मात्र से ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है।

यह क्रिया प्रथम समय में बद्ध-स्पृष्ट होती है, द्वितीय समय में वेदित होती है और तृतीय समय में निर्ज्जीर्ण हो जाती है। वह बद्ध-स्पृष्ट-उदीरित-वेदित-निर्ज्जरित क्रिया उसी तीसरे समय में अकर्म हो जाती है।

इस कारण से ऐसा कहा गया है कि जब वह जीव सदा समपूर्वक नहीं कम्पता है यावत् उन-उन भावों में नहीं परिणमता है तब मरण के समय वह जीव अन्तक्रिया करता है अर्थात् उसकी सकल कर्म क्षय रूप अन्तक्रिया होती है। —(देखो क्रमांक '३७'४ तथा '६७'३)

(ग) से णूणं भंते ! कंखपदोसे णं खीणे समणे णिग्गंथे अंतकरे भवइ ? अंतिमसरीरिए वा ? बहुमोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता, अह पच्छा संवुडे कालं करेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, जाव—अंतं करेइ ?

हंता, गोयमा ! कंखपदोसे खीणे, जाव—अंतं करेइ।

—भग० श १। उ ६। प्र २६४। पृ० ४११

क्या कांक्षा प्रदोष के क्षीण होनेपर श्रमण निर्ग्रंथ अन्तकर और अन्तिमशरीरी होता है अथवा पूर्वावस्था में बहु मोह वाला होकर विहार करे फिर संवर वाला होकर यदि काल करे—तत्पश्चात् क्या सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

हाँ। श्रमण निर्ग्रंथ कंक्षा प्रदोप के नष्ट हो जाने पर यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

'७३'१३'४ लवसप्तम देव का जीव और अंतक्रिया :—

अत्थि णं भंते ! लवसत्तमा देवा लवसत्तमा देवा ? हंता, अत्थि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'लवसत्तमा देवा' लवसत्तमा देवा ? गोयमा ! से जहानामए—केइ पुरिसे तरुणे जाव – निउणसिप्पोवगए सालीण वा, वीहीण वा, गोधूमाण वा, जवाण वा, जवजवाण वा, पक्काणं, परियाताणं, हरियाणं, हरियकंडाणं तिक्खेणं णवपज्जणएणं असिअएणं पडिसाहरिया पडिसाहरिया पडिसंखिविया पडिसंखिविया जाव—इणामेव इणामेव त्ति कट्टु सत्तलवए लुएज्जा, जइ णं गोयमा ! तेसिं देवाणं एवइयं कालं आउए पहुप्पए तो णं ते देवा तेणं चेव भवग्गहणेणं सिज्झंता जाव अंतं करेंता, से तेणट्ठेणं जाव लवसत्तमा देवा लवसत्तमा देवा।

—भग० श० १४। उ ७। प्र ११। पृ० ७०४

लवसप्तम अनुत्तरोपपातिक—सर्वार्थसिद्धि देव के पूर्व मनुष्यभव में (जहाँ से वह मरण पाकर देवभव में उत्पन्न हुआ है) यदि सात लव कालप्रमाण आयुष्य अधिक होता तो वह लवसप्तमदेव का जीव उसी भव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर यावत् अंतक्रिया करता। अन्त-

क्रिया करने में केवल सात लवकालप्रमाण आयुष्य की कमी रह गई थी ; इसलिए देवलोक में उत्पन्न होना पड़ा अतः उन देवों को लवरुप्तमदेव कहा जाता है।

सात लवप्रमाण काल लगभग इस प्रकार होता है :—कोई तरुण पुरुष जो यावत शिल्पकला में निपुण हो वह पके हुए, झुके हुए, पीले पड़े हुए, पीली नालवाले शालि, व्रीहि, गेहूँ, जव या जवाजव को एकत्रित करके, मुष्टि में पकड़कर शीघ्रतापूर्वक तीक्ष्ण नई धार वाले दाँती—हँसिया से काटे तो उस काटने की क्रिया में सात लवप्रमाण काल लगता है।

'७३'१३'५ दक्षिणार्ध भारतवासी मनुष्य और अन्तक्रिया :—

दाहिणड्ढभरहे णं भंते ! वासे मणुयाणं केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते ? गोयमा ! ते णं मणुया बहुसंघयणा बहुसंठाणा बहुउच्चत्तपज्जवा बहुआउपज्जवा बहूइं वासाइं आउं पालेंति पालित्ता अप्पेगइया णिरयगामी अप्पेगइया तिरियगामी अप्पेगइया मणुयगामी अप्पेगइया देवगामी अप्पेगइया सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

—जम्बु० । वक्ष १ । सू ११ । पृ० ५३७

दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र के कितनेक मनुष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

'७३'१३'६ उत्तरार्ध भारतवासी मनुष्य और अन्तक्रिया :—

उत्तरड्ढभरहे णं भंते ! वासे मणुयाणं केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते ? गोयमा ! तेणं मणुया बहुसंघयणा जाव अप्पेगइया सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

—जम्बु० । वक्ष १ । सू १६ । पृ० ५४२

उत्तरार्ध भरतक्षेत्र के कितनेक मनुष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

'७३'१३'७ भरतक्षेत्र की विद्याधर-श्रेणी के मनुष्य और अन्तक्रिया :—

विज्जाहरसेढी णं भंते ! मणुयाणं केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते ? गोयमा ! ते णं मणुया बहुसंघयणा बहुसंठाणा बहुउच्चत्तपज्जवा बहुआउपज्जवा जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

—जम्बु० । वक्ष १ । सू १२ । पृ० ५३६

विद्याधर श्रेणी के कितनेक मनुष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

'७३'१३'८ सुषम-दुःषम काल में भारतवासी मनुष्य और अंतक्रिया :—

तीसे णं भंते! समाए पच्छिमे तिभागे भरहे वासे मणुयाणं केरिसए आयारभावपडोयारे होत्था? गोयमा! तेसिं मणुयाणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूणि धणुसयाणि उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं संखिज्जाणि वासाणि उक्कोसेणं असंखिज्जाणि वासाणि आउयं पालेंति पालित्ता अप्पेगइया णिरयगामी अप्पेगइया तिरियगामी अप्पेगइया मणुस्सगामी अप्पेगइया देवगामी अप्पेगइया सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

—जम्बु० । वक्ष २ । सू २७ । पृ० ५५०

सुषम-दुःषम काल के तीसरे भाग में [अवसर्पिणी काल के तीसरे आरा के तीसरे भाग में] कितनेक मनुष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

'७३'१३'९ दुषम- सुषम काल में भारतवासी मनुष्य और अन्तक्रिया :—

तीसे णं भंते! समाए भरहे वासे मणुयाणं केरिसए आयारभावपडोयारे पन्नत्ते? गोयमा! तेसिं मणुयाणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूइं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउयं पालेंति पालइत्ता अप्पेगइया णिरयगामी जाव देवगामी अप्पेगइया सिज्झंति बुज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति

—जम्बु । वक्ष २ । सू ३४ । पृ० ५५६

दुःषम-सुषम काल में कितनेक भारतवासी मनुष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

'७३'१३'१० दुःषम काल में भारतवासी मनुष्य और अन्तक्रिया :—

(क) तेसिं मणुयाणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहुईओ रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगं वाससयं आउयं पालेंति पालइत्ता अप्पेगइया णिरयगामी जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

—जम्बु० । वक्ष २ । सू ३५ । पृ० ५५७

कितनेक मनुष्य [जो दुःषम-सुषम काल में जन्मे हुए हों] दुःषम काल में भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते है यावत सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

(ख) [पुलाए णं भंते] जइ ओसप्पिणिकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले होज्जा १, सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदूसमाकाले होज्जा ३, दूसमसुसमाकाले होज्जा ४, दूसमाकाले होज्जा ५, दूसमदूसमाकाले होज्जा ६? गोयमा! जमणं पडुच्च णो सुसमसुसमाकाले होज्जा १, णो सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदूसमाकाले

वा होज्जा ३, दूसमसुसमाकाले वा होज्जा ४, णो दूसमाकाले होज्जा ५, णो दूसम-दूसमाकाले होज्जा ६, संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमाकाले होज्जा, णो सुसमाकाले होज्जा, सुसमदूसमाकाले वा होज्जा, दूसमसुसमाकाले वा होज्जा, दूसमाकाले वा होज्जा, णो दूसमदूसमाकाले होज्जा।

—भग० । श २५ । उ ६ । प्र ५२ । पृ० ८७८

(ग) नियंठो सिणाओ य जहा पुलाओ।

—भग० । श २५ । उ ६ । प्र० ५८ । पृ० ८७६

(घ) सुहुमसंपराइओ जहा नियंठो। एवं अहक्खाओ वि।

—भग० । श २५ । उ ७ । प्र २७ । पृ० ८८८

(च) अहक्खाए पुच्छा। गोयमा ! एवं अहक्खायसंजए वि जाव—अजहन्न-मणुक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा ; अत्थेगइए सिज्झइ, जाव—अंतं करेइ।

— भग० श २५ । उ ७ । प्र २६ । पृ० ८८८

दुःषमकाल में अंतक्रिया करने वाले मनुष्य दुःषम-सुषम काल में जन्मे हुए होते हैं क्योंकि दुःषमकाल में जन्मे हुए मनुष्यों को यथाख्यातचारित्र नहीं आता है। किन्तु दुःषमसुषमकाल में जन्मे हुए मनुष्य उस काल में या दुःषमकाल में प्रव्रजित होकर यथाख्यात-चारित्र प्राप्त कर सकते हैं। यथाख्यातचारित्र को प्राप्त किये बिना कोई भी जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं होता है यावत् सर्व दुःखों का अंत नहीं करता है। अतः दुःषमकाल में जन्मे हुए मनुष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अंत नहीं कर सकते हैं।

'७३'१३'११ आचार्य उपाध्याय कितने भव में अन्तक्रिया करते हैं :—

आयरिय-उवज्झाए णं भंते ! सविसयंसि गणं अगिलाए संगिण्हमाणे, अगिलाए उवगिण्हमाणे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ ? गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ, तच्चं पुण भवग्गहणं णाइक्कमइ। —भग० श ५ । उ ६ । प्र १७ । पृ० ४८२

टीका—द्वितीयः, तृतीयश्च भवो मनुष्यभवो देवभवाऽन्तरितो दृश्यः, चारित्र-वतोऽनन्तरो देवभव एव भवति, न च तत्र सिद्धिरस्ति इति।

अपने विषय में अर्थात् आधाकर्मादि आचार के विषय में अथवा सूत्र तथा अर्थ के विषय में शिष्य वर्ग को अग्लान भाव से स्वीकार करने वाले, अग्लान भाव से सहायता करने वाले आचार्य और उपाध्याय कितने ही उसी भव में सिद्ध होते हैं, कितने ही दूसरे भव में सिद्ध होते हैं किन्तु तीसरे भव ग्रहण को कोई भी अतिक्रमण नहीं करते हैं अर्थात् तीसरे भव में अवश्य सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अंत करते हैं।

दूसरा तथा तीसरा मनुष्यभव देवभव के अन्तराल वाला जानना अर्थात् दूसरे मनुष्यभव के पहले भी देवभव होता है तथा तीसरे मनुष्यभव के पहले भी देवभव होता है क्योंकि चारित्रवाला व्यक्ति अनन्तर भव में देवलोक में ही जाते हैं वहाँ सिद्धि नहीं हो सकती।

'७३'१३'१२ एकान्त पण्डित : अन्तक्रिया—

गोयमा! एगंतपंडियस्स णं मणूसस्स केवलं एव दो गईओ पण्णायंति, तंजहा—अंतकिरिया चेव, कप्पोववत्तिया चेव।

—भग० श १। उ ८। प्र २६१। पृ० ४०८

एकान्त पण्डित मनुष्य – साधु की दो गतियाँ कही गई हैं, यथा—अन्तक्रिया और कल्पोपपत्तिका।

३'१३ भवसिद्धिक जीव और कितने भव में अन्तक्रिया :—

संतेगइया भवसिद्धिया जे जीवा, ते एगेणं भवग्गहणेणं सिज्झिस्संति बुज्झि- स्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम १। सू १। पृ० ३१७

अत्थेगइया भवसिद्धिया जीवा जे दोहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २। पृ० ३१७-१८

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति। —सम० सम ३। पृ० ३१८

अत्थेगइया भवसिद्धिया जीवा जे चउहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति जाव सव्व-दुक्खाणं अंतं करिस्संति। —सम० सम ४। पृ० ३१६

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे पंचहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति जाव अंतं करिस्संति। —सम० सम ५। पृ ३२०

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे छहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति जाव सव्व-दुक्खाणमंतं करिस्संति। —सम० सम ६। पृ० ३२०

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे णं सत्तहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति। —सम० सम ७। पृ० ३२१

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे अट्ठहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति जाव अंतं करिस्संति। —सम० सम ८। पृ० ३२२

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे नवहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम ६। पृ० ३२३

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे दसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम १०। पृ० ३२४

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे एक्कारसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम ११। पृ० ३२५

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे बारसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम १२। पृ० ३२६

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तेरसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम १३। पृ० ३२७

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे चउद्दसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम १४। पृ० ३२८

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे पन्नरसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम १५। पृ० ३२६

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे सोलसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम १६। पृ० ३३०

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे सत्तरसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम १७। पृ० ३३१

संतेगइया भवसिद्धिया (जीवा) जे अट्ठारसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।
—सम० सम १८। पृ० ३३२

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे एगूणवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम १९। पृ० ३३३

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे वीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २०। पृ० ३३४

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे एक्कवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २१। पृ० ३३५

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे बावीसं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २२। पृ० ३३६

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तेवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिवाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २३। पृ० ३३६

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे चउवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिवाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २४। पृ० ३३७

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे पणवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २५। पृ० ३३८

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे छव्वीसेहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २६। पृ० ३३८-३९

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे सत्तावीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २७। पृ० ३३९

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे अट्ठावीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

—सम० सम २८। पृ० ३४०

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे एगूणतीस भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति

—सम० सम २९ । पृ० ३४१

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ।

—सम० सम ३० । पृ० ३४३

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे एकतीसेहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ।

सम० सम ३१ । पृ० ३४४

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे बत्तीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ।

—सम० सम ३२ । पृ० ३४५

संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तेत्तीसं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ।

—सम० सम ३३ । पृ० ३४५

कई एक भवसिद्धिक जीव एक पुनर्भव ग्रहण करके सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाण को प्राप्त होते हैं, सर्व दुःखों का अन्त करते हैं ।

कई एक भवसिद्धिक जीव दो पुनर्भव, तीन पुनर्भव, चार पुनर्भव, पाँच पुनर्भव, छः पुनर्भव, सात यावत् तेत्तीस पुनर्भव ग्रहण करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं, निर्वाण को प्राप्त होते हैं तथा सर्व दुःखों का अन्त करते हैं ।

यद्यपि पाठ ३३ भव तक पुनर्भव ग्रहण करके मुक्त होने के हैं लेकिन ऐसे भी भवसिद्धिक जीव होने चाहिए जो संख्यात पुनर्भव, असंख्यात पुनर्भव तथा अनन्त पुनर्भव ग्रहण करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं निर्वाण को प्राप्त होते हैं, तथा सर्व दुःखों का अन्त करते हैं ।

'७३'१५ अन्तक्रिया और अंतकर का ज्ञान :—

'७३'१५'१ छद्मस्थ अंतक्रिया करने वाले को नहीं जानता है :—

(क) दस ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ,न पासइ,तंजहा—१ धम्मत्थिकायं, २ अधम्मत्थिकायं, ३ आगासत्थिकायं, ४ जीवं असरीरपडिबद्धं, ५ परमाणु-

पोग्गलं, ६ सद्दं, ७ गंधं, ८ वायं, ६ अयं जिणे भविस्सइ वा ण वा भविस्सइ, १० अयं सव्वदुक्खाणं अंतं करेस्सइ वा न वा करेस्सइ।

—भग० श० ८। उ २। प्र० १६। पृ० ५४०

(ख) दस ठाणाइं छउमत्थे णं सव्वभावेणं ण जाणइ ण पासइ, तंजहा—धम्मत्थिकायं जाव वायं अयं जिणे भविस्सइ वा ण वा भविस्सइ अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ वा ण वा करेस्सइ।

—ठाण० स्था १०। सू ७५४। पृ० ३१०

छद्‌मस्थ जीव धर्मास्तिकायादि दश बोलों को सर्वभाव से (साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से) नहीं जानता है, नहीं देखता है। कोई जीव अंतक्रिया करेगा या नहीं करेगा—ऐसा सर्वभाव से छद्‌मस्थ जीव नहीं जानता है, नहीं देखता है।

(ग) तहा णं छउमत्थे वि अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे सोच्चा जाणइ पासइ; पमाणओ वा।

—भग० श ५। उ ४। प्र २२। पृ० ४७७

छद्‌मस्थ मनुष्य केवली की तरह अंतकर जीव को—अंतिमशरीरी जीव को नहीं जानता है, नहीं देखता है, पर किसी से सुनकर अथवा प्रमाण द्वारा अंतकर जीव और अंतिमशरीरी जीव को जानता है—देखता है।

·७३·१५·२ केवली का अन्तक्रिया और अन्तकर को जानना और देखना :—

(क) एयाणि चेव उप्पण्णणाणदंसणधरे (अरहा जाणइ पासइ) जाव अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ वा ण वा करेस्सइ।

—ठाण० स्था० १०। सू ७५४। पृ० ३१०

(ख) एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ पासइ, तंजहा—धम्मत्थिकायं, जाव करेस्सइ वा न वा करेस्सइ।

—भग० श ८। उ २। प्र १६। पृ० ५४०

उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अरिहंत—जिन—केवली कोई जीव अन्तक्रिया करेगा या नहीं करेगा—ऐसा सर्वभाव से जानते हैं, देखते हैं।

(ग) केवली णं भंते! अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ? हंता, गोयमा! जाणइ पासइ। जहा णं भंते! केवली अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ तहा णं छउमत्थे वि अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे, सोच्चा जाणइ, पासइ; पमाणओ वा।

—भग० श ५। उ ४। प्र २१,२२। पृ० ४७७

केवली अन्तकर—अन्तक्रिया करने वाले जीव को तथा अन्तिमशरीरी जीव को—उसी भव में अन्तक्रिया करने वाले जीव को जानते हैं—देखते हैं।

'७३'१५'३ अरिहंत-जिन केवली का अन्तक्रिया करने के पहले जीव तथा अजीव को जानना—देखना :—

तेसिं च णं सासयंसि लोगंसि हेट्ठा विच्छिन्नंसि जाव उप्पिं उड्ढमुइंगागार-संठियंसि उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जीवे वि जाणइ पासइ अजीवे वि जाणइ पासइ तओ पच्छा सिज्झइ जाव अंतं करेइ।

—भग० श ७। उ १। प्र० ४। पृ० ५०८-६

उस नीचे में विस्तीर्ण यावत् ऊपर में ऊर्ध्वमृदंग के आकारवाले शाश्वतलोक में उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अरिहंत—जिन—केवली जीव को जानते हैं और देखते हैं तथा अजीव को भी जानते हैं और देखते हैं; उसके पश्चात् वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

'७३'१६ अन्तक्रिया में होने वाले सकल कर्मक्षय को समझाने के दृष्टांत :—

से जहा नामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं जाय—तेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूनं मंडियपुत्ता ! से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसा-विज्जइ ? हंता, मसमसाविज्जइ।

से जहा नामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकवल्लंसि उदयबिंदु पक्खिवेज्जा, से नूनं मंडियपुत्ता ! से उदयबिंदु तत्तंसि अयकवल्लंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव विद्धंसमागच्छइ ? हंता, विद्धंसमागच्छइ।

से जहा नामए हरए सिया पुण्णे, पुण्णप्पमाणे, वोलट्टमाणे, वोसट्टमाणे, समभरघडत्ताए चिट्ठइ ? हंता, चिट्ठइ।

अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरयंसि एगं महं णाव सयासवं, सयच्छिद्दं ओगाहेज्जा, से नूनं मंडियपुत्ता ! सा णावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी, पुण्णा, पुण्णप्पमाणा, वोलट्टमाणा, वोसट्टमाणा, समभरघडत्ताए चिट्ठइ। हंता, चिट्ठइ।

अहे णं केइ पुरिसे तीसे नावाए सव्वओ समंता आसवदाराहिं पिहेइ, पिहित्ता नावा—उस्सिचणएणं उदयं उस्सिचिज्जा, से नूनं मंडियपुत्ता ! सा नावा तंसि उदयंसि उस्सिचिज्जंसि समाणंसि खिप्पामेव उड्ढं उद्दाइ ? हंता, उद्दाइ ।

—भग० श ३ । उ ३ । प्र १५ का अंश । पृ० ४५७

अक्रिय—कंपन नहीं करने वाले जीव के सकलकर्मक्षय-रूपा—अन्तक्रिया होती है—उस जीव के सकल कर्मों का क्षय किस प्रकार होता है—उसको तीन उदाहरण से उक्त पाठ में समझाया गया है ।

यदि कोई व्यक्ति सूखे घास के पूले को अग्नि में डाले तो वह सूखे घास का पूला अग्नि में डालते ही तुरन्त जल जाता है । यदि कोई व्यक्ति जल की बूँद को तपे हुए तवे या लोहे की कड़ाही पर डाले तो वह जल की बूँद तवे पर डालते ही तुरन्त नष्ट हो जाती है ।

कोई एक सरोवर—जो पानी से परिपूर्ण हो, पूर्ण भरा हुआ है, लबालब भरा हुआ हो, बढ़ते हुए पानी के कारण उससे पानी छलक रहा हो, पानी से भरे हुए घड़े के समान वह सर्वत्र पानी से भरा हो, उस सरोवर में यदि कोई व्यक्ति, सैकड़ों छोटे छिद्रों वाली तथा सैकड़ों बड़े छिद्रोंवाली एक बड़ी नौका को डाले तो वह पानी से लबालब भर जाती है, उससे पानी छलकने लगता है, तथा पानी से भरे हुए घड़े की तरह पानी से भर जाती है ।

और यदि कोई व्यक्ति, उस नाव के समस्त छिद्रों को बन्द कर दे तथा नाव में भरे हुए पानी को उलीच दे तो वह नाव तुरन्त पानी के ऊपर आ जाती है ।

इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति एजनादि क्रिया न करे तो उसके सकल कर्म अग्नि में निक्षिप्त घास के पूले तथा तप्त कड़ाही में निक्षिप्त जल बूँद की तरह तुरन्त नष्ट हो जाते हैं । तथा जैसे नौका के छिद्र बन्द हो जाने तथा भरा हुआ पानी उलीच देने से नौका ऊपर उठ जाती है उसी प्रकार कर्मों का आगमन बन्द होने से और आये हुए कर्मों के नष्ट होने से अक्रिय—कम्पन-रहित जीव का कर्मों से छुटकारा हो जाता है तथा उस जीव की अन्त-क्रिया होती है ।

'७३'१७ भगवान् महावीर के कितने शिष्यों ने अंतक्रिया की :—

ते णं कालेणं, ते णं समएणं महासुक्काओ कप्पाओ, महासग्गाओ महाविमाणाओ दो देवा महिड्ढिया, जाव—महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूआ ; तएणं ते देवा समणं भगवं महावीरं मणसा चेव वंदंति, णमंसंति ; मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं पुच्छंति—

कइ णं भंते ! देवाणुप्पियाणं, अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति, जाव—अंतं करेहिंति ? तए णं समणे भगवं महावीरे तेहिं देवेहिं मणसा पुट्ठे तेसिं देवाणं मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरेइ, एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति, जाव अंतं करेहिंति। —भग० ५। उ ४। प्र १५। पृ० ४७६

महाशुक्र देवलोक में, महासर्ग महाविमानवासी महाऋद्धिवाले यावत् महाभाग्यशाली दो देव श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रादुर्भूत हुए तथा उन्होंने मन ही मन से भगवान् महावीर को वंदना—नमस्कार करके मन से ही प्रश्न पूछा कि हे भगवन् ! आपके कितने सत्त शिष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे।

श्रमण भगवान् महावीर ने उन देवों को मन द्वारा ही उत्तर दिया कि हे देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे।

टीका—(प्र १४ पर) 'अंतकरे चेव' त्ति भवच्छेदकरः स च दूरतरभवेऽपि स्याद् अत आह—'अंतिमसरीरिए चेव' त्ति चरमशरीर इत्यर्थः।

·७४ सदनुष्ठान क्रिया का उपदेश

·७४·१ दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमक्खायमणेलिसंणाणी।
आयाणसोयमतिवायसोयं जोगं च सव्वसो णच्चा॥

—आया० श्रु १। अ ६। उ १। गा १६। पृ० २६

टीका—द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधं किं तत्कर्म्म तच्चेर्याप्रत्ययं सांपरायिकञ्च तद्द्विविधमपि समेत्य ज्ञात्वा मेधावी सर्वभावज्ञः क्रियां संयमानुष्ठानरूपां कर्म्मोच्छेत्रीमनीदृशीमनन्यसदृशीमाख्यातवान् किंभूतो ज्ञानी केवलज्ञानवानित्यर्थः किं वा परमाख्यातवानिति दर्शयति। आदीयते कर्म्मानेनेत्यादानं दुःप्रणिहितमिन्द्रियमादानञ्च स्रोतश्च आदानस्रोतस्तज्ज्ञात्वा तथातिपातस्रोतश्चोपलक्षणार्थत्वादस्य मृषावादादिकमपि ज्ञात्वा तथायोगश्च मनोवाक्कायलक्षणं दुःप्रणिहितं सर्वशः सर्वः प्रकारैः कर्मबंधायेति ज्ञात्वा स्रोतक्रिया संयमलक्षणामाख्यातवानिति संबंधः।

दो प्रकार के कर्मों को अर्थात् ऐर्यापथिक तथा सांपरायिक कर्मों को जानकर—सर्वभाव को जानने वाले मेधावी ने संयमानुष्ठान रूप कर्मों का छेदन करने वाली अनुपमक्रिया का उपदेश दिया है। आदानस्रोत, अतिपातस्रोत और योगों को सर्व प्रकार से कर्मबन्धन का स्रोत—आस्रव जानकर केवलज्ञानी ने संयमानुष्ठान (सदनुष्ठान) क्रिया का उपदेश दिया है।

·७४·२ किरियं च रोयए धीरे, अकिरियं परिवज्जए।

—उत्त० अ १८। गा ३३। पृ० १००७

टीका—(लक्ष्मीवल्लभ) धीरः अक्षोभ्यः क्रियां जीवस्य विद्यमानतां जीवसत्तां रोचयति स्वयं स्वस्मै अभिलपयति तथा परस्मै अपि अभिलपयतीत्यर्थः अथवा क्रियां सम्यक् अनुष्ठानरूपां प्रतिक्रमणप्रतिलेखनरूपां मोक्षमार्गः साधनभूतां ज्ञानसहितां क्रियां रोचयति।

धीर पुरुष क्रिया में रुचि रखे और अक्रिया का परित्याग करे। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति और गुप्ति आदि क्रियाओं में रुचि रखे अथवा क्रियावाद—जीवाजीवादि अस्तिवाद में रुचि रखे ; अक्रिया अर्थात् कायिकी आदि दुष्क्रिया का परित्याग करे अथवा नास्तिवाद का परित्याग करे।

·७४·३ णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए ण यावि मामए॥

—सूय० श्रु १। अ २। उ २। गा २८। पृ० १०७

टीका—['कयकिरिए' शब्द पर] कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियस्तथाभूतश्च।

अनुत्तर—लोकोत्तर धर्म को जानकर संयति—संयमानुष्ठान क्रिया को करता रहे।

संयमानुष्ठान क्रिया में जो कृत अभ्यस्त होता है वह 'कयकिरिए' अर्थात् कृतक्रिय होता है।

·८ जीव और क्रिया

·८१·१ जीव की सक्रियता/अक्रियता :—

जीवा णं भंते ! किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'जीवा सकिरिया वि अकरिया वि ?' गोयमा ! जीवा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—संसारसमावण्णगा य असंसारसमावण्णगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावण्णगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते संसारसमावण्णगा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सेलेसिपडिवण्णगा य असेलेसिपडिवण्णगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवण्णगा ते णं अकिरिया,—तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवण्णगा ते णं सकिरिया—से एतेणट्ठेणं एवं वुच्चइ—'जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि'।

—पण्ण० प २२। सू १५७३। पृ० ४७६

जीव सक्रिय भी होते हैं, अक्रिय भी होते हैं। क्योंकि जीव दो प्रकार के होते हैं—संसारसमापन्न और असंसारसमापन्न। असंसारसमापन्न जीव सिद्ध होते हैं और वे अक्रिय होते हैं। संसारसमापन्न जीव दो प्रकार के होते हैं—शैलेशीप्रतिपन्न तथा अशैलेशीप्रतिपन्न। जो जीव शैलेशीप्रतिपन्न होते हैं वे अक्रिय होते हैं। जो जीव अशैलेशीप्रतिपन्न होते हैं वे सक्रिय होते हैं। प्रज्ञापना टीकाकार के अनुसार जो जीव शैलेशीत्व को प्राप्त हुए हैं, वे सूक्ष्म तथा बादर काययोग, वचनयोग, तथा मनोयोग का निरोध कर लेते हैं अतः उन्हें अक्रिय कहा गया है।

शैलेशी-प्रतिपन्न जीव के ऐर्यापथिक तथा एजनादि क्रिया का भी अभाव हो जाता है अतः वे सब प्रकार की परिस्पंदनात्मक क्रियाओं से रहित हो जाते हैं। उनकी काया का स्वप्रयोग से किसी प्रकार का परिस्पंदन नहीं होता है, परप्रयोग से परिस्पंदन सम्भव है।

'८१'२ दण्डक के जीव की सक्रियता और अक्रियता :—

जीवे मणूसे य अकिरिए वुच्चइ, सेसा अकिरिया न वुच्चंति।

—पण्ण० प २२। सू १६०४। पृ० ४८१

टीका—जीवपदे मनुष्यपदे चाक्रिया इत्यपि वक्तव्यं, विरतिप्रतिपत्तौ व्युत्सृष्टत्वेन तन्निमित्तक्रियाया असंभवात् शेषा अक्रिया नोच्यन्ते, विरत्यभावतः स्वशरीरस्य भवान्तरगतस्याव्युत्सृष्टत्वेनावश्यं क्रियासंभवात्।

जीव सक्रिय भी होते हैं, अक्रिय भी होते हैं। मनुष्य सक्रिय भी होते हैं, अक्रिय भी होते हैं। दण्डक के अवशेष जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन कायिकी आदि पंच क्रियाओं से होने वाली हिंसा की अपेक्षा जीव अन्य जीव के प्रति कितना सक्रिय-अक्रिय होता है—इस सम्बन्ध में है। जीव पद में कोई एक मनुष्य इस अपेक्षा से अक्रिय है क्योंकि विरति की प्राप्ति में शरीर का व्युत्सर्ग होने के कारण शरीर-निमित्तक क्रिया असम्भव है। दण्डक के बाकी के जीव अक्रिय नहीं होते हैं क्योंकि उनके विरति का अभाव होता है तथा भवान्तर के शरीर का व्युत्सर्ग नहीं होने के कारण उनके क्रिया अवश्य सम्भव है।

'८१'३ उत्पल आदि वनस्पतिकायिक जीव की सक्रियता-अक्रियता :—

(उप्पले णं भंते ! एगपत्तए) ते णं भंते ! जीवा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! नो अकिरिया, सकिरिए वा सकिरिया वा।

—भग० श ११। उ १। प्र २२। पृ० ६२३

सालुए णं भंते ! एगपत्तए XXX उप्पलुद्देसगवत्तव्वया अपरिसेसा भाणियव्वा जाव अणंतखुत्तो XXX ।

पलासे णं भंते ! एगपत्तए XXX उप्पलुद्देसग-वत्तव्वया—अपरिसेसा भाणियव्वा XXX ।

कुंभिए णं भंते ! एगपत्तए XXX एवं जहा—पलासुद्देसए तहा भाणियव्वे XXX ।

नालिए णं भंते ! एगपत्तए XXX एवं कुंभिउद्देसगवत्तव्वया निरवसेसं(सा) भाणियव्वा XXX ।

पउमे णं भंते ! एगपत्तए XXX एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा XXX ।

कन्निए णं भंते ! एगपत्तए XXX एवं चेव निरवसेसं भाणियव्वं XXX ।

नलिणे णं भंते ! एगपत्तए XXX एवं चेव निरवसेसं जाव अणंतखुत्तो ।

—भग० श ११ । उ २ से ८ । पृ० ६२५

एकपत्रीय उत्पल जीव सक्रिय होता है, अक्रिय नहीं, तथा सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं । इसी प्रकार एकपत्री शाल्लूक, एकपत्री पलास, एकपत्री कुम्भक, एकपत्री नालिक, एकपत्री पद्म, एकपत्री कर्णिका तथा एकपत्री नलिन वनस्पतिकायिक जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं ।

·८२ जीव और आरंभिकी क्रियापंचक

(क) नेरइयाणं भंते ! कइ किरियाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया । एवं जाव वेमाणियाणं ।

—पण्ण० प २२ । सू १६२७ । पृ० ४८२-८३

(ख) पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया नेरइयाणं पंच किरिया निरंतरं जाव वेमाणियाणं ।

—ठाण० स्था ५ । उ २ । सू ४१६ । पृ० २६२

आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानक्रिया, मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी—पाँचों क्रियाएँ नारकी से लेकर यावत् वैमानिक देवों तक सभी दण्डकों में पाई जाती हैं ।

·८३ जीव और कायिकी क्रियापंचक :—

(क) नेरइया णं भंते ! कइ किरियाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—काइया जाव पाणाइवायकिरिया। एवं जाव वेमाणियाणं।

—पण्ण० प २२। सू १६०६। पृ० ४८१

(ख) कइ णं भंते ! आयोजियाओ किरियाओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! पंच आयोजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—काइया जाव पाणाइवायकिरिया, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। —पण्ण० प २२। सू १६१७। पृ० ४४२

(ग) पंच किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा - काइया, अहिगरणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया, नेरइयाणं पंच एवं चेव (एवं) निरंतरं जाव वेमाणियाणं। —ठाण० स्था ५। उ २। सू ४१६। पृ० २६२

कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपातिकी—पाँचों क्रियाएँ नारकी से लेकर वैमानिक देवों तक सभी दंडकों में पाई जाती हैं।

·८४ जीव और पापस्थान क्रिया :—

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? हंता गोयमा ! अत्थि। कम्हि णं भंते ? जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! छसु जीवनिकाएसु। अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! एवं चेव। एवं जाव निरंतरं वेमाणियाणं।

अत्थि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ? हंता ! अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदव्वेसु, एवं निरंतरं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

अत्थि णं भंते ! जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ ? हंता ! अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु, एवं नेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

अत्थि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ? हंता ! अत्थि। कम्हि णं भंते। जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु, एवं नेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? हंता ! अत्थि। कम्हि

णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? गोयमा ! सव्वदेव्वसु, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

एवं कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेणं, पेज्जेणं, दोसेणं, कलहेणं, अब्भक्खाणेणं, पेसुन्नेणं, परपरिवाएणं, अरइरईए, मायामोसेणं, मिच्छादंसणसल्लेणं।

सव्वेसु जीवनेरइयभेदेसु भाणियव्वं निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति, एवं अट्ठारस एते दंडगा। —पण्ण० प २२। सू १५७४-८०। पृ० ४७६

जीव प्राणातिपात के द्वारा छः जीवनिकायों में ही क्रिया करते हैं। इसी प्रकार नारकी से लेकर निरंतर यावत् वैमानिक तक के जीव प्राणातिपातिकी क्रिया करते हैं। जीव सब द्रव्यों के विषय में मृषावाद के द्वारा क्रिया करते हैं। इसी प्रकार नारकी से लेकर निरंतर यावत् वैमानिक तक के जीव मृषावादक्रिया करते हैं। जीव ग्रहणीय और धारणीय द्रव्यों के विषय में अदत्तादान के द्वारा क्रिया करते हैं। नारकी से लेकर निरंतर यावत् वैमानिक तक के जीव इसी प्रकार अदत्तादानक्रिया करते हैं। जीव, रूप (चित्र, लेप, काष्ठादि की मूर्त्ति) के विषय में अथवा रूपी द्रव्यों के सहगमन से—यथा स्त्री आदि के सहगमन से मैथुन के द्वारा क्रिया करते हैं। नारकी से लेकर निरंतर यावत् वैमानिक तक के जीव इसी प्रकार मैथुनक्रिया करते हैं। जीव सब द्रव्यों के विषय में परिग्रह के द्वारा क्रिया करते हैं। नारकी से लेकर निरंतर यावत् वैमानिक तक के जीव इसी प्रकार पारिग्राहिकी क्रिया करते हैं। जीव इसी प्रकार सब द्रव्यों के विषय में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, अरति-रति, मायामृषावाद और मिथ्यादर्शनशल्य के द्वारा क्रिया करते हैं। नारकी से लेकर निरंतर यावत् वैमानिक देव तक के जीव इसी प्रकार सब द्रव्यों के विषय में क्रोध यावत् मिथ्यादर्शनशल्य द्वारा क्रिया करते हैं। अठारह पापस्थान के १८ दण्डक जीव-नारकी भेद से यावत् वैमानिक तक कहने चाहिए।

.८५ जीव और ऐर्यापथिकी क्रिया :—

टीका—तत्र 'ईरियावहिय' त्ति ईरणमीर्या—गमनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, व्युत्पत्तिमात्रमिदं, प्रवृत्तिनिमित्तं तु यत्केवलयोगप्रत्ययमुपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्म्मतया अजीवस्य पुद्गलराशेर्भवनं सा ऐर्यापथिकी क्रिया, इह जीवव्यापारेऽप्यजीवप्रधानत्वविवक्षयाऽजीवक्रियेयमुक्ता।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

ऐर्यापथिकी क्रिया मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी दंडक के जीवों में नहीं होती है। मनुष्य में भी उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगी केवली—इन तीन गुणस्थानवर्ती जीवों में ही होती है। अयोगी केवली गुणस्थान में भी नहीं होती है।

'८६ महायुग्म जीव और सक्रियता-अक्रियता :—

[जब एक दंडक के अनेक जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं और वह संख्या बड़ी होती है तो उस संख्या को महायुग्म राशि कहते हैं। महायुग्म राशि के कृतयुग्म-कृतयुग्मादि सोलह भेद होते हैं।

महायुग्म के सोलह भेद राशि (संख्या) तथा अपहार समय की अपेक्षा से किये गये हैं। जिस राशि में प्रतिसमय चार-चार घटाते-घटाते शेष में चार बाकी रहे तथा घटाने के समयों में से भी चार-चार घटाते-घटाते चार बाकी रहे वह कृतयुग्म—कृतयुग्मराशि कहलाती है क्योंकि घटाने वाले द्रव्य तथा समय की अपेक्षा दोनों रीति से कृतयुग्म रूप है। सोलह की संख्या जघन्य कृतयुग्म-कृतयुग्मराशि रूप है। उसमें से प्रतिसमय चार घटाते-घटाते शेष में चार बचते हैं तथा घटाने के समय भी चार होते हैं अथवा उन्नीस की संख्या में प्रति समय चार घटाते-घटाते शेष में तीन शेष रहते हैं तथा घटाने के समय चार लगते हैं। अतः १९ की संख्या जघन्य कृतयुग्मत्र्योज कहलाती है। इसी प्रकार अन्य भेद जान लेने चाहिए।

यहाँ पर महायुग्मराशि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय—छः प्रकार के जीवों का "कहाँ से उपपात" आदि तेतीस पदों से विवेचन किया गया है तथा विस्तृत विवेचन कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय पद में है, अवशेष महायुग्म पदों में इसकी भुलावण है तथा जहाँ भिन्नता है वहाँ भिन्नता बतलाई गई है। स्थान-स्थान पर उत्पल उद्देशक (भग० श ११। उ १) की भुलावण है।

हमने यहाँ पर अठारवें पद "सक्रिय-अक्रिय" की अपेक्षा पाठों का संकलन किया है।]

'८६'१ महायुग्म एकेन्द्रिय जीव :—

तेसि णं (कडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया) भंते! जीवाणं सरीरा कइवण्णा—जहा उप्पलुद्देसए सवत्थ पुच्छा (जीवा किं सकिरिया, अकिरिया?) गोयमा! जहा उप्पलुद्देसए xxx। सकिरिया, नो अकिरिया। xxx। (प्र १०)

एवं एएसु सोलससु महाजुम्मेसु एक्को गमओ। (प्र १६)

—भग० श ३५। उ १। प्र १०, १६ । पृ० ६२६-२७

एवं एए (णं कमेणं) एक्कारस उद्देसगा।

—भग० श ३५। श १। उ ११। प्र ६। पृ० ६२६

कृतयुग्मकृतयुग्म एकेन्द्रिय जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं। इसी प्रकार सोलह महायुग्म एकेन्द्रिय जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं।

इसी प्रकार (२) प्रथम समय, (३) अप्रथम समय, (४) चरम समय, (५) अचरम समय, (६) प्रथम प्रथम समय, (७) प्रथम-अप्रथम समय, (८) प्रथम चरम समय, (६) प्रथम-अचरम समय, (१०) चरम-चरम समय, (११) चरम-अचरम समय कृतयुग्मकृतयुग्म इत्यादि सोलह महायुग्मों के एकेन्द्रिय जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं।

इसी प्रकार सलेशी महायुग्म एकेन्द्रिय जीव भी सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं।

इसी प्रकार भवसिद्धिक महायुग्म एकेन्द्रिय जीव भी सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं।

इसी प्रकार सलेशी भवसिद्धिक महायुग्म एकेन्द्रिय जीव भी सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं।

इसी प्रकार अभवसिद्धिक महायुग्म एकेन्द्रिय जीव तथा सलेशी अभवसिद्धिक महायुग्म एकेन्द्रिय जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं (देखिए—भग० श ३५ सम्पूर्ण)।

·८६·२ महायुग्म द्वीन्द्रिय जीव :—

महायुग्म द्वीन्द्रिय जीव भी महायुग्म एकेन्द्रिय जीव की तरह सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं। महायुग्म एकेन्द्रिय जीव की तरह महायुग्म द्वीन्द्रिय जीव के भी बारह शतक तथा प्रत्येक शतक में ग्यारह उद्देशक कहने चाहिए तथा सभी में—सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं—ऐसा कहना चाहिए।

××× एवं एए वि जहा एगिंदियमहाजुम्मेसु एक्कारस उद्देसगा तहेव भाणियव्वा। ×××।

××× एवं एयाणि बारस बेइंदियमहाजुम्मसयाणि भवंति।

—भग० श ३६। पृ० ६३०-३१

महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं। महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के इक्कीस शतक तथा प्रत्येक शतक में ग्यारह उद्देशक कहने चाहिए। तथा सभी में सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं—ऐसा कहना चाहिए। महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में बारह गुणस्थान तक के जीवों का ही समावेश होता है—यह ख्याल रखना चाहिए।

महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय के इक्कीस शतक इस प्रकार होते हैं—

औधिक महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय का एक शतक तथा कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी औधिक महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय के छः शतक मोट सात शतक। इसी प्रकार भवसिद्धिक महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय के सात शतक तथा अभवसिद्धिक महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय के सात शतक—मोट इक्कीस शतक होते हैं (देखिये भगवती श० ४० संपूर्ण)।

·८७ राशियुग्म जीव और सक्रियता-अक्रियता :—

[जब एक दंडक के अनेक जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं तो उस संख्या को राशियुग्म कहते हैं। राशियुग्म संख्या चार प्रकार की होती है यथा—(१) कृतयुग्म, (२) त्र्योज, (३) द्वापरयुग्म तथा (४) कल्योज। जिस संख्या में चार का भाग देने से चार बचे वह कृतयुग्म संख्या कहलाती है, यदि तीन बचे तो वह त्र्योज संख्या कहलाती है, यदि दो बचे तो वह द्वापर संख्या कहलाती है, यदि एक बचे तो वह कल्योज संख्या कहलाती है।

राशियुग्म संख्या से दंडक के सभी जीवों का विवेचन है और यह विवेचन "कहाँ से उपपात" आदि १३ बोलों से किया गया है। इन में से १३वें बोल में जीव की सक्रियता-अक्रियताका प्रश्न है उस बोल संबंधी पाठों का संकलन यहाँ पर किया गया है।]

·८७·१ राशियुग्म कृतयुग्म जीव :—

(रासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते!) जइ आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा? गोयमा! सलेस्सा, नो अलेस्सा। जइ सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया? गोयमा! सकिरिया, नो अकिरिया। जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति, जाव अंतं करेंति? नो इणट्ठे समट्ठे। (प्र ११, १२, १३)

रासीजुम्मकडजुम्मअसुरकुमारा णं भंते! कओ उववज्जंति? जहेव नेरइया तहेव निरवसेसं। एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया। (प्र १४)

(मणुस्सा) जइ आयजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा? गोयमा! सलेस्सा वि अलेस्सा वि। जइ अलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया? गोयमा! नो

सकिरिया, अकिरिया। जइ अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति, जाव अंतं करेंति? हंता सिज्झंति, जाव अंतं करेंति। जइ सलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया? गोयमा! सकिरिया, नो अकिरिया। जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति, जाव अंतं करेंति? गोयमा! अत्थेगइया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति, अत्थेगइया नो तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति। जइ आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा, अलेस्सा? गोयमा! सलेस्सा, नो अलेस्सा। जइ सलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया? गोयमा! सकिरिया, नो अकिरिया। जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति, जाव अंतं करेंति? नो इणट्ठे समट्ठे। (प्र १६ से २३)

वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा नेरइया।

—भग० श ४१। उ १। प्र ११ से २३। पृ० ६३५-३६

राशियुग्म में जो कृतयुग्मराशि नारकी आत्म-असंयम का आश्रय लेकर जीते हैं वे सलेशी होते हैं, असलेशी नहीं होते हैं तथा वे सलेशी नारकी सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं। वे सक्रिय नारकी उसी भव में सिद्ध नहीं होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करते हैं।

कृतयुग्म राशि असुरकुमारों के विषय में जैसा नारकी के विषय में कहा वैसा ही निरवशेष कहना। इसी प्रकार यावत् तिर्यंच पंचेन्द्रिय तक समझना।

जो कृतयुग्म राशि रूप मनुष्य आत्मसंयम का आश्रय लेकर जीते हैं वे सलेशी भी होते हैं, अलेशी भी होते हैं। यदि वे अलेशी होते हैं तो वे सक्रिय नहीं हैं, अक्रिय होते हैं तथा वे अक्रिय मनुष्य उसी भव में सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

यदि वे सलेशी होते हैं तो वे सक्रिय हैं, अक्रिय नहीं होते हैं तथा उन सक्रिय जीवों में कितने ही उसी भव में सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं तथा कितने ही उसी भव में सिद्ध नहीं होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करते हैं।

जो कृतयुग्मराशि मनुष्य आत्म-असंयम का आश्रय लेकर जीते हैं वे सलेशी होते हैं, अलेशी नहीं होते हैं तथा वे सलेशी मनुष्य सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं तथा वे सक्रिय मनुष्य उसी भव में सिद्ध नहीं होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करते हैं।

·८७·२ राशियुग्म त्र्योज जीव :—

·८७·३ राशियुग्म द्वापरयुग्म जीव :—

·८७·४ राशियुग्म कल्योज जीव :—

रासीजुम्मतेओयनेरइया ××× एवं चेव उद्देसओ भाणियव्वो। ××× सेसं तं चेव जाव वेमाणिया। (उ २)

रासीजुम्मदावरजुम्मनेरइया ××× एवं चेव उद्देसओ ××× सेसं जहा पढमुद्देसए जाव वेमाणिया (उ ३)

रासीजुम्मकलिओगनेरइया ××× एवं ××× सेसं जहा पढमुद्देसए एवं जाव वेमाणिया। —भग० श ४१ । उ २ से ४ । पृ० ६३६

राशियुग्म त्र्योज जीव, राशियुग्म-द्वापरयुग्म जीव तथा राशियुग्म कल्योज जीव के संबंध में—सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा वैसा ही कहना जैसा राशियुग्म-कृतयुग्म जीव के संबंध में ऊपर कहा गया है।

·८७·५·१६६ चार प्रकार के राशियुग्म कृष्णलेशी जीव के संबंध सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा वैसा ही कहना जैसा क्रमांक ·८७·१ में कहा गया है।

इसी प्रकार चार प्रकार के राशियुग्म नीललेशी जीव, कापोतलेशी जीव, तेजोलेशी जीव, पद्मलेशी जीव तथा शुक्ललेशी जीव के संबंध में—सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा वैसे ही कहना जैसा क्रमांक ·८७·१ में कहा गया है।

इस प्रकार औधिक के चार तथा छः लेश्याओं के चौवीस उद्देशक—मोट अट्ठाइस उद्देशक हुए।

इसी प्रकार भवसिद्धिक राशियुग्म जीवों के सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा अट्ठाइस उद्देशक कहने चाहिए।

इसी प्रकार अभवसिद्धिक राशियुग्म जीवों के सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा अट्ठाइस उद्देशक कहने चाहिए।

इसी प्रकार समदृष्टि राशियुग्म जीवों के सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा अट्ठाइस उद्देशक कहने चाहिए।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि राशियुग्म जीवो के सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा अट्ठाइस उद्देशक कहने चाहिए।

इसी प्रकार कृष्णपाक्षिक राशियुग्म जीवों के सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा अट्ठाइस उद्देशक कहने चाहिए।

इसी प्रकार शुक्लपाक्षिक राशियुग्म जीवों के सक्रिया-अक्रिया की अपेक्षा अट्ठाइस उद्देशक कहने चाहिए।

मोट १९६ उद्देशक हुए। देखिए भग०श ४१ । उ ५ से १९६ । पृ० ६३६ से ६३८

·८८ सक्रिय जीव

भेद की विवक्षा के बिना—मात्र क्रिया की अपेक्षा नरक, तिर्यंच तथा देवगति के जीव नियम से सक्रिय होते हैं, मनुष्य सक्रिय-अक्रिय दोनो होते हैं, तेरहवें गुणस्थान तक के

मनुष्य सक्रिय होते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान के मनुष्य अक्रिय होते हैं ; सिद्धगति के जीव अक्रिय होते हैं।

कर्मबन्धन की अपेक्षा मनुष्य वाद दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं, मनुष्य में प्रथम से तेरहवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से सक्रिय होते हैं और चौदहवें गुणस्थान के मनुष्य अक्रिय होते हैं।

पापकर्मबन्धन की अपेक्षा मनुष्य वाद दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं— मनुष्य में दशवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से सक्रिय होते हैं, ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से अक्रिय होते हैं।

सांपरायिकी क्रिया की अपेक्षा मनुष्य वाद दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं, मनुष्यों में दशवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से सक्रिय होते हैं, ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से अक्रिय होते हैं।

ऐर्यापथिकी क्रिया की अपेक्षा ग्यारवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान के मनुष्य भी सक्रिय होते हैं।

योगक्रिया की अपेक्षा मनुष्य वाद दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं। मनुष्यों में तेरहवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से सक्रिय होते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान के मनुष्य इस अपेक्षा से भी अक्रिय होते हैं।

अप्रत्याख्यानी क्रिया की अपेक्षा तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य वाद दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्यों में टीकाकार के अनुसार पाँचवें गुणस्थान के जीव भी अक्रिय होते हैं। मनुष्यों में छट्ठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से अक्रिय होते हैं।

आरम्भिकी क्रिया की अपेक्षा मनुष्य वाद दंडक के सभी जीव सक्रिय होते हैं। पांचवें गुणस्थान के मनुष्य इस अपेक्षा से सक्रिय होते हैं। छट्ठे गुणस्थान के मनुष्य इस अपेक्षा से कोई एक सक्रिय होता है, कोई एक अक्रिय होता है। (**तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा नो परारंभा जाव अणारंभा, असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि, जाव नो अणारंभा**—भग श १। उ १। प्र ४८। पृ० ३८६) सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से अक्रिय होते हैं।

मायाप्रत्ययिकी क्रिया की अपेक्षा मनुष्य वाद दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं। मनुष्यों में दशवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से सक्रिय होते हैं ; ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक के मनुष्य इस अपेक्षा से अक्रिय होते हैं।

मिथ्यात्व, मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी तथा मिथ्यादर्शनशल्य पापस्थान की अपेक्षा

पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान के जीव सक्रिय होते हैं। चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक के जीव इस अपेक्षा से अक्रिय होते हैं।

पारिग्रहिकी क्रिया की अपेक्षा मनुष्य बाद दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं। मनुष्यों में पाँचवें गुणस्थान तक के मनष्य इस अपेक्षा से सक्रिय होते हैं तथा छट्ठे से चौदहवें गुणस्थान तक के मनष्य इस अपेक्षा से अक्रिय होते हैं।

परिस्पंदन क्रिया की अपेक्षा चौदहवें गुणस्थान के मनुष्य को बाद देकर दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं। चौदहवें गुणस्थान के मनुष्य श्वासोच्छ्वास आदि सभी प्रकार की क्रियाओं से अक्रिय होते हैं।

एजना क्रिया की अपेक्षा से चौदहवें गुणस्थान के मनुष्य को बाद देकर दण्डक के सभी जीव सक्रिय होते हैं। चौदहवें गुणस्थान के मनुष्य शैलेशी अर्थात् सम्पूर्ण एजना क्रिया रहित होते हैं। अनन्तरसिद्ध एजना क्रिया सहित होते हैं, परंपरसिद्ध एजना रहित होते हैं।

क्रिया सहित जीव कर्मबन्धन से अबन्धक नहीं होते हैं—जब तक जीव क्रिया सहित है तब तक कर्म बन्धन होता रहता है।

नत्थि हु सक्किरियाणं अबंधगं किंचि इह अणुट्ठाणं।

—आव० नि गा ७६०। टीका में उद्धृत

·८८·१ सक्रिय जीव के भेद :—

·८८·१·१ दो भेद—सम्यक्त्व क्रियावाला तथा मिथ्यात्व क्रिया वाला।

पाठ के लिए देखो—क्रमांक ·६४·१·१

सक्रिय जीव दो क्रिया करते हैं—सम्यक्त्व क्रिया तथा मिथ्यात्व क्रिया। जो जीव मिथ्यात्व क्रिया करते हैं वे उस समय सम्यक्त्व क्रिया नहीं करते हैं, जो जीव सम्यक्त्व क्रिया करते हैं वे उस समय मिथ्यात्व क्रिया नहीं करते हैं।

इस अपेक्षा से सक्रिय जीव के दो भेद—सम्यक्त्व क्रिया करने वाला जीव और मिथ्यात्व क्रिया करने वाला जीव।

·८८·१·२ दो भेद—ऐर्यापथिकी क्रियावाला तथा सांपरायिकी क्रिया वाला—

पाठ के लिए देखो—क्रमांक ·६४·२·१

सक्रिय जीव दो क्रिया करते हैं—ऐर्यापथिकी क्रिया तथा सांपरायिकी क्रिया। जो जीव सांपरायिकी क्रिया करते हैं वे उस समय ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं करते हैं; जो जीव ऐर्यापथिकी क्रिया करते हैं वे उस समय सांपरायिकी क्रिया नहीं करते हैं।

इस अपेक्षा से सक्रिय जीव के दो भेद—ऐर्यापथिकी क्रिया करने वाला तथा सांपरायिकी क्रिया करने वाला जीव।

·८६ अक्रिय जीव---

संसारसमापन्नक जीवों में दो प्रकार के जीवों को अक्रिय कहा जाता है—संवृत अणगार जो यत्न (जयणा) से सब कार्य करता है, हिंसा से विरत है इत्यादि सद्गुण वाले संवृत अणगार को पापकर्म नहीं बंधने की अपेक्षा से स्थान-स्थान पर अक्रिय कहा गया है। (देखो क्रमांक ·७२·४) तथा जो जीव चतुर्दशवें गुणस्थान में शैलेशीत्व को प्राप्त होता है उसको योग-परिस्पंदन-एजनादि सर्व अपेक्षा से अक्रिय कहा गया है। (देखो क्रमांक ·८१·१) असंसारसमापन्नक सिद्धों को अनन्तर समय में एजनादि की अपेक्षा—गतिमान होने के कारण 'सेया' अर्थात् एजना सहित कहा गया है ; परम्परसिद्ध गतिमान न होने के कारण अक्रिय है (देखो क्रमांक ·६३·६)। अन्यथा सिद्धों को (सिद्धाश्च देहमनोवृत्त्यभावतोऽक्रिया—पण्ण० टीका) देह-मनोवृत्ति के अभाव से अक्रिय कहा गया है।

·६ क्रिया और विविध विषय—

·६१ क्रिया और करण :—

·६१·१ करण की परिभाषा / अर्थ—

(क) करणं क्रिया क्रियत इति वा क्रिया।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ६०। टीका

(ख) क्रियते येन तत्करणं—मननादिक्रियासु प्रवर्तमानस्यात्मन उपकरणभूतस्तथा तथा परिणामवत्पुद्गलसंघात इति भावः। —ठाण० स्था ३। उ १। सू १२४। टीका

(ग) क्रियतेऽनेनेति करणं—क्रियायाः साधकतमं कृतिर्वा। करणं– क्रियामात्रम्।

—भग० श १६। उ ६। प्र १, २। टीका

(घ) करणीयक्रिया तु यद्येन प्रकारेण करणीयम् तत्तेनैव क्रियते नान्यथा।

—सूय० श्रु २। अ २। सू १। पृ० १४५। टीका

करण—करना-क्रिया है अथवा जो किया जाय वह क्रिया है। जिसके द्वारा किया जाय वह करण है। क्रिया का साधन अथवा करना वह करण—क्रियामात्र करण है। जो कुछ भी किया जाय वह क्रिया है। जितने प्रकार के करण हैं उतने प्रकार की क्रिया है, उनसे अन्यथा नहीं।

·६१·२ काल की अपेक्षा करण-क्रिया के भेद :—

अकरिस्सं चाहं, कारवेसुं चाहं, करओ आवि समणुण्णे भविस्सामि। एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

—आया० अ १। उ १। सू ६-७। पृ० १

मैंने किया, मैंने कराया, मैंने करते हुए का अनुमोदन किया ; मैं करता हूँ, मैं करवाता हूँ, मैं करते हुए का अनुमोदन करता हूँ ; मैं करूंगा, मैं कराऊँगा तथा मैं करते हुए का अनुमोदन करूंगा। ये क्रियाएँ मन, वचन तथा काययोग से होती हैं। लोक में इतनी ही कर्मबन्ध के कारण 'करण'—क्रियाएँ हैं। इनको जानना चाहिए। यहाँ मूल में 'किया तथा करवाया' भूतकाल की प्रथम दो क्रियाएँ तथा भविष्यत्काल की शेष क्रिया 'करते हुए का अनुमोदन करूंगा' दी गई हैं। इससे मध्यवर्ती छः क्रियाओं को भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

टीका—'अचीकरमहमित्यनेन परोऽकार्यादौ प्रवर्तमानो मया प्रवृत्तिं कारितः, तथा कुर्वन्तमन्यमनुज्ञातवानित्येवं कृतकारितानुमतिभिर्भूतकालाभिधानं, तथा 'करोमी'त्यादिना वचनत्रिकेण वर्तमानकालोल्लेखः, तथा करिष्यामि कुर्वतोऽन्यान् प्रति समनुज्ञापरायणो भविष्यामीत्यनागतकालोल्लेखः ××× अनेन क्रियाप्रबन्धप्रतिपादनेन कर्मण उपादानभूतायाः क्रियायाः स्वरूपमावेदितमिति। अथ किमेतावत्य एव क्रियाः उतान्या अपि (सन्ति ?) सन्तीति ×××। एतावन्तः सर्वेऽपि 'लोके' प्राणिसंघाते 'कर्मसमारम्भाः' क्रियाविशेषा ये प्रागुक्ताः अतीतानागतवर्तमानभेदेन कृतकारितानुमतिभिश्च अशेषक्रियानुयायिना च करोति (इत्यादि ?) न सर्वेषां संग्रहादिति, एतावन्त एव परिज्ञातव्या भवन्ति, नान्य इति। परिज्ञा च ज्ञाप्रत्याख्यानभेदाद् द्विधा, तत्र ज्ञपरिज्ञयाऽऽत्मनो बन्धस्य चास्तित्वमेतावद्भिरेव सवः कर्मसमारम्भैर्ज्ञातं भवति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सर्वे पापादानहेतवः कर्मसमारम्भाः प्रत्याख्यातव्या इति।

—आया० अ १। उ १। सू ६-७। टीका

का कारण होती हैं तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से यह ज्ञान होता है कि ये सभी करण—क्रियाएँ पापोपादान की हेतु हैं, अतः इनका प्रत्याख्यान करना चाहिए।

·६१·३ मन, वचन तथा काय की अपेक्षा करण के ३ भेद :—

तिविहे करणे पन्नत्ते, तंजहा—मणकरणे, वयकरणे, कायकरणे एवं विगलिंदियवज्जं—जाव—वेमाणियाणं। —ठाण० स्था ३। उ १। सू १२४। पृ० २०३

करण के तीन भेद होते हैं, यथा मनकरण, वचनकरण तथा कायकरण। ऐसा विकलेन्द्रिय (एकेन्द्रिय यावत् चतुरिन्द्रिय) को छोड़ कर वैमानिक देवों तक सभी जीवों के सम्बन्ध में जानना।

टीका—मननादिक्रियासु प्रवर्तमानस्यात्मन उपकरणभूतस्तथा तथा परिणामवत्पुद्गलसंघात इति भावः। तत्र मन एव करणं मनःकरणमेवम् इतरे अपि ××× अथवा योगप्रयोगकरणशब्दानाम् मनः प्रभृतिकमभिधेयतया योगप्रयोगकरणसूत्रेष्वभिहितमिति नार्थभेदोऽन्वेषणीयः त्रयाणामप्येषामेकार्थतया आगमे बहुशः प्रवृत्तिदर्शनात्।

मनन, चिन्तन आदि क्रियाओं में प्रवर्तमान आत्मा का जो उपकरणभूत है वह करण ; और तथारूप (मनन चिन्तन रूप) परिणामवाले पुद्गलों का समूह करण है ऐसा भी भाव या तात्पर्य है। वहाँ मन ही करण है अतः मनकरण। इसी प्रकार वचनकरण और कायकरण को भी समझना चाहिए। अथवा योग, प्रयोग तथा करण शब्दों के साथ में मन, वचन, काया शब्द का जो प्रयोग है वह केवल शब्द-भेद है। अतः इनमें अर्थ-भेद का विचार नहीं करना चाहिये। आगमों में इन तीनों का एक ही अर्थ में बहुत जगह पर व्यवहार मिलता है।

·६१·४ आरंभ, संरंभ तथा समारंभ की अपेक्षा करण के ३ भेद :—

तिविहे करणे पन्नत्ते, तंजहा—आरंभकरणे, संरंभकरणे, समारंभकरणे, निरंतरं—जाव—वेमाणियाणं। —ठाण० स्था ३। उ १। सू १२४। पृ० २०३

करण के अन्य अपेक्षा तीन भेद होते हैं, यथा आरम्भकरण, संरम्भकरण तथा समारम्भकरण। ऐसा दण्डक के वैमानिक देव तक जानना।

टीका—प्रकारान्तरेण करणत्रैविध्यमाह ××× आरम्भणमारम्भः—पृथिव्याद्युपमर्दनं तस्य कृतिः—करणं स एव वा करणमित्यारम्भकरणमेवमितरे अपि वाच्ये,

नवरमयं विशेषः—संरम्भकरणं पृथिव्यादिविशेषमेव मनःसंक्लेशकरणं, समारम्भकरणं—तेषामेव संतापकरणमिति, आह च—

संकप्पो संरंभो परितापकरो भवे समारंभो।
आरंभो उद्दवओ सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं॥

प्रकारान्तर से करण के उपर्युक्त तीन भेद कहे गये हैं। पृथ्वी आदि को उपमर्दित करने की क्रिया को अथवा आरम्भ करने को आरम्भकरण कहते हैं। इसी प्रकार संरंभ व समारम्भ के विषय में भी कहना चाहिए। विशेष यह कि पृथ्वी आदि को सन्ताप देने का संकल्प करना संरम्भकरण तथा उनको पीड़ा पहुँचाना समारम्भकरण है। कहा भी है—

किसी जीव की हिंसा करने के अध्यवसाय (संकल्प) संरम्भ है तथा उनको पीड़ा पहुँचाने की प्रवृत्ति समारम्भ है तथा उनके प्राणों का हनन करने का व्यापार आरम्भ है। ये तीनों करण सर्वशुद्ध नयों द्वारा समर्थित हैं।

·९२ क्रिया और दर्शन :—

·९२·१ विवेचन :—

भगवान महावीर ने अपने समय के प्रचलित या पूर्व प्रचलित जितनी धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधाराएँ थीं उनको चार प्रधान भागों में विभक्त किया :—

'चत्तारि वाइसमोसरणा पन्नत्ता, तंजहा—किरियावाई, अकिरियावाई, अन्नाणियावाई, वेणइयावाई'।

चार प्रकार के समवसरण अर्थात् दर्शन या मतवाद होते हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी।

जो व्यक्ति उपर्युक्त अर्थ-तत्त्व-पदार्थों में विश्वास नहीं करते हैं; जो कहते हैं क्रिया-अक्रिया नहीं है यावत् पुण्य-पाप-फल नहीं देते हैं वे अक्रियावादी हैं; उनका अक्रियावाद दर्शन-समूह में समावेश किया जाता है।

जो अज्ञान से ही अपना कल्याण मानते हैं वे अज्ञानवादी कहलाते हैं।

जो किसी भी पर-पदार्थ की विनय या भक्ति में अपना कल्याण मानते हैं वे विनय-वादी हैं।

अस्तिवाद का क्रियावाद तथा नास्तिकवाद का अक्रियावाद नामकरण क्यों हुआ? इस पर किसी भी टीकाकार ने कोई प्रकाश नहीं डाला है। हमारे विचार से जो अपने कल्याण के लिए, मोक्ष के लिए, निर्वाण के लिए क्रिया करने का समर्थन करते थे; वे पदार्थों के अस्तित्व को भी मानते थे अतः उन आस्तिक—स्व-पर कल्याण के लिए क्रिया करने वाले को क्रियावादी कहा गया है और जो स्व-पर के कल्याण के लिए किसी भी प्रकार की क्रिया करने की आवश्यकता नहीं समझते थे क्योंकि वे आत्मादि के अस्तित्व को नहीं मानते थे अतः उनको अक्रियावादी कहा जाता था। उनके नास्तिकवाद में क्रिया भी नहीं है, अक्रिया भी नहीं है ऐसा विशेष वक्तव्य रहता था (देखो ·९२·४ ; ९२·६)।]

·९२·२ दर्शनों के क्रिया या अन्य आधार पर मूल विभाग :—

(क) चत्तारि वाइसमोसरणा पन्नत्ता, तंजहा—किरियावाई, अकिरियावाई, अन्नाणियावाई, वेणइयावाई। —ठाण०स्था ४। उ ४। सू ३४५। पृ० २४८

(ख) किरियाकरियं वेणइयाणुवायं अन्नाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इइ वेयइत्ता उवट्ठिए संजमदीहरायं॥
—सूय० श्रु १। अ ६। गा २७। पृ० ११६

(ग) पुढो य छंदा इह माणवा उ किरियाकिरीयं च पुढो य वायं।
जायस्स वालस्स पकुव्व देहं पवड्ढई वेरमसंजयस्स॥
—सूय० श्रु १। अ १०। गा १। पृ० १२५

(घ) चत्तारि समोसरणाणिमाणी पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव॥
—सूय० श्रु १। अ १२। गा १। पृ० १२७

(च) किरियं अकिरियं विणयं, अन्नाणं च महामुणी।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं, मेयन्ने किं पभासइ॥
—उत्त०। अ १८। गा २३। पृ० १००६

यहाँ क्रियावादी को टीकाकार ने मिथ्यादृष्टि में गणना करके १८० भेद एकान्त दृष्टि के आधार पर बतलाये हैं। क्रियावादी सम्यग्दृष्टि इन १८० भेदों में सम्मिलित नहीं हैं, ये १८० भेद केवल मिथ्यादृष्टि क्रियावादियों के ही हैं।

अक्रियावादी जीव केवल मिथ्यादृष्टि होते हैं ; अज्ञानवादी तथा विनयवादी जीव मिथ्यादृष्टि या सममिथ्यादृष्टि होते हैं।

·६२·४ क्रियावाद / क्रियावादी :—

·६२·४·१ परिभाषा / अर्थ :—

[क्रियावादी की परिभाषा तीन आधार पर बनती है ; (१) अस्ति, (२) कर्म-बंधन का हेतु, (३) कल्याण का हेतु। टीकाकारों ने अधिकांश परिभाषाएँ अस्ति के आधार पर की हैं। हमने तीनों तरह की परिभाषाओं के पाठ संकलित किये हैं।]

·१ अस्ति के आधार पर क्रियावाद :—

(क) से (किं तं) किरियावाई यावि भवई, तंजहा—आहियवाई, आहियपन्ने, आहियदिट्ठी, सम्मावाई, नियावाई, संति परलोगवाई, अत्थि इहलोगे, अत्थि परलोगे, अत्थि माया, अत्थि पिया, अत्थि अरिहंता, अत्थि चक्कवट्टी, अत्थि बलदेवा, अत्थि वासुदेवा, अत्थि सुकड-दुक्कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसे, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवंति, सफले कल्याणपावए, पच्चायंति जीवा, अत्थि नेरइया जाव अत्थि देवा, अत्थि सिद्धि, से एवंवाई एवंपन्ने एवंदिट्ठी छंदरागमइनिविट्ठे यावि भवइ। ×××× से तं किरियावाई।

—दशासु द ६। सू १७। पृ० ६२८

(ख) अत्ताण जो जाणइ जो य लोगं,
गइं च जो जाणइ णागइं च।
जो सासयं जाण असासयं च,
जाइं च मरणं च जणोववायं॥
अहो वि सत्ताण विउट्टणं च,
जो आसवं जाणइ संवरं च।
दुक्खं च जो जाणइ निज्जरं च,
सो भासिउ मरिहइ किरियवायं॥

—सूय० श्रु १। अ १२। गा २०, २१। पृ० १२८

कर्मबंधन का कारण योग है ; मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं और वह क्रियारूप है। कार्यरूप कर्म को माननेवाला कर्म के कारणभूत क्रिया को भी मानता है। क्रिया कर्मबंधन का कारण है जैसा कि आगम में प्रसिद्ध है—"जो जीव समित-परिमाण-पूर्वक कम्पन करता है, विविध भाव से कम्पन करता है, देशान्तर गति करता है, स्पंदन-परिस्पंदन करता है, सभी दिशाओं में गति करता है और अनुतापादि क्रियाओं को करता है तथा जीव उस-उस भाव में परिणमन करता है तथा वह जीव आठ कर्मों को बाँधता है अथवा सात कर्मों को बाँधता है, अथवा छह कर्मों को बाँधता है अथवा एक कर्म को बाँधता है लेकिन वह कर्म का अबंधक नहीं होता है। इसलिए जो कर्मवादी है वही क्रियावादी भी है। इससे आत्मा को अक्रिय मानने वाले सांख्य मत का खण्डन हो जाता है।

यहाँ पर कर्मबंध की हेतुरूप क्रिया को मानने वाले को क्रियावादी कहा गया है।

जीवादि पदार्थ भी है, क्रिया भी है—ऐसा कहने वाले को भी क्रियावादी कहा गया है।

·३ क्रिया—मोक्ष की हेतु के आधार पर क्रियावाद :—

(क) क्रियावादिदर्शनम्, क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तेषां दर्शनम् आगमः क्रियावादिदर्शनम्।

—सूय० श्रु १। अ १। उ २। गा २४। टीका

(ख) क्रियैव परलोकसाधनायाऽलमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तेषां हि दीक्षात एव क्रियारूपाया मोक्ष इत्येवमभ्युपगमः।

— सूय० श्रु १। अ ६। गा २७। टीका

जो क्रिया को मोक्ष का प्रधान अंग मानते हैं अथवा क्रिया ही परलोक साधन के लिए यथेष्ट है उनको आगम में क्रियावादी कहा गया है।

ज्ञानरहित क्रिया से ही स्वर्ग अपवर्ग का साधन हो सकता है अर्थात् ज्ञान बिना क्रिया से हो मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ऐसा कहने वाले को भी क्रियावादी कहा गया है।

·६२·४·२ क्रियावादी के भेद :—

(क) सम्मद्दिट्ठी किरियावाई मिच्छा य सेसगावाई।

—सूय० श्रु १। अ १२। गा १। नि गा १२१

टीका—स तत्रास्त्येव जीव इत्येवं सावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन्, काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणम्, तथा स्वभाव एव, नियतिरेव, पूर्वकृतमेव, पुरुषाकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वम्।

जो जीवाजीवादि नव पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास करता है तथा उनके नित्यानित्य एवं स्व-पर तथा काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा, आदि कारणों को सकलभाव से तथा सापेक्षभाव से—अनेतकांत दृष्टि से मानता है वह सम्यग्दृष्टि क्रियावादी है।

जो जीव आत्मवादी है अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को मानता है तथा जो लोकवादी है अर्थात् षड्द्रव्यात्मक लोक को मानता है तथा जो कर्मवादी है अर्थात् जो जीव का कर्म-पुद्गलों से बंधन होता है इस बन्ध-पुण्य-पाप तत्त्व को मानता है तथा जो क्रियावादी है अर्थात् क्रिया करने से आत्मप्रदेशों का कर्म से बंधन होता है अथवा उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम रूप सद्क्रियाओं से कर्मों का नाश होता है—मोक्ष-परिनिर्वाण प्राप्त होता है—इस तत्त्व को मानता है। ऐसा क्रियावादी—सम्यग्दृष्टि क्रियावादी होता है।

जो जीव क्रिया और ज्ञान दोनो के संयोग से स्वर्ग-अपवर्ग—मोक्ष का साधन मानता है वह सम्यग्दृष्टि क्रियावादी है।

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में रुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टि है तथा उसको सम्यग्दृष्टि क्रियावादी कहा जा सकता है। (देखो क्रमांक '०४'३१)

दशाश्रुतस्कंध दशा ६ सू १७ में (देखो क्रमांक '६२'४) जिस अस्ति क्रियावादी का वर्णन है वह सम्यग्दृष्टि क्रियावादी है।

सूयगडांग श्रु १। अ १२। गा २०, २१ (देखो क्रमांक '६२'४) में जिस क्रियावाद विज्ञाता का वर्णन है वह सम्यग्दृष्टि क्रियावादी है।

सम्यग्दृष्टि जीव क्रियावादी होते हैं (देखो भगवई श ३० उ १)

'६२'४'३'२ सम्यग्दृष्टि क्रियावादी जीव और भव्यता तथा शुक्लपाक्षिकता—

(क) जो किरियावाई सो णियमा भविओ, णियमा सुक्कपक्खिओ अंतोपुग्गल-परिअट्टस्स सिज्झइ। —दशा०। चूर्णी

(ख) किरियावाई भव्वे णो अभव्वे सुक्कपक्खिए णो किण्हपक्खिए।
—ठाण० स्था २। उ २। सू ७६। टीका में उद्धृत

जो (सम्यग्दृष्टि) क्रियावादी है वह नियम से भव्य है; शुक्लपाक्षिक है तथा अर्धपुद्गल परावर्त काल में सिद्ध होता है। क्रियावादी अभव्य तथा कृष्णपाक्षिक नहीं होता है।

अकिरियावाई वि, अन्नाणियवाई वि, नो वेणइयवाई। एवं पुढविकाइयाणं जं अत्थि तत्थ सव्वत्थ वि एयाइं दो मज्झिल्लाइं समोसरणाइं जाव अणागारोवउत्ता वि। एवं जाव—चउरिंदियाणं। सव्वट्ठाणेसु एयाइं चेव मज्झिल्लगाइं दो समोसरणाइं। सम्मत्तनाणे वि एयाणि चेव मज्झिल्लगाइं दो समोसरणाइं।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा जीवा। नवरं जं अत्थि तं भाणियव्वं।

मणुस्सा जहा जीवा तहेव निरवसेसं।

वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

—भग० श ३० । उ १ । प्र २ से ६ । पृ० ६०५-६०६

जीव क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी होते हैं।

सलेशी, कृष्णलेशी, यावत् शुक्ललेशी जीव चारों प्रकार के वादी होते हैं। अलेशी जीव केवल क्रियावादी होते हैं।

कृष्णपाक्षिक जीव क्रियावादी नहीं होते हैं, अन्यवादी होते हैं; शुक्लपाक्षिक जीव चारों वादी होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव केवल क्रियावादी होते हैं; मिथ्यादृष्टि जीव क्रियावादी नहीं होते हैं, अन्यवादी होते हैं; सममिथ्यादृष्टि जीव क्रियावादी तथा अक्रियावादी नहीं होते हैं, अज्ञानवादी तथा विनयवादी होते हैं।

ज्ञानी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी जीव केवल क्रियावादी होते हैं; अज्ञानी, मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी, विभंग-अज्ञानी जीव क्रियावादी नहीं होते है, अन्यवादी होते हैं।

आहार-भय मैथुन-परिग्रह संज्ञा में उपयोगवाले जीव चारों वादी होते हैं; संज्ञा में उपयोग रहित जीव केवल क्रियावादी होते हैं।

सवेदक, स्त्री-पुरुप-नपुंसक वेदक जीव चारों वादी होते हैं; अवेदक जीव केवल क्रियावादी होते हैं।

सकपायी, क्रोध-मान-माया-लोभ कपायी जीव चारों वादी होते हैं; अकषायी जीव केवल क्रियावादी होते हैं।

सयोगी, मन-वचन-काययोगी जीव चारों वादी होते हैं; अयोगी जीव केवल क्रियावादी होते हैं।

साकार-अनाकारोपयोग वाले जीव चारों वादी होते हैं।

नारकी जीव चारों वादी होते हैं।

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण नारकी में पाये जाँय उन-उन

कण्हलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं पकरेंति— पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति ×××। एवं नीललेस्सा वि, काउलेस्सा वि। (प्र १४)

तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं पकरेंति— पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं वि पकरेंति, देवाउयं वि पकरेंति। जइ देवाउयं पकरेंति तहेव। ×××। एवं पम्हलेस्सा वि, सुक्कलेस्सा वि नायव्वा। (प्र १५-१६)

अलेस्सा णं भंते ! जीवा किं नेरइयाउयं— पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, नो मणुस्साउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति। (प्र १७)

×××। सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा। (प्र १८)

सम्मदिट्ठी णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं जाव पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं वि पकरेंति, देवाउयं वि पकरेंति। ×××। (प्र १९)

णाणी आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य ओहिनाणी य जहा सम्मदिट्ठी। (प्र २०)

मणपज्जवणाणी णं भंते ! जाव पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, नो मणुस्साउयं पकरेंति, देवाउयं पकरेंति। जइ देवाउयं पकरेंति, किं भवणवासि जाव पुच्छा। गोयमा ! नो भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, नो वाणमंतराउयं पकरेंति, नो जोइसियाउयं पकरेंति, वेमाणियदेवाउयं पकरेंति। केवलनाणी जहा अलेस्सा ×××। (प्र २१-२२)

सन्नासु चउसु वि जहा सलेस्सा। नो सन्नोवउत्ता जहा मणपज्जवणाणी। सवेदगा जाव नपुंसगवेदगा जहा सलेस्सा।

अवेदगा जहा अलेस्सा।

सकसायी जाव लोभकसायी जहा सलेस्सा।

अकसायी जहा अलेस्सा।

सजोगी जाव कायजोगी जहा सलेस्सा। अजोगी जहा अलेस्सा। सागारोवउत्ता य अणागारोवउत्ता य जहा सलेस्सा (प्र २२)

किरियावाई णं भंते ! नेरइया किं नेरइयाउयं (जाव पकरेंति) पुच्छा।

संज्ञाओं में उपयोगवाले क्रियावादी जीव, सवेदक, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदक क्रियावादी जीव, सकषायी—क्रोध-मान-माया-लोभ कषायी क्रियावादी जीव, सयोगी, मन-वचन-काययोगी क्रियावादी जीव तथा साकारोपयोगवाले अनाकारोपयोगवाले क्रियावादी जीव मनुष्य तथा देवता का आयुष्य ही बाँधते हैं, नारक तथा तिर्यंचयोनिक जीव का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

मनःपर्यवज्ञानी क्रियावादी जीव, और संज्ञाओं में उपयोग रहित क्रियावादी जीव केवल वैमानिक देवता का आयुष्य बाँधते हैं।

अलेशी क्रियावादी जीव केवलज्ञानी क्रियावादी जीव, अवेदक क्रियावादी जीव, अकषायी क्रियावादी जीव तथा अयोगी क्रियावादी जीव किसी भी प्रकार का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

क्रियावादी नारक जीव, मनुष्य का आयुष्य ही बाँधते हैं, नारकी, तिर्यंचयोनिक जीव तथा देवता का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण क्रियावादी नारकी में पाये जायँ उन-उन विशेषणों सहित क्रियावादी नारकी जीव मनुष्य का आयुष्य ही बाँधते हैं।

क्रियावादी भवनपति देव मनुष्य का आयुष्य ही बाँधते हैं, नारकी तिर्यंचयोनिक जीव तथा देवता का आयुष्य नहीं बाँधते हैं ; सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण क्रियावादी भवनपति देवों में पाये जायँ उन-उन विशेषणों सहित क्रियावादी भवनपति देव केवल मनुष्य का आयुष्य ही बाँधते हैं।

क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव केवल वैमानिक देवता का आयुष्य बाँधते हैं ; सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों में पाये जायँ उन-उन विशेषणों सहित क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव केवल वैमानिक देवता का आयुष्य बाँधते हैं ; परन्तु कृष्ण-नील-कापोतलेशी क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक जीव किसी भी प्रकार का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

क्रियावादी मनुष्य केवल वैमानिक देवता का आयुष्य बाँधते हैं, सलेशी, तेजोलेशी यावत् शुक्ललेशी क्रियावादी मनुष्य, शुक्लपाक्षिक क्रियावादी मनुष्य, समदृष्टि क्रियावादी मनुष्य, ज्ञानी, मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यवज्ञानी क्रियावादी मनुष्य, आहारादि चारों संज्ञाओं में उपयोग वाले तथा संज्ञा में उपयोग रहित क्रियावादी मनुष्य, सवेदक, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदक क्रियावादी मनुष्य, सकषायी, क्रोध-मान-माया-लोभकषायी क्रियावादी मनुष्य, सयोगी, मन-वचन-काययोगी क्रियावादी मनुष्य तथा साकारोपयोग वाले—अनाकारोपयोग वाले क्रियावादी मनुष्य केवल वैमानिक देवता का आयुष्य बाँधते हैं।

मान-माया-लोभ कषायी तथा अकषायी क्रियावादी जीव, सयोगी, मनोयोगी यावत् काययोगी तथा अयोगी क्रियावादी जीव, साकारोपयोग-अनाकारोपयोगवाले क्रियावादी जीव भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

क्रियावादी नारकी भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

सविशेषण क्रियावादी नारकी के संबंध में जैसा सविशेषण औघिक क्रियावादी जीव के संबंध में कहा वैसा ही कहना लेकिन नारकी के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना।

क्रियावादी भवनपति देव भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

सविशेषण क्रियावादी भवनपति देवों के सम्बन्ध में जैसा सविशेषण औघिक क्रियावादी जीव के संबंध में कहा वैसा ही कहना लेकिन भवनपति देव के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना।

क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

सविशेषण क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के संबंध में जैसा सविशेषण औघिक क्रियावादी जीव के संबंध में कहा वैसा ही कहना, लेकिन क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना।

क्रियावादी मनुष्य भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

सविशेषण औघिक जीव के संबंध में जैसा कहा वैसा ही सभी विशेषण सहित क्रियावादी मनुष्य जीव के संबंध में जानना।

क्रियावादी वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देव भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

सविशेषण क्रियावादी वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों के संबंध में जैसा सविशेषण औघिक क्रियावादी जीव के संबंध में कहा वैसा ही कहना, लेकिन क्रियावादी वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना।

·६२·४·३·६ अनंतरोपपन्नक क्रियावादी (समदृष्टि) और जीवदंडक :—

अणंतरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया किं किरियावाई—पुच्छा। गोयमा ! किरियावाई वि, जाव वेणइयवाई वि। (प्र १)

सलेस्सा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा नेरइया किं किरियावाई ? एवं चेव, एवं जहेव पढमुद्देसे नेरइयाणं वत्तव्वया तहेव इह वि भाणियव्वा। नवरं जं जस्स अत्थि अणंतरोववन्नगाणं नेरइयाणं तं तस्स भाणियव्वा। एवं सव्व जीवाणं जाव वेमाणियाणं। नवरं अणंतरोववन्नगाणं जं जहिं अत्थि तं तहिं भाणियव्वं।

—भग० श ३०। उ २। प्र १,२। पृ० ९०९

अनन्तरोपन्नक नारकी क्रियावादी भी होते हैं, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी भी होते हैं।

जैसी वक्तव्यता औधिक क्रियावादी जीव के सम्बन्ध में (क्रमांक '६२'४'३) कही गई है वैसी ही वक्तव्यता क्रियावादी अनन्तरोपपन्नक जीव के सम्बन्ध में कहना चाहिए इतना विशेष कि क्रियावादी अनन्तरोपपन्नक जीव में सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से विवेचन करना चाहिए।

'६२'४'३'७ अनंतरोपपन्नक क्रियावादी (समदृष्टि) जीव और आयुष्य का बंधन

किरियावाई णं भंते ! अणंतरोववन्नगा नेरइया किं नेरइयाउयं पकरेंति—पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, नो मणुस्साउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति। XXX। सलेस्सा णं भंते ! किरियावाई अणंतरोववन्नगा नेरइया किं नेरइयाउयं—पुच्छा। नो नेरइयाउयं पकरेंति, जाव—नो देवाउयं पकरेंति ! एवं जाव—वेमाणिया। एवं सव्वट्ठाणेसु वि अणंतरोववन्नगा नेरइया न किंचि वि आउयं पकरेंति जाव—अणागारोवउत्तत्ति। एवं जाव—वेमाणिया नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं। (प्र ३-४)

—भग० श ३०। उ २। प्र ३४। पृ० ६०६

कोई भी वादवाले अनन्तरोपपन्नक जीव किसी भी प्रकार का आयुष्य नहीं बांधते हैं।

'६२'४'३'८ अनंतरोपपन्नक (समदृष्टि) क्रियावादी जीव और भवसिद्धकता—

किरियावाई णं भंते ! अणंतरोववन्नगा नेरइया किं भवसिद्धिया, अभवसिद्धिया ? गोयमा ! भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया। XXX। सलेस्सा णं भंते ! किरियावाई अणंतरोववन्नगा नेरइया किं भवसिद्धिया, अभवसिद्धिया ? गोयमा ! भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया। एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए उद्देसए नेरइयाणं वत्तव्वया भणिया तहेव इह वि भाणियव्वा जाव—अणागारोवउत्तत्ति। एवं जाव वेमाणियाणं। नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं। इमं से लक्खणं - जे किरियावाई सुक्कपक्खिया—सम्मामिच्छादिट्ठीया एए सव्वे भवसिद्धिया नो अभवसिद्धिया, सेसा सव्वे भवसिद्धिया वि, अभवसिद्धिया वि।

—भग० श ३०। उ० २। प्र ५ व ७। पृ० ६०६-१०

अनन्तरोपपन्नक क्रियावादी जीव मात्र भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

'९२'४'३'९ परंपरोपपन्नक क्रियावादी (समदृष्टि) जीव और जीवदंडक, आयुष्य-वंधन और भवसिद्धिकता :—

परंपरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया किरियावाई० ? एवं जहेव ओहिओ उद्देसओ तहेव परंपरोववन्नएसु वि नेरइयादीओ तहेव निरवसेसं भाणियव्वं, तहेव तियदंडगसंगहिओ ।

—भग० श ३० । उ ३ । प्र १ । पृ० ६१०

परंपरोपपन्नक क्रियावादी जीव के सम्बन्ध में वैसी ही वक्तव्यता जाननी चाहिए जैसी औघिक क्रियावादी जीव के सम्बन्ध में (देखो '९२'४'३'३-४) वक्तव्यता कही गई है ।

'९२'४'३'१० अनंतरावगाढ-अनंतराहारक-अनंतरपर्याप्त क्रियावादी (समदृष्टि) जीव और जीवदंडक, आयुष्य का वंधन और भवसिद्धिकता :—

'९२'४'३'११ परंपरावगाढ-परंपराहारक-परंपरपर्याप्त क्रियावादी (समदृष्टि) जीव और जीवदंडक, आयुष्य का वंधन और भवसिद्धिकता :—

'९२'४'३'१२ चरम-अचरम क्रियावादी (समदृष्टि) जीव और जीवदंडक, आयुष्य-वंधन और भवसिद्धिकता :—

एवं एएणं कमेणं जच्चेव वंधिसए उद्देसगाणं परिवाडी सच्चेव इहं पि जाव—अचरिमो उद्देसो । नवरं अणंतरा चत्तारि वि एक्कगमगा, परंपरा चत्तारि वि एक्कगमएणं । एवं चरिमा वि, अचरिमा वि एवं चेव । नवरं (अचरिमे) अलेस्सी केवली अजोगी न भन्नइ, सेसं तहेव ।

—भग० श ३० । उ ४-११ । पृ० ६१०

अनन्तरावगाढ, अनन्तराहारक, अनन्तरपर्याप्त क्रियावादी समदृष्टि जीव का गमक अनन्तरोपपन्नक क्रियावादी जीव की तरह कहना अर्थात् क्रियावादत्व, आयुष्य का वंधन तथा भव-अभवसिद्धिकता के सम्बन्ध में वैसा ही वक्तव्य कहना जैसा अनन्तरोपपन्नक क्रियावादी जीव के सम्बन्ध में कहा गया है (देखो क्रमांक '९२'४'३'६-८) ।

परम्परावगाढ़, परम्पराहारक, परम्परपर्याप्त क्रियावादी समदृष्टि जीव का गमक परम्परोपपन्नक क्रियावादी जीव की तरह कहना ।

चरमक्रियावादी जीव का वक्तव्य परम्परोपपन्नक क्रियावादी जीव की तरह कहना ।

अचरम क्रियावादी जीव का वक्तव्य औघिक क्रियावादी जीव की तरह कहना लेकिन अलेशी, केवली तथा अयोगी विशेषणों सहित विवेचन नहीं करना ।

·६२·५ क्रियावादी मिथ्यादृष्टि :—

·६२·५·१ परिभाषा / अर्थ :—

(क) जीवादिसद्भावपदार्थोस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीति क्रियावादिनस्ते चैवं वादित्वान्मिथ्यादृष्टयः ××× । स तत्रास्त्येव जीव इत्येवं सावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन् काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणम्, तथा स्वभाव एव, नियतिरेव, पूर्वकृतमेव, पुरुषाकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वम् ।

—सूय० श्रु १ । अ १२ । गा १ । टीका

(ख) "क्रियैव फलदा पुंसा, न ज्ञानं फलदं मतम्" इत्येवं क्रियैव फलदायित्वेनाभ्युपगताः क्रियावादमाश्रिताः ।

—सूय० श्रु १ । अ १० । गा १७ । टीका

(ग) ये क्रियात एव ज्ञाननिरपेक्षाया दीक्षादिलक्षणाया मोक्षमिच्छन्ति । ते एवमाख्यान्ति । —सूय० श्रु १ । अ १२ । गा ११ । टीका

(घ) क्रियां ज्ञानादिरहितामेकामेव स्वर्गापवर्गसाधनत्वेन वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः । —सूय० श्रु २ । अ २ । सू २५ । टीका

जो जीवाजीवादि के अस्तित्व को मानता है लेकिन उनके नित्यानित्यत्व तथा स्व-पर में तथा काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा आदि को निरपेक्ष कारण—एकान्त भाव से मानता है वह एकान्त भाव होने से मिथ्यादृष्टि क्रियावादी है।

जो ज्ञानरहित या ज्ञाननिरपेक्ष दीक्षादि क्रियाओं से स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति हो सकती है—ऐसा मानता है ; वह क्रियावादी मिथ्यादृष्टि है। वह क्रियावादी एकान्त भाव होने के कारण मिथ्यादृष्टि क्रियावादी है। क्योंकि वह एकान्त भाव से क्रिया को मोक्ष का साधन मानता है।

·६२·५·२ क्रियावादी मिथ्यादृष्टि के भेद :—

(क) तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए. तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुय-सयाइं भवंतीति मक्खायाइं, तंजहा किरियावाईणं, अकिरियावाईणं, अन्नाणियवाईणं, वेणइयवाईणं ते वि परिनिव्वाणमाहंसु ते वि, (परि-) मोक्खमाहंसु तेवि लवंति सावगा ते वि लवंति सावइत्तारो।

—सूय० श्रु २ । अ २ । सू २५ । पृ० १५८

टीका—क्रियावादिनामशीत्युत्तरशतं अक्रियावादिनां चतुरशीतिरज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्वैनयिकानां द्वात्रिंशदिति। तत्र सर्वेऽप्येते मौलास्तस्तिष्याश्च प्रवदनशीलत्वात्प्रावादुकास्तेषां च भेदसंख्या परिज्ञानोपाय आचार एवाभिहित इति नेह प्रतन्यते।

(ख) असिसयं किरियाणं, अकिरियाणं च होइ चुलसीई।
अन्नाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च वतीसा॥

—सूय० श्रु १। अ १२। गा १। नि गा ११६

(ग) क्रियावादिनामशीत्यधिकं शतं भवति तच्चानया प्रक्रियया। तद्यथा। जीवादयो नव पदार्थाः परिपाट्या स्थाप्यन्ते। तदधः स्वतः परत इति भेदद्वयं ततोऽप्यधो नित्यानित्यभेदद्वयं ततोऽप्यधस्तात्परिपाट्या कालस्वभावनियतीश्वरात्मपदानि पंच व्यवस्थाप्यन्ते। ततश्चैवं चारणिका प्रक्रमः। तद्यथा। अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः। तथाऽस्ति जीवःस्वतोऽनित्यः कालत एव। एवं परतोपि भंगद्वयम्। सर्वेऽपि च चत्वारः कालेन लब्धाः। स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चत्वार एव लभन्ते। ततश्च पंचापि चतुष्काविंशतिर्भवति। सापि जीवपदार्थेन लब्धा। एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते। ततश्च नवविंशतयो मीलिताः क्रियावादिनामशीत्युत्तरशतं भवति।

—सूय० श्रु १। अ १२। गा १। टीका

आगम में क्रियावादादि प्रावादुक मिथ्यादृष्टि वादों की संख्या ३६३ बतलाई गयी है उनमें क्रियावादी की संख्या १८० बतलायी गई है।

उपर्युक्त क्रियावाद के १८० भेद टीकाकार के अनुसार नव तत्त्वों के आधार पर प्रक्रिया से होते हैं।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, मोक्ष—इन नव पदार्थों के स्व और पर की अपेक्षा अठारह भेद हुए ; इन अठारह के नित्य-अनित्य की अपेक्षा से छत्तीस भेद हुए। इनमें से प्रत्येक के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा आदि कारणों की अपेक्षा पाँच-पाँच भेद करने से १८० भेद हुए।

यथा—जीव स्वरूप से काल की अपेक्षा नित्य है, जीव स्वरूप से ईश्वर की अपेक्षा नित्य है। इसी प्रकार जीव स्वरूप से आत्मा, नियति, स्वभाव की अपेक्षा नित्य है। इस प्रकार नित्यपद से पाँच भेद होते हैं ; नित्यपद की तरह अनित्य पद के भी पाँच भेद होते हैं। इस प्रकार जीव के स्वरूप से नित्य, अनित्य की अपेक्षा दस भेद होते हैं। जिस प्रकार जीव के स्वरूप से नित्य-अनित्य की अपेक्षा दस भेद होते हैं उसी प्रकार जीव के पररूप से नित्य-अनित्य की अपेक्षा दस भेद होते हैं।

इस तरह जीवादि नव तत्त्वों में से प्रत्येक के बीस-बीस भेद हुए और कुल मिथ्या-दृष्टि क्रियावादी के १८० भेद प्रक्रिया से हुए।

अभयदेवसूरि ने भी (ठाण० स्था ४। उ ४। सू ३४५ की टीका) मिथ्यादृष्टि क्रियावादी के इसी प्रकार १८० भेद किये हैं।

'६२'५'३ क्रियावादी मिथ्यादृष्टि के सिद्धांत :—

(क) अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइ दरिसणं।
कम्म चिन्तापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं ॥
जाणं काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसइ।
पुट्ठो संवेयइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥

—सूय० श्रु १। अ १। उ २। गा० २४-२५। निगा० १०३

(ख) कम्मं चयं न गच्छइ चउव्विहं भिक्खुसमयम्मि।

—सूय० श्रु १। अ १। उ २। नि गा ३१

टीका—तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचिताख्यं भेदद्वयं साक्षादुपात्तम्। शेषं त्वीर्यापथस्वप्नांतिकभेदद्वयं च शब्देनोपात्तम्।

मिथ्यादृष्टियों का क्रियावादी दर्शन कर्मबंधन की चिन्ता से रहित तथा संसार परिभ्रमण का प्रवर्द्धक है।

इन क्रियावादियों का मत है कि चार प्रकार की हिंसक क्रियाओं से कर्म का बन्धन नहीं होता है, यथा—

(१) मन में हिंसा के भाव रहते हुए भी काया से हिंसा का न होना।

(२) मन में हिंसा के भाव न रहते हुए भी काया से हिंसा का होना।

(३) जाना-आना-गमनागमन मात्र से होने वाली हिंसा।

(४) स्वप्न में होनेवाली वैचारिक हिंसा।

उनका कथन है कि इन चार प्रकार की हिंसाओं से कर्म का आत्मा के साथ स्पर्श-मात्र अनुभव होता है परन्तु लेप और बन्धन नहीं होता है।

(ग) संतिमे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं।
अभिम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया ॥
एए उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं।
एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छई ॥
पुत्तं पिया समारब्भ, अहारेज्ज असंजए।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मुणा नोवलिप्पइ ॥

—सूय० श्रु १। अ १। उ २। गा २६ से २८। पृ० १०३

पाप करने के तीन आदान हैं, यथा—(१) प्राणियों को स्वयं मारना, (२) अन्य द्वारा मरवाना, (३) मारने का अनुमोदन करना।

इन मिथ्यादृष्टि क्रियावादियों की मान्यता है कि उपर्युक्त तीनों आदानों से हिंसा करते हुए भी यदि व्यक्ति के भाव विशुद्ध हैं अर्थात् प्राणी के प्रति द्वेष नहीं है तो उसके पापकर्म का बन्धन नहीं होता और वह निर्वाण—मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस पर दृष्टांत देते हुए वे कहते हैं कि—जैसे यदि कोई गृहस्थ पिता अपने पुत्र को विना द्वेष से मारकर उसका भोजन करता है तो वह कर्म से लेपायमान नहीं होता है वैसे ही मेधावी (रागद्वेष रहित) जीव हिंसा करता हुआ भी कर्म से लेपायमान नहीं होता है।

'६२'६ अक्रियावादी

'६२'६'१ परिभाषा / अर्थ—

(क) अकिरियावाई यावि भवइ, नाहियवाई, नाहियपण्णे, नाहियदिट्ठी, णो सम्मावाई, णो णितियावाई, ण संति परलोगवाई, णत्थि इहलोए, णत्थि परलोए, णत्थि माया, णत्थि पिया, णत्थि अरिहंता, णत्थि चक्कवट्टी, णत्थि वलदेवा, णत्थि वासुदेवा, णत्थि णिरया, णत्थि णेरइया, णत्थि सुक्कडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसो, णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, णो दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवंति, अफले कल्लाणपावए, णो पच्चायन्ति जीवा, णत्थि णिरय, णत्थि सिद्धि, से एवंवाई, एवं पण्णे, एवंदिट्ठी, एवं छंदरागमणिविट्ठे यावि भवई।

—दसासु। द ६। सू २। पृ० ६२६

(ख) णो किरियमाहंसु अकिरियवाई।

—सूय० श्रु १। अ १२। गा ४ पृ० १२८

(ग) नत्थि त्ति (अ) किरियावाई य।

—सूय० श्रु० १। अ १२। गा १। नि गा ११८

(घ) नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिनोऽक्रियावादिनस्तेप्यसद्भूतार्थ-प्रतिपादनान्मिथ्यादृष्टय एव।

—सूय० श्रु १। अ १२। गा १। टीका

(च) अक्रियां जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषान्तेऽक्रिया-वादिनः।

—भग०। श २६। उ २। टीका

(छ) अक्रियैव परलोकसाधनायाऽलमित्येवं वदितुं शीलं येषान्तेऽक्रियावादिनः।

—भग० श ३० । उ १ । टीका

(ज) तन्निषेपादक्रियावादिनो नास्तिका इत्यर्थः।

—ठाण० स्था ४ । उ ४ । सू ३४५ । टीका

(झ) क्रिया—अस्तीतिरूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी सैवायथावस्तुविषयतया कुत्सिता अक्रिया नञः कुत्सार्थत्वात्तामक्रियां वदन्तीत्येवं शीला अक्रियावादिनो, यथावस्थितं हि वस्त्वनेकान्तात्मकं तन्नास्त्येकान्तात्मकमेव चास्तीति प्रतिपत्तिमन्त इत्यर्थः, नास्तिका इति भावः, एवंवादित्वाच्चैते परलोकसाधकक्रियामपि परमार्थतो न वदन्ति, तन्मतवस्तुसत्त्वे हि परलोकसाधकक्रियाया अयोगादित्यक्रियावादिन एव ते इति।

—ठाण० स्था ८ । सू ६०७ । टीका

जो व्यक्ति नास्तिकवादी, नास्तिक प्रज्ञावाला, नास्तिक दृष्टिवाला है तथा सम्यग्-वादी नहीं है तथा जो अनित्य (क्षणिक) वादी है, परलोक की सत्ता नहीं मानने वाला है ; जो कहता है—इहलोक नहीं है, परलोक नहीं है, माता-पिता नहीं है, अरिहंत-चक्रवर्ती-बलदेव-वासुदेव नहीं हैं, नरक नहीं है, नारकी नहीं है, सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल-विशेष नहीं है, अच्छे कर्मों का अच्छा फल नहीं है, बुरे कर्मों का बुरा फल नहीं है, पुण्य-पाप का फल नहीं होता है, जीव संसार में परिभ्रमण नहीं करता है, नरकादि गति नहीं है, सिद्धि नहीं है ऐसा जिसका वाद (दर्शन), प्रज्ञा और दृष्टि है तथा ऐसा जिसका अभिप्राय, प्रतीति, मति और प्रवृत्ति है—वह अक्रियावादी है।

अक्रियावादी—क्रिया है ही नहीं—ऐसा मानता है अर्थात् जो कुछ होता है वह स्वयमेव होता है, उसमें क्रिया तथा क्रिया के फल की कोई बात नहीं है।

अक्रियावादी आत्मादि किसी का भी अस्तित्व नहीं मानता है और वह प्रत्येक पदार्थ के लिए नहीं है—ऐसा कहता है।

जीवाजीवादि पदार्थ नहीं है ऐसा अक्रियावादी कहता है तथा असद्भूत पदार्थ के प्रतिपादन के कारण वह मिथ्यादृष्टि है।

अक्रिया परलोक साधन के लिए यथेष्ट है, ऐसा कहने वाला अक्रियावादी है।

·६२·६·२ अक्रियावादी के भेद :—

·१ आठ भेद

अट्ठ अकिरियावाई पन्नत्ता, तंजहा—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, निम्मितवाई, सायवाई, समुच्छेदवाई, णियावाई, ण संति परलोगवाई।

—ठाण० स्था ८ । सू ६०७ । पृ० २८८

अक्रियावादियों के आठ भेद होते हैं, यथा—१—एकवादी, २—अनेकवादी, ३—मितवादी, ४—निर्मितवादी, ५—सातवादी, ६—समुच्छेदवादी, ७—नित्यवादी तथा ८—नास्तिक परलोकवादी।

·२ चौरासी भेद :—

(क) तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए, तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुय-सयाइं भवंतीति मक्खायाइं, तंजहा—किरियावाई-णं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं ते वि परिनिव्वाणमाहंसु तेवि (परि-) मोक्खमाहंसु तेवि लवंति सावगा, तेवि लवंति सावइत्तारो।

—सूय० श्रु २। अ २। सू २५। पृ० १५८

टीका—क्रियावादिनामशीत्युत्तरशतं अक्रियावादिनां चतुरशीतिरज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्वैनयिकानां द्वात्रिंशदिति। तत्र सर्वेऽप्येते मौलास्तस्तिष्याश्च प्रवदन-शीलत्वात्प्रावादुकास्तेषां च भेदसंख्या परिज्ञानोपाय आचार एवाभिहित इति नेह प्रतन्यते।

(ख) असिसयं किरियाणं, अकिरियाणं च होइ चुलसीई।
अन्नाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बतीसा॥

—सूय० श्रु १। अ १२। गा १। निगा ११६

टीका—इदानीमक्रियावादिनां न सन्त्येव जीवादयः पदार्था इत्येवमभ्युपगम-वतामनेनोपायेन चतुरशीतिरवगंतव्या। तद्यथा। जीवादीन् पदार्थान् सप्ताभिलिख्य तदधः स्वपरभेदद्वयं व्यवस्थाप्यम्। ततोऽप्यधः कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्म-पदानि षड्व्यवस्थाप्यानि। भंगकानयनोपायस्त्वयम्। नास्ति जीवः स्वतः कालतः। तथा नास्ति जीवः परतः कालतः। एवं यदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः प्रत्येकं द्वौ द्वौ भंगकौ लभ्येते। सर्वेऽपि द्वादश। तेऽपि च जीवादिपदार्थसप्तकेन गुणिताश्चतुर-शीतिरिति।

आगम में क्रियावादी प्रावादुक मिथ्यादृष्टि चारों वादों की संज्ञा ३६३ बतलाई गई है उनमें अक्रियावादी की संख्या ८४ बतलाई गई है।

उपर्युक्त अक्रियावाद के ८४ भेद टीकाकार के अनुसार जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष—इन सात तत्त्वों के आधार पर प्रक्रिया—गणना से होते हैं।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—इन सात तत्त्वों के स्व-पर की

अपेक्षा चौदह भेद हुए। इनमें से प्रत्येक के काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा— इन छः कारणों की अपेक्षा छः-छः भेद करने से कुल ८४ भेद हुए।

जैसे—जीव स्वतः काल की अपेक्षा नहीं है, जीव परतः काल की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार काल की अपेक्षा जीव के दो भेद हैं। काल की तरह यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा की अपेक्षा जीव के दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार जीव के स्व-पर के काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा की अपेक्षा १२ भेद होते हैं।

जिस प्रकार जीव के स्व-पर से काल-यदृच्छा-नियति-स्वभाव-ईश्वर-आत्मा की अपेक्षा १२ भेद होते हैं ; उसी प्रकार अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष में से प्रत्येक के बारह-बारह भेद होते हैं। कुल अक्रियावादी के ८४ भेद प्रक्रिया से हुए।

अभयदेवसूरि ने भी (ठाण० स्था ४। उ ४। सू ३४५ की) टीका अक्रियावादी के उक्त प्रकार से ८४ भेद किये हैं।

·३ विशिष्ट भेद :—

[आगमों में स्थान-स्थान पर विभिन्न प्रकार के अक्रियावादियों का वर्णन मिलता है। उपर्युक्त आठ भेदों के सिवाय अन्य अक्रियावादियों का संकलन हमने यहाँ किया है]

·९ वामलोक वादी

·१० तज्जीव तच्छरीरवादी

·११ पंचस्कंधवादी

·१२ धातुवादी

·१३ पंचमहाभूतवादी

·१४ अक्रिय आत्मवादी

·१५ नियतिवादी

·६२·६·३ भेदों की परिभाषा / अर्थ :—

१ एकवादी—आत्माऽद्वैतवादी—

परिभाषा / अर्थ—

तत्रैक एवात्मादिरर्थ इत्येवं वदतीत्येकवादी।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

जो समस्त विश्व में व्याप्त एक ही आत्मा को मानते थे उनको एकवादी कहा जाता था।

एकवादी के मत का प्रतिपादन :—

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणाहि दीसइ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ॥

—सूय० श्र १ । अ १ । उ १ । गा ६ । पृ० १०१

जिस प्रकार एक ही पृथ्वीस्तूप नाना प्रकार का दिखाई देता है उसी प्रकार यह आत्मस्वरूप सम्पूर्ण लोक में अलग-अलग प्रतिभास होता है लेकिन वास्तविकता में चेतन-अचेतनरूप सम्पूर्ण लोक एक ही आत्मा है।

टीका—पृथिव्येव स्तूपा पृथिव्या वा स्तूपः पृथिवीसंघातावयवी। स चैकोपि यथा नानारूपः सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते। न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवत्येवमुक्तरीत्या। भो-इत्यादिपरामंत्रणं कृत्स्नोपि लोकश्चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्तते। इदमत्र हृदयम्। एक एव ह्यात्मा विद्वान् ज्ञानपिण्डः पृथिव्याद्याकारतया नाना दृश्यते न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवति। तथा चोक्तं—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा वहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्।

यद्यपि पृथ्वी एक ही स्तूप है फिर भी अवयव रूप में अलग-अलग दिखाई देता है। पृथ्वी एक होने पर भी नदी, समुद्र, पर्वत, नगर, सन्निवेश आदि इसके विचित्र रूप परिलक्षित होते हैं। नीचा, ऊँचा, मृदु, कठिन, लाल, पीला आदि भेद से भी विभिन्न रूप में दिखाई देता है लेकिन वास्तव में पृथ्वी-तत्त्व के उक्त प्रकार से भेद नहीं होते हैं। यह एक परामंत्रण उदाहरण मात्र है। इसी प्रकार चेतन-अचेतनमय समस्त लोक एक आत्मरूप है। यह हार्द है। एक आत्मा, विद्वान्, ज्ञानपिण्ड पृथ्वी के अवयव की तरह भिन्न-भिन्न परिलक्षित होता है लेकिन वास्तविकता में वह एक ही आत्मतत्त्व है उसके भिन्न-भिन्न भेद नहीं होते हैं। जैसे कहा है—एक ही आत्मा सर्वभूतों में स्थित है, वह जल में चन्द्रमा के प्रतिविम्ब की तरह एक या अनेक रूप में परिदर्शित होती है।

तत्रैक एवात्मादिरर्थ इत्येवं वदतीत्येकवादी, दीर्घत्वं च प्राकृतत्वादिति, उक्तं चैतन्मतानुसारिभिः—"एक एवहि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा वहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ १॥ इति अपरस्त्वात्मैवास्ति नान्यदिति प्रतिपन्नः, तदुक्तम्—"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। यदेजति यन्नेजति यद् दूरे यद्अन्तिके। यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यतः इति (इत्यात्मा-

द्वैतवादः), तथा—"नित्यज्ञानविवर्त्तोऽयं, क्षितितेजो जलादिकः। आत्मा तदात्मकश्चेति, संगिरन्ते परे पुनः ॥ १ ॥ इति। शब्दाद्वैतवादी तु सर्वंशब्दात्मकमिदमित्येकत्वं प्रतिपन्नः, उक्तं च—"अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्त्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥२॥ इति, अथवा सामान्यवादी सर्वमेवैकं प्रतिपद्यते, सामान्यस्यैकत्वादित्येवमनेकधैकवादी, अक्रियावादिता चास्य सद्भूतस्यापि तदन्यस्य नास्तीति प्रतिपादनात् आत्माद्वैतपुरुषाद्वैतशब्दाद्वैतादीनां युक्तिभिरघटमानानामस्तित्वाभ्युपगमाच्च।

—ठाण० स्था ७। सू ६०७। टीका

जो चेतन-अचेतन रूप विश्व में व्याप्त एक आत्मा का प्रतिपादन करते हैं वे एकवादी हैं। एकवादी कई प्रकार के हैं, उनमें से आत्माद्वैतवादी का कथन है कि प्रकृत्यनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक आत्मा व्याप्त है—जैसे कहा है—एक ही आत्मा सर्वभूतों में व्यवस्थित है। वह जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह एक या अनेक रूप में परिदर्शित होती है—अर्थात् ब्रह्माण्ड में सब कुछ एक आत्मा ही है।

पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि इस जगत् में जो हो चुका है और जो होनेवाला है वह सब पुरुष (आत्मा) ही है, वह पुरुष देवत्व का अधिष्ठाता है और वह दूसरे के लिए प्रकट होता है अर्थात् वह पुरुष प्राणियों की भलाई के लिए कारणावस्था को छोड़कर जगत के रूप को धारण करता है अर्थात् सब कुछ वह पुरुष ही है। वह गतिशील है और गतिरहित भी है, वह दूर है और निकट भी है, वह सबके अन्दर भी है, बाहर भी है।

कहा गया है कि नित्यज्ञान—आत्मा—पृथ्वी, अग्नि, जल आदि की तरह भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होता है लेकिन वास्तव में वह एक ही आत्मतत्त्व है। वह संग भी है, निकट भी है, दूर भी है।

एक शब्द को ही सब कुछ मानने वाले शब्दाद्वैतवादी कहते हैं कि यह जगत शब्दात्मक है अर्थात् सर्वत्र शब्दतत्त्व व्याप्त है—जैसे कहा है—वह अनादि अनन्त जो ब्रह्म है वह शब्दतत्त्व—अक्षरमात्र है—वह अर्थभाव से जगत की प्रक्रिया विविध प्रकार की करता है।

सर्वथा—एकान्त रूप में एकत्व का प्रतिपादन करने वाले एकवादी हैं। एकवादी के अनेक प्रकार हैं—यथा—आत्माद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादी आदि।

अस्तु, उनके द्वारा माने गये पदार्थों से भिन्न अन्य सद्भूतभावों का निषेध करने के कारण ; तथा उनके सिद्धान्त का अस्तित्व सिद्ध नहीं होने के कारण आत्माद्वैत, पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि एकवादियों को अक्रियावादी कहा जाता है।

·२ अनेकवादी

परिभाषा / अर्थ :—

सत्यपि कथञ्चिदेकत्वे भावानां सर्वथा अनेकत्वं वदतीत्यनेकवादी।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

पदार्थ के भावों में कथंचित् एकत्व होने पर सर्वथा एकान्त रूप से अनेकत्व मानने वाले को अनेकवादी कहा जाता था।

अनेकवादी के मत का प्रतिपादन :—

सत्यपि कथञ्चिदेकत्वे भावानां सर्वथा अनेकत्वं वदतीत्यनेकवादी, परस्पर-विलक्षणा एव भावास्तथैव प्रमीयमाणत्वात्, यथा रूपं रूपतयेति, अभेदे तु भावानां जीवजीवबद्धमुक्तसुखितदुःखितादीनामेकत्वप्रसङ्गात् दीक्षादिवैयर्थ्यमिति, किञ्च—सामान्यमङ्गीकृत्यैकत्वं विवक्षितं परैः, सामान्यं च भेदेभ्यो भिन्नाभिन्नतया चिन्त्यमानं न मुच्यते, एवमवयवेभ्योऽवयवी धर्मेभ्यश्च धर्मीत्येवमनेकवादी, अस्याप्यक्रियावादित्वं सामान्यादिरूपतयैकत्वे सत्यपि भावानां सामान्यादिनिषेधेन तन्निषेधनादिति।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

कथंचित् एकत्व होने पर भी सर्वथा—एकांतरूप में भावों का अनेकत्व-भिन्नत्व का प्रतिपादन करने वाले अनेकवादी हैं। उनका कथन है कि सब भाव परस्पर में विलक्षण हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न हैं ; उसी प्रकार प्रमाणित होता है—जैसे रूप से रूपत्व भिन्न है। यदि भावों का अभेद माना जाय तो जीव, अजीव, बद्ध, मुक्त, सुखी, दुःखी आदि के एकत्व के प्रसंग से दुःख निवारण के लिए ही आदि का ग्रहण निरर्थक हो जाता है। सामान्य को स्वीकार करके दूसरे वादियों ने एकत्व की विवक्षा की है परन्तु सामान्य तथा भेद-विशेष की अपेक्षा से भिन्नाभिन्नत्व का विचार सिद्ध नहीं होता है अतः अवयव से अवयवी, धर्म से धर्मी भिन्न है ऐसा अनेकवादी कहते हैं।

एकांतरूप से भावों के एकत्व का निषेध करने से अनेकवादी को अक्रियावादी कहा जाता है।

·३ मितवादी

परिभाषा/अर्थ :—

अनन्तानन्तत्वेऽपि जीवानां मितान्—परिमितान् वदति ××× मितवादी।

जीवलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, आत्मप्रदेशलोक आदि को मित—परिमित मानने वाला—मितवादी है। वह किसी को असंख्यात या अनंत नहीं मानता है।

मितवादी के मत का प्रतिपादन :—

अनन्तानन्तत्वेऽपि जीवानां मितान्—परिमितान् वदति 'उत्सन्नभव्यकं भविष्यति भुवनमित्यभ्युपगमात् मितं वा जीवं अंगुष्ठपर्वमात्रं श्यामाकतन्दुलमात्रं वा वदति न त्वपरिमितमसंख्येयप्रदेशात्मकतया अंगुलासंख्येयभागादारभ्य यावल्लोकमापूरयतीत्येवमनियतप्रमाणतया वा, अथवा मितं सप्तद्वीपसमुद्रात्मकतया लोकवदत्यन्यथाभूतमपीति मितवादीति, तस्याप्यक्रियावादित्वं वस्तुतत्त्वनिषेधनादेवेति।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

मितवादियों का कथन है कि यह संसार अनन्तान्त जीव वाला नहीं है पर परिमित संख्यक जीव वाला है। यह संसार अनन्त काल तक नहीं रहेगा तथा इस संसार का (मित) भविष्य में प्रलय के द्वारा उच्छेद होगा। आत्मा को वे असंख्येय प्रदेशात्मक न मानकर अंगुष्ठपर्व मात्र या श्यामाकतन्दुल मात्र मित मानते हैं। इस लोक को वे सात द्वीप-समुद्र रूप मित मानते हैं, कोई मितवादी इसको अन्य प्रकार से भी मित मानते हैं।

उनके उपर्युक्त कथन वस्तुतत्त्व से विपरीत है अतः उनको अक्रियावादी कहा जाता है।

·४ निर्मितवादी—ईश्वरकारणिकवादी—

परिभाषा / अर्थ—

(१) निर्मितं—ईश्वरब्रह्मपुरुषादिना कृतं लोकं वदतीति निर्म्मितवादी।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

(२) इह खलु धर्माः स्वभावाश्चेतनाचेतनरूपाः पुरुष-ईश्वर-आत्मा वा कारणमादिर्येषां ते पुरुषादिका ईश्वरकारणिका आत्मकारणिका वा तथा पुरुष एवोत्तरं कार्यं येषां ते पुरुषोत्तरास्तथा पुरुषेण प्रणीताः सर्वस्य तदधिष्ठितत्वात् तदात्मकत्वाद्वा तथा पुरुषेण द्योतिताः प्रकाशीकृताः प्रदीपमणिसूर्यादिनेव घटपटादय इति।

—सूय० श्रु २। अ १। सू ११। टीका

जो ईश्वर, ब्रह्मा, पुरुषादि को जगत का आदि कर्त्ता—निर्माता मानते थे उनको निर्मितवादी ईश्वरकारणिकवादी—आत्मवादी कहा जाता था।

निर्मितवादी-ईश्वरकारणिकवादी के मत का प्रतिपादन :—

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहियं।
देवउत्ते अयं लोए, बम्भउत्ते इ आवरे॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे।
जीवाजीव समाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए॥
सयंभुणा कडे लोए, इइ वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए॥
माहणा समणा एगे, आह—'अंडकडे जए'।
'असो तत्तमकासी य'—अयाणंता मुसं वए॥

—सूय० श्रु १। अ १। उ ३। गा ५ से ८। पृ० १०३-४।

लोक को किसी के द्वारा निर्मित मानने वाले भी एक मत नहीं थे कोई कुछ कहता था, कोई कुछ। सृष्टि के निर्माण के सम्बन्ध में निम्न प्रकार के मत थे—

(१) कोई कहता था कि यह लोक देव के द्वारा उप्त—बीज-वपन से उत्पन्न हुआ है।

(२) किसी का मत था कि यह लोक ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न है।

(३) कोई एक कहता था कि यह लोक प्रधान अर्थात् सत्त्व-रज-तम गुण के साम्य से निष्पन्न है।

(४) कतिपय का यह मत था कि यह लोक स्वभाव से उत्पन्न है।

(५) कुछ एक कहते थे कि यह लोक नियति से कृत है।

(गा ४ तथा ५ की टीका के आधार पर)

(६) किसी का मत था कि यह लोक स्वयंभू (स्वतः अपने-आप उत्पन्न) के द्वारा कृत-निष्पन्न है तथा स्वयंभूकृत लोक में यमराज की माया व्याप्त है इसीसे यह लोक परिवर्तनशील और अनित्य अनुभूत होता है।

(७) कई श्रमण-माहण कहते थे कि यह लोक अंडे से उत्पन्न हुआ है।

(८) कुछ का मत था कि ब्रह्मा ने लोकतत्त्व की रचना की है।

अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसर-कारणिए त्ति आहिज्जइ। ××× । इह खलु धम्मा पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूया पुरिस-पज्जोइया पुरिस-अभिसमण्णागया पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

—सूय० श्रु २। अ १। सू ११। पृ० १३६

लोक को ईश्वर के द्वारा कृत माननेवाले मत का कथन था कि (१) सचेतन-अचेतन स्वरूप लोक का आदि या आदि कारण पुरुष—ईश्वर है ; (२) यह लोक पुरुष प्रधान है जिसका प्रधान कार्यपुरुष है उसको पुरुषप्रधान कहा जाता है, (३) यह लोक पुरुष-प्रणीत है, पुरुष के द्वारा रचित है, (४) यह लोक पुरुषसंभूत है, पुरुष ने इसको उत्पन्न किया है (५) यह लोक पुरुष से प्रकाशित है, (६) यह लोक पुरुष का अनुगामी है, इससे अपृथक् है, (७) यह सर्व लोक पुरुष को व्याप्त करके स्थित है। लोक ईश्वर के आश्रय से स्थित है।

ते णो एवं, विप्पडिवेदेंति, तंजहा—किरियाइ वा जाव (सुक्कडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहु इ वा असाहु इ वा सिद्धि इ वा असिद्धि इ वा निरए इ वा) अनिरए इ वा। —सूय० श्रु २। अ १। सू ११। पृ० १४

वे निर्मितवादी क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पुण्य, पाप, साधु, असाधु सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग आदि नहीं मानते थे।

आहुः—"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥ तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टस्थावरजंगमे। नष्टामरनेर चैव, प्रणष्टोरगराक्षसे ॥२॥ केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते। अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥३॥ तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मविनिर्गतम्। तरुणरविमण्डलनिभं हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥४॥ तस्मिन् पद्मे तु भगवान् दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः। ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥५॥ अदितिः सुरसंघानां दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम्। विनता विहङ्गमानां माता विश्वप्रकाराणाम् ॥६॥ कद्रूः सरीसृपाणां सुलसा माता तु नागजातीनाम्। सुरभिश्चतुष्पादानामिला पुनः सर्वबीजानाम् ॥७॥ इति, प्रमाणयति चासौ—बुद्धिमत्कारणकृतं भुवनं संस्थानवत्त्वात् घटवदित्यादि।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

जो ईश्वर, ब्रह्मा, पुरुषादि को जगत का कर्त्ता मानते थे वे निर्मितवादी थे। मानते थे कि यह जगत अन्धकारमय, नहीं जाना हुआ, लक्षण रहित, तर्क नहीं करने योग्य अज्ञेय, सर्वतः प्रसुप्त था। स्थावर और जंगम रहित, देव-मनुष्य रहित, केवल गुफा की तरह पंच महाभूत से रहित इस जगत में अचिन्त्य आत्मा—विभु—ईश्वर है जो सोया हुआ तप तपित था। वहाँ सोये हुए उसकी नाभि से मध्याह्न सूर्यमण्डल की कान्ति की तरह सुन्दर तथा सुवर्ण की कर्णिका वाला पद्म (कमल) निकला। उस पद्म से भगवान् दण्ड को धारण करने वाले, यज्ञोपवीत संयुक्त ब्रह्मा हुए तथा उन्होने जगत की आठ माताएँ रचीं :-

यथा—देवसमूह की माता—अदिति, असुरों की माता—दिति, मनुष्यों की माता—मनु, समस्त प्रकार के पक्षियोंकी माता—विनता, सरीसृप—सर्पादि की माता—कद्रू, ना

जाति की माता—सुलसा, चतुष्पाद—पशुओं की माता—सुरभि, सर्व बीजों की माता—इला—पृथ्वी उनके नाम थे।

इससे प्रमाणित होता है कि बुद्धिमान् पुरुष रूप कारण से कृत यह जगत है क्योंकि घट की तरह इसका संस्थान है।

से जहा नामए—गंडेसिया सरीरे जाए सरीरे संवुड्ढे सरीरे अभिसमन्नागए सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मा पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा नामए—अरई सिया सरीरे जाया सरीरे संवुड्ढा सरीरे अभिसमन्नागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा नामए—वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढवि-अभिसमन्नागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा नामए रुक्खे सिया पुढविजाए, पुढवि-संवुड्ढे, पुढवि अभिसमन्नागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ; एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा नामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ; एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा नामए उदगपुक्खले सिया, उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहानामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

—सूय० श्रु २। अ १। सू ११। पृ०१३६-४०

१—जिस प्रकार फोड़ा शरीर में उत्पन्न होता है, शरीर में वृद्धि को प्राप्त होता है, शरीर से अभिसमन्वागत अर्थात् शरीर से अपृथक्भूत है, शरीर को व्याप्त करके स्थित है, शरीर के आश्रय से स्थित है उसी प्रकार सचेतन-अचेतन स्वरूप लोक का भी आदि कारण पुरुष—ईश्वर है यावत् (देखो—'६२'५'३'४'२) यह सर्वलोक पुरुष को व्याप्त करके स्थित है, ईश्वर के आश्रय से स्थित है।

२—जिस प्रकार अरति—चित्त का उद्वेग शरीर में उत्पन्न होता है, शरीर में वृद्धि को प्राप्त होता है, शरीर से अपृथक् है, शरीर को व्याप्त करके स्थित है, शरीर के आश्रय से स्थित है इसी प्रकार यह लोक भी यावत् ईश्वर के आश्रय से स्थित है।

३—जिस प्रकार वल्मीक (कीट-विशेष कृत मिट्टी का स्तूप) पृथ्वी में उत्पन्न होता है, पृथ्वी में वृद्धि को प्राप्त होता है, पृथ्वी से अपृथक् है, पृथ्वी को व्याप्त करके स्थित है, पृथ्वी के आश्रय से स्थित है उसी प्रकार यह लोक यावत् ईश्वर के आश्रय से स्थित है।

४ जिस प्रकार वृक्ष पृथ्वी में उत्पन्न होता है, पृथ्वी में वृद्धि को प्राप्त होता है, पृथ्वी से अपृथक् है, पृथ्वी को व्याप्त करके स्थित है, पृथ्वी के आश्रय से स्थित है, उसी प्रकार इस लोक का यावत् ईश्वर के आश्रय से स्थित है।

५—जिस प्रकार पुष्करिणी—तडाग पृथ्वी से उत्पन्न होता है, पृथ्वी में ही वृद्धि को प्राप्त होता है, पृथ्वी से अपृथक् है, पृथ्वी को व्याप्त करके स्थित है, पृथ्वी के आश्रय से स्थित है उसी प्रकार इस लोक का यावत् ईश्वर के आश्रय से स्थित है।

६—जिस प्रकार उदक पुष्कल अर्थात् कमल जल में उत्पन्न होता है, जल में वृद्धि को प्राप्त होता है, जल से अपृथक् है, जल को व्याप्त करके स्थित है उसी प्रकार इस लोक का आदि कारण पुरुष—ईश्वर है यावत् ईश्वर के आश्रय से स्थित है।

७—जिस प्रकार जल का बुद्बुद् जल में उत्पन्न होता है, जल में ही वृद्धि को प्राप्त होता है, जल से अपृथक् है, जल को व्याप्त करके स्थित है, जल के आश्रय से स्थित है उसी प्रकार इस लोक का आदि कारण पुरुष—ईश्वर है यावत् ईश्वर के आश्रय से स्थित है।

·५ सातवादी—

परिभाषा / अर्थ :—

सातं—सुखमभ्यसनीयमिति वदतीति सातवादी।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

सुख भोग से सुख प्राप्त होता है, दुःखभोग से दुःख प्राप्त होता है, अतः सुखभोग करो। ऐसा प्रतिपादन करनेवाला सातवादी है।

सातवादी के मत का प्रतिपादन :—

सातं—सुखमभ्यसनीयमिति वदतीति सातवादी, तथाहि—भवत्येववादी कश्चित्—सुखमेवानुशीलनीयं सुखार्थिना, न त्वसातरूपं तपोनियमब्रह्मचर्यादि, कारणानुरूपत्वात् कार्यस्य नहि शुक्लैस्तन्तुभिरारब्धः पटो रक्तो भवति अपि तु शुक्ल एव, एवं सुखासेवनात् सुखमेवेति, उक्तं च—"मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥" अक्रियावादिता चास्य संयमतपसोः पारमार्थिप्रशमसुखरूपयोः दुःखत्वेनाभ्युपगमात् कारणानुरूपकार्याभ्युपगमस्य च विषयसुखादननुरूपस्य निर्वाणसुखस्याभ्युपगमेन बाधित्वादिति।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

सातवादी का कथन है कि सुख के इच्छुक जीव सुख का अनुशीलन करें किन्तु असाता—दुःखरूप तप, नियम, ब्रह्मचर्यादि का अनुशीलन न करें। सुख से सुख की प्राप्ति—

अनुभूति होती है, दुःख से दुःख की प्राप्ति—अनुभूति होती है क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य होता है। यथा—शुक्ल तंतुओं से बुने जाने वाला वस्त्र रक्तवर्ण नहीं होता है परन्तु शुक्लवर्ण ही होता है इसी प्रकार सुख का आसेवन करने से सुख ही होता है, दुःख नहीं होता है।

"कोमल शय्या में सोना, प्रातःकाल उठकर पेय पीना, मध्याह्न में भोजन करना, अपराह्न में पानक पीना, अर्धरात्रि में द्राक्षा, खांड, शक्कर खाना—ऐसा सुख का अनुशीलन करने से अन्त में मोक्ष—सुख होता है—ऐसा शाक्यपुत्र ने अपनी ज्ञान दृष्टि से देखा है।

पारमार्थिक प्रशम सुखरूप संयम, तप से दुःख का अभि-उपगम होता है तथा विषय सुख से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है—ऐसा प्रतिपादन करने के कारण सातवादी को अक्रियावादी कहा जाता है।

.६ समुच्छेदवादी—

परिभाषा / अर्थ—

समुच्छेदं—प्रतिक्षणं निरन्वयनाशं वदति यः सः समुच्छेदवादी।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

प्रत्येक वस्तु का निरन्वयनाश अर्थात् सन्ततिरहित—सम्बन्धरहित नाश को मानने वाले को समुच्छेदवादी कहा जाता था। वस्तु नित्य नहीं है परन्तु क्षणिक है। वे क्षणिक वस्तु में अर्थक्रिया का होना मानते थे।

समुच्छेदवादी के मत का प्रतिपादन—

समुच्छेदं—प्रतिक्षणं निरन्वयनाशं वदति यः स समुच्छेदवादी, तथाहि—वस्तुनः सत्त्वं कार्यकारित्वं, कार्याकारिणोऽपि वस्तुत्वे खरविषाणस्यापि सत्त्वप्रसंगात्, कार्यं च नित्यं वस्तु क्रमेण न करोति, नित्यस्यैकस्वभावतया कालान्तरभाविसकलकार्याभावप्रसंगात्, न चेदेवं प्रतिक्षणं स्वभावान्तरोत्पत्त्या नित्यत्वहानिरिति, यौगपद्येनापि न करोति अध्यक्षसिद्धत्वाद्यौगपद्याकरणस्य, तस्मात् क्षणिकमेव वस्तुकार्यं करोतीति, एवं च अर्थक्रियाकारित्वात् क्षणिकं वस्त्विति, अक्रियावादी चायमित्थमवसेयः—निरन्वयनाशाभ्युपगमे हि परलोकाभावः प्रसृजति, फलार्थिनां च क्रियास्वप्रवृत्तिरिति, तथा सकलक्रियासु प्रवर्त्तकस्यासंख्येयसमयसम्भव्यनेकवर्णोल्लेखवतो विकल्पस्य प्रतिसमयक्षयित्वे एकाभिसन्धिप्रत्ययाभावात् सकलव्यवहारोच्छेदः स्यादत एवैकान्तक्षणिकात् कुलालादेः सकाशादर्थक्रिया न घटत इति, तस्मात् पर्यायतो वस्तुसमुच्छेदवद् द्रव्यतस्तु न तथेति।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

समुच्छेदवादी का कथन है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नाश को प्राप्त होती है अर्थात् प्रथम क्षण में जो वस्तु थी वह दूसरे क्षण में नहीं रही। वे वस्तु का निरन्वय—सन्ततिरहित—

सम्बन्धरहित नाश मानते हैं। जैसे कहा है—"प्रत्येक क्षण में कार्य के होने के कारण क्षणिक वस्तु का सत्—अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि कार्य का होना न मानकर वस्तुतत्त्व को स्वीकार किया जाय तो खरविषाण (गधे के सींग) को भी सत् मानने का प्रसंग आयेगा अर्थात् क्षणिक वस्तु ही अर्थक्रिया करती है तथा इस अर्थक्रिया से क्षणिक वस्तु की सिद्धि होती है।"

उनका कथन है कि नित्य वस्तु क्रमशः कार्य नहीं कर सकती। क्योंकि नित्य वस्तु की एक स्वभावता होने के कारण कालान्तर में होनेवाले सब कार्य के अभाव का प्रसङ्ग आयेगा तथा प्रत्येक क्षण में अन्य-अन्य स्वभाव की उत्पत्ति होने के कारण नित्यत्व की हानि होगी तथा एक साथ नित्य वस्तु कार्य कर नहीं सकती है। क्योंकि एक साथ कार्य नहीं करने का प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि क्षणिक वस्तु ही कार्य करती है।

वस्तु के निरन्वय नाश का अभ्युपगम होने से ही परलोक का अभाव होता है तथा फल के अर्थी जीवों को क्रिया में अप्रवृत्ति होती है अर्थात् वस्तु के क्षणिक मानने के कारण क्रिया का कर्त्ता दूसरा है तथा फल-भोक्ता दूसरा है। प्रवर्तक को समस्त क्रिया में असंख्यात समय लगता है तथा असंख्यात समय में होने वाले अनेक अक्षर के उल्लेखवाले विकल्प का प्रति समय क्षय होने पर एक इच्छित प्रत्यय के अभाव से समस्त व्यवहार का उच्छेद हो जाता है। इस कारण से एकान्त क्षणिक मत—समुच्छेदवाद से अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती है।

उपर्युक्त सम्यग् कथन न होने के कारण समुच्छेदवादी को अक्रियावादी कहा जाता है।

·७ नित्यवादी—

·१ परिभाषा / अर्थ—

नियतं—नित्यं वस्तु वदति यः स—नित्यवादी।

—ठाण० स्था ८। सू। ६०७। टीका

जो वस्तु को नियत—नित्य मानता है वह नित्यवादी है।

·२ नित्यवादी के मत का प्रतिपादन—

नित्यो लोकः, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पादविनाशयोः, तथा असतोऽनुत्पादाच्छशविषाणस्येव सतश्चाविनाशात् घटवत्, नहि सर्वथा घटो विनष्टः कपालाद्यवस्थाभिस्तस्य परिणतत्वात्, तासां चापारमार्थिकत्वात्, मृत्सामान्यस्यैव पारमार्थिकत्वात्, तस्य चाविनष्टत्वादिति, अक्रियावादी चायमेकान्तनित्यस्य स्थिरैकरूपतया सकलक्रियाविलोपाभ्युपगमादिति।

ठाण० स्था ८। स ६०७। टीका

लोक नित्य है, क्योंकि उत्पाद और विनाश होता है—आविर्भाव—प्रगट होना तथा तिरोभाव—अन्तर्भाव होना मात्र है। शशक के सींग की तरह 'असत्' का उत्पाद नहीं होता है तथा घट की तरह 'सत्' का विनाश भी नहीं होता है क्योंकि घट का सर्वथा विनाश नहीं होता है। कपालादि अवस्था अपारमार्थिक है अतः उसकी अपारमार्थिकता के कारण उसकी परिणति होती है। मिट्टी रूप सामान्य पारमार्थिकता है अतः उसका विनाश नहीं होता है। स्थिर एक रूप एकान्त नित्य की स्वीकृति के द्वारा सकल क्रिया का लोप स्वीकार करने वाला—नित्यवादी अक्रियावादी है।

·८ नास्ति परलोकवादी—

परिभाषा / अर्थ—

न सन्ति परलोगे वा इति नेति—न विद्यते शान्तिश्च मोक्षः परलोकश्च—जन्मान्तरमित्येवं यो वदति सः। —ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

परलोक नहीं है। शांति—मोक्ष, परलोक, जन्मान्तरादि नहीं है ऐसा नास्ति परलोकवादी अक्रियावादी कहता है।

·२ नास्ति परलोकवादी के मत का प्रतिपादन—

नास्त्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयत्वात् खरविषाणवन्न, तदभावान्न पुण्य-पाप-लक्षणं कर्म्म, तदभावान्न परलोको नापि मोक्ष इति।

—ठाण० स्था ८। सू ६०७। टीका

गधे के सींग की तरह प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा आत्मा के अस्ति की सिद्धि नहीं होती है अतः आत्मा नहीं है। आत्मा के अभाव में पुण्य, पापादि कर्म भी नहीं है तथा उनके अभाव में परलोक भी नहीं है, मोक्ष भी नहीं है।

·६ वामलोकवादी—

परिभाषा / अर्थ—

×××× । णत्थि काइकिरिया वा अकिरिया वा एवं भणंति णत्थि वाइणो वामलोयवाई। —प्रश्न० अ २। सू ७। पृ० १२०६

लोक का वास्तविकता से विपरीत स्वरूप कहने वाले को नास्तिकवादी कहते हैं यथा—क्रिया नहीं है, अक्रिया नहीं है।

·१० तज्जीवतच्छरीरवादी—लोकायतिक—

परिभाषा / अर्थ—

(क) उड्ढं पायत्तला अहे केसग्ग-मत्थया तिरियं तय-परियंते जीवे, एस आया—पज्जवे कसिणे। एस जीवे जीवइ, एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ, विणट्ठंमि य णो धरइ। एयं तं जीवियं भवइ।

—सूय० श्रु २। अ १। सू ९। पृ० १३७

(ख) नत्थि पुण्णे य पावे वा, नत्थि लोए इतोवरे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥

—सूय० श्रु १। अ १। उ १। गा १२। पृ० १०१

(ग) एयावया जीवे नत्थि परलोए। ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा—किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुक्कडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहु इ वा असाहु इ वा सिद्धि इ वा असिद्धि इ वा निरए इ वा अनिरए इ वा।

—सूय० श्रु २। अ १। सू ६। पृ० १३८

(घ) शरीरस्य कायस्य विनाशेन भूतविघटनेन विनाशेन देहिन आत्मनोऽप्यभावो भवति यतो न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं वाऽनुभवतीत्यतो धर्मिण आत्मनोभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति।

—सूय० श्रु १। अ १। उ १। गा १२। टीका

(च) लोकायतिकास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो नैवैतद्वक्ष्यमाणं प्रतिवेदयंति अभ्युपगच्छंति। —सूय० श्रु २। अ १। सू ६। टीका

जो जीव है वही शरीर है, जो शरीर है वही जीव है। जीव और शरीर में कोई भेद नहीं है—ऐसे मत को माननेवाले को तज्जीव-तच्छरीरवादी कहा जाता था। इनका अपर नाम लोकायतिक था। इस दर्शन को माननेवाले शरीर के विनाश से जीव का विनाश मानते थे अतः क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पुण्य, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग आदि नहीं मानते थे।

तज्जीव-तच्छरीरवादी के मत का प्रतिपादन :—

एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ, तंजहा—उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थया तिरियं तपपरियंते जीवे एस आयापज्जवे कसिणे एस जीवे जीवइ एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ विणट्ठंमि यं णो धरइ, एयं तं जीवियं भवइ, आदहणाए परेहिं निज्जइ, अगणिझामिए सरीरे कवोतवन्नाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति, एस असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं असंते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुयक्खायं भवइ अन्नो भवइ जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा, ते एवं नो विप्पडिवेदेंति—अयमाउसो ! आया दीहे त्ति वा, हस्से त्ति वा, परिमंडले त्ति वा, वट्टे त्ति वा, तंसे त्ति वा, चउरंसे त्ति वा, आयए त्ति वा, छलंसिए त्ति वा, अट्ठंसे त्ति वा, किण्हे त्ति वा, नीले त्ति वा, लोहियहालिद्दे त्ति वा सुक्किल्ले त्ति वा सुब्भिगंधे त्ति वा दुब्भिगंधे त्ति वा तित्ते त्ति वा कडुए त्ति वा कसाए त्ति वा अम्बिले त्ति वा महुरे त्ति वा कक्खडे त्ति वा मउए त्ति वा गुरुए त्ति वा लहुए त्ति वा सीए त्ति वा उसिणे

त्ति वा निद्धे त्ति वा लुक्खे त्ति वा। एवं असंते असंविज्जमाणे। जेसिं तं सुयक्खायं भवइ—अन्नो जीवो अन्नं शरीरं, तम्हा ते नो एवं उवलब्भंति।

से जहानामए—केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो! असी, अयं कोसी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो अयमाउसो! आया इयं सरीरं।

से जहानामए—केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिवट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो मुंजे इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो! आया इयं सरीरं।

से जहानामए—केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो! मंसे अयं अट्ठी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं।

से जहानामए—केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो करयले अयं आमलए, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं।

से जहानामए—केइ पुरिसे दहीओ नवणीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो! नवणीयं अयं तु दही, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं।

से जहानामए—केइ पुरिसे तिलेहिंतो तेल्लं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो! तेल्लं अयं पिण्णाए, एवमेव जाव सरीरं।

से जहानामए—केइ पुरिसे इक्खूओ खोयरसं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो! खोयरसे अयं छोए, एवमेव जाव सरीरं।

से जहानामए—केइ पुरिसे अरणीओ अग्गिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो! अरणी अयं अग्गी, एवमेव जाव सरीरं। एवं असंते असंविज्जमाणे। जेसिं तं सुयक्खायं भवइ, तंजहा—अन्नो जीवो अन्नं शरीरं। तम्हा ते मिच्छा। ×××। पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरए त्ति आहिए।

—सूय० श्रु २। अ १। सू ६। पृ० १३७-१३८

यह धर्म सु-आख्यात सुप्रणीत है, यथा—पदतल से ऊँचे तक, माथे की चोटी से नीचे तक, तिरछे में चमड़ी से चमड़ी पर्यन्त जीव है अर्थात् यह शरीर ही जीव है, शरीर से अन्य कोई जीव नहीं है। आत्मा शरीर की पर्याय है, यही संपूर्ण जीव है। जब तक यह शरीर जीवित रहता है तब तक यह जीव जीवित रहता है। शरीर के मर जाने पर जीव का भी विनाश हो जाता है। जब तक शरीर है तब तक आत्मा को धारण करता है। शरीर के

विनाश होने पर आत्मा का धारण नहीं होता है। जीव का शरीर के साथ ही जीवितव्य है।

जब शरीर मृत होता है तब उसको जलाने के लिए बंधु-बांधव श्मशान आदि में ले जाते हैं। अग्नि में शरीर के जलने से केवल कापोत वर्णवाली अस्थि रह जाती है। मंच—आसंदी होने से पाँच पुरुष अन्यथा चार पुरुष उस मृत शरीर को जलाकर गाँव में आते हैं। यदि आत्मा शरीर से भिन्न होता तो निकलता हुआ दिखाई देता लेकिन दिखाई नहीं देता है। इस प्रकार जीव असद्—अविद्यमान है और अविद्यमान होने से जाना नहीं जा सकता है। अतः जो जीव को असद्—अविद्यमान तथा अविद्यमान होने से अज्ञेय कहते हैं उनका पक्ष सु-आख्यात है अर्थात् उनका कथन सत्य है।

जीव अन्य है, शरीर अन्य है—ऐसा जो कहते हैं वे अज्ञानी है। यह जीव शरीर से भिन्न है तो इसका क्या प्रमाण है? आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व; वर्तुल या गोल या त्रिकोण या चतुष्कोण या लम्बी या षट्कोण या आठ कोण वाला है; काला या नीला या लाल या पीला या धोला वर्ण वाला है; सुरभिगंध वाला या दुरभिगन्ध वाला है; तिक्तरस या कटुरस या कषाय रस या आम्लरस या मधुररस वाला है; कर्कश स्पर्श या मृदुस्पर्श या लघुस्पर्श या गुरुस्पर्श या उष्णस्पर्श या शीतस्पर्श या स्निग्धस्पर्श या रुक्षस्पर्श वाला है। इस प्रकार जीव असद्—अविद्यमान है और अविद्यमान होने से जाना नहीं जा सकता है अतः जो जीव को असद्—अविद्यमान होने से अज्ञेय कहते हैं उनका पक्ष सु-आख्यात है अर्थात् उनका कथन सत्य है। जीव अन्य है, शरीर अन्य है—ऐसा जो कहते हैं वे जीव को शरीर से भिन्न पा नहीं सकते हैं।

जिस प्रकार कोई पुरुष म्यान से तलवार, तिनके से मुंज, मांस से हड्डी, हथेली से आँवला, दही से मक्खन, तिल से तेल, इक्षु से रस, अरणी से अग्नि निकाल कर अलग-अलग दिखला सकता है उस प्रकार कोई भी पुरुष शरीर और जीव को अलग-अलग करके नहीं दिखला सकता है। इस प्रकार जीव असद्—अविद्यमान है और अविद्यमान होने से जाना नहीं जा सकता है अतः जो जीव को असद्—अविद्यमान होने से अज्ञेय कहते हैं उनका पक्ष सु-आख्यात है अर्थात् उनका कथन सत्य है। जीव अन्य है, शरीर अन्य है ऐसा जो कहते हैं वह मिथ्या है अर्थात् जीव और शरीर को भिन्न कहना प्रत्यक्ष में ही असत्य है।

·११ पंचस्कंधवादी—

·१ परिभाषा / अर्थ :—

पंच खंधे वयंतेगे वाला उ खणजोइणो।
अन्नो अणन्नो नेवाहु हेउयं च अहेउयं॥

—सूय० श्रु १। अ १। उ १। गा १७। पृ० १०१

पंच स्कन्धात्मक अक्रियावादी कहते हैं कि यह संसार पाँच स्कंधात्मक है तथा क्षण मात्र ही स्थित रहता है। पाँच स्कंधों से भिन्न कोई आत्मा नाम का स्कंध नहीं है। स्कंधों—भूतों से भिन्न अथवा अभिन्न, किसी हेतु से या अहेतु से आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है।

·२ पंच स्कंधवादी के मत का प्रतिपादन—

टीका—एके केचन वादिनो वौद्धाः पंच स्कंधान् वदंति। रूप-वेदना-विज्ञान-संज्ञा-संस्काराख्याः पंचैव स्कंधा विद्यन्ते नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कंधोस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति।

वौद्धों की एक शाखा पंच स्कंधों को मानती है। उनका कथन है कि रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार—ये ही पाँच स्कंध विद्यमान हैं, इनसे भिन्न कोई आत्मा नहीं है—केवल स्कंध ही है—ऐसा वे प्रतिपादन करते हैं।

·१२ धातुवादी—

·१ परिभाषा / अर्थ—

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे॥

—सूय० श्रु ।अ १। उ १। गा १८। पृ० १०१

धातुवादी अक्रियावादी कहते हैं कि यह संसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—इन चार धातुओं के संयोग से ही रूप—आकृति निष्पन्न होती है।

·२ धातुवादी के मत का प्रतिपादन—

वौद्धों की एक शाखा का कथन है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये चार धातुरूप हैं। ये चार पदार्थ धातुरूप हैं। ये चार पदार्थ जगत को धारण करते हैं, पोषण करते हैं अतः इनको धातु कहा जाता है। ये चार धातुरूप पदार्थ जब एकाकार—संयोग को प्राप्त कर शरीर रूप में परिणत होते हैं तब उसमें जीव रूप संज्ञा उत्पन्न होती है। इन चार धातुरूप पदार्थों से भिन्न कोई आत्मा नहीं है।

·१३ पंच महाभूत वादी—

·१ परिभाषा / अर्थ—

(१) संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेउ वा, वाउ आगासपंचमा॥
एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो॥

—सूय० श्रु १। अ १। उ १। गा ७-८। पृ० १०१

(२) तं च पिहुद्देसेणं पुढो-भूत-समवायं जाणेज्जा। तंजहा—पुढवी एगे महब्भूये, आउ दुच्चे महब्भूये, तेउ तच्चे महब्भूये, वाउ चउत्थे महब्भूये, आगासे पंचमे महब्भूये।

(३) ते नो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा किरिया इ वा जाव (अकिरिया इ वा सुकडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहु इ वा असाहु इ वा सिद्धि इ वा असिद्धि इ वा निरए इ वा) अनिरए इ वा।

—सूय० श्रु २। अ १। सू १०। पृ० १३६

(४) साम्प्रतं विशेषेण सूत्रकार एव चार्वाकमतमाश्रित्याऽऽह।

—सूय० श्रु २। अ १। सू १०। टीका

इस लोक में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं। इन महाभूतों से ही उत्पन्न एक आत्मा है। इन महाभूतों के विनाश से जीवात्मा का विनाश हो जाता है। केवल पाँच महाभूत ही लोक का कारण है। अतः क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पुण्य, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग आदि नहीं है। इस मत को मानने वालों को पाँच महाभूतवादी कहा जाता था तथा इनका अपर नाम चार्वाक भी था।

·२ पंच महाभूतवादी के मत का प्रतिपादन—

इह खलु पंच महब्भूया, जेहिं नो विज्जइ किरिया त्ति वा अकिरिया त्ति वा, सुक्कडे त्ति वा, दुक्कडे त्ति वा, कल्लाणे त्ति वा, पावए त्ति वा, साहु त्ति वा, असाहु त्ति वा, सिद्धि त्ति वा, असिद्धि त्ति वा, निरए त्ति वा, अनिरए त्ति वा। अवि अंतसो तणमायमवि।

तं च पिहुद्देसेणं पुढो-भूत-समवायं जाणेज्जा। तंजहा—पुढवी एगे महब्भूये, आउ दुच्चे महब्भूये, तेउ तच्चे महब्भूये, वाउ चउत्थे महब्भूये, आगासे पंचमे महब्भूये।

इच्चेए पंच-महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया अकडा, णो कित्तिमा णो कडगा अणाइया अणिहणा, अवंझा, अपुरोहिया, सतंता सासया। xxx।

एयावया व जीवकाए, एयावया व अत्थिकाए, एयावया व सव्वलोए; एयं मुहं लोगस्स करणयाए; अवि अंतसो तण-माय-मवि।

—सूय० श्रु २। अ १। सू १०। पृ०१३८-१३६

पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं। ये पाँच महाभूत अनिर्मित अर्थात् ईश्वरादि के द्वारा निर्मित नहीं हैं, अनिर्मापित अर्थात् अन्य किसी के द्वारा

वनाये हुए नहीं हैं, अकृत अर्थात् किसी के किये हुए नहीं हैं, अकृत्रिम अर्थात् घटादि की तरह कृत्रिम नहीं हैं, अकृतक अर्थात् इनकी निष्पत्ति में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है, अनादि—अनिधन अर्थात् आदि रहित अन्त रहित हैं, अवन्ध्य अर्थात् सर्व आवश्यक कार्य के कर्त्ता हैं, अपुरोहित अर्थात् कार्य में प्रवृत्त करनेवाली इनसे भिन्न कोई शक्ति नहीं है, ये स्वतन्त्र हैं और शाश्वत हैं।

ये पाँच महाभूत ही जीवकाय हैं, ये ही अस्तिकाय हैं, ये ही लोक हैं, इनसे भिन्न कोई लोक नहीं है, ये ही लोक के मुख्य कारण हैं अर्थात् संसार में जो कुछ भी कार्य होता है उसमें पाँच महाभूत ही प्रधान कारण हैं, तृणमात्र अर्थात् छोटा से छोटा कार्य भी पाँच महाभूतों के द्वारा होता है।

पंच महाभूतों से ही आत्मा निष्पन्न होती है और इनके विनाश से विनष्ट हो जाती है। अतः क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पुण्य, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग आदि नहीं है। जो कुछ भी है वह पंच महाभूत ही है।

·१४ अक्रिय आत्मवादी—

·१ परिभाषा / अर्थ—

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ॥

—सूय० श्रु १। अ १। उ १। सू १३। पृ० १०१

जे केई लोगंमि उ अकिरिय-आया, अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति।

—सूय० श्रु १। अ १०। गा १६। पृ० १२५

आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता है और दूसरे के द्वारा भी नहीं कराता है तथा वह परिस्पंदनात्मकादि सभी क्रिया नहीं करता है। इस प्रकार आत्मा अकारक अर्थात् क्रिया का कर्त्ता नहीं है—ऐसा अक्रिय आत्मवादी (सांख्य) कहते हैं।

कई व्यक्ति आत्मा को अक्रिय मानते हैं क्योंकि आत्मा की निर्लेपता के कारण न वंध होता है, न मोक्ष होता है।

·२ अक्रिय आत्मवादी के मत का प्रतिपादन—

कुर्वन्निति स्वतन्त्रः कर्त्ताऽभिधीयते, आत्मनश्चामूर्तत्त्वान्नित्यत्वात् सर्वव्यापित्वाच्च कर्त्तृत्वानुपपत्तिः, अतएव हेतोः कारयितृत्त्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति, xxx। ततश्चात्मा न स्वयं क्रियायां प्रवर्तते, नाप्यन्यं प्रवर्तयति, यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भुजिक्रियां करोति तथाऽपि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्तीत्येतद्दर्शयति—'सव्वं कुव्वं ण विज्जई' त्ति 'सर्वां' परिस्पन्दादिकां देशाद्देशान्तरप्राप्तिलक्षणां

क्रियां कुर्वन्नात्मा न विद्यते, सर्वव्यापित्वेनामूर्त्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निष्क्रियत्वमिति, तथा चोक्तम्—"अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा साङ्ख्यनिदर्शने।" 'एवम्' अनेन प्रकारेणात्माऽकारक इति।

— सूय० श्रु १। अ १। उ १। सू १३। टीका

आत्मा अमूर्त, नित्य, और सर्वव्यापी है इसलिए वह कर्त्ता नहीं हो सकता है और इसी कारण वह दूसरे के द्वारा क्रिया करानेवाला भी नहीं हो सकता है। आत्मा स्वयं किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है और दूसरे को भी किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं करता है। आत्मा मुद्राबिम्बोदयन्याय या जपास्फटिकन्याय से यद्यपि स्थितिक्रिया, भोगक्रिया करता है तथापि वह समस्त क्रिया का कर्त्ता नहीं है। वह आत्मा एक देश से अन्य देश में जाना आदि परिस्पंदनात्मक सभी क्रिया नहीं करता है क्योंकि वह सर्वव्यापी और अमूर्त होने के कारण आकाश की तरह निष्क्रिय है। कहा भी है—सांख्यवादियों के मत में आत्मा अकर्त्ता, निर्गुण और कर्मफल का भोक्ता है। इस प्रकार आत्मा अकारक—अकर्त्ता है।

·१५ नियतिवादी—

·१ परिभाषा / अर्थ :—

नियतिवादपक्षाश्रय्येवं विप्रतिवेदयति जानीते कारणमापन्न इति नियतिरेव कारणं सुखाद्यनुभवस्य।

—सूय० श्रु २। अ १। सू १२। टीका

सुख-दुःखादि अनुभवों का कारण मात्र नियति ही है—ऐसा कहने वालों को नियतिवादी कहा जाता था।

·२ नियतिवादी के मत का प्रतिपादन—

आघायं पुण एगेसिं, उववन्ना पुढो जिया।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणओ॥
न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं॥
सयं कडं न अन्नेहिं, वेदयंति पुढो जिया।
संगइयं तं तहा तेसिं, इहमेगेसिमाहियं॥

—सूय० श्रु १। अ १। उ २। गा १ से ३। पृ० १०२

लोक को सांगतिक (नियति के वश) मानने वाला एक मत था जो नियतिवादी के नाम से अभिहित किया जाता था।

जीव पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं और पृथक्-पृथक् सुख-दुःख भोगते हैं अथवा वे एक स्थान से दूसरे स्थान में संक्रमण करते हैं। वह सुख-दुःख स्वयं कृत नहीं है; अन्य कृत भी

नहीं है। सुख हो अथवा दुःख हो, वह सुख-दुःख सैद्धिक—किसी निमित्त से होनेवाला हो या असैद्धिक बिना किसी निमित्त से होने वाला हो उसको सभी जीव पृथक्-पृथक् भोगते हैं ; वह सुख-दुःख स्वयं तथा दूसरे के द्वारा कृत नहीं है किन्तु वह सांगतिक—नियतिकृत है।

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए नियतिवाइए त्ति आहिज्जइ। XXX। इह खलु दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ, एगे पुरिसे नो किरियमाइक्खइ। जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ जे य पुरिसे नो किरियमाइक्खइ दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा, कारणमावन्ना।

बाले पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारण-मावन्ने— अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा अहमेय-मकासि ; परो वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा परो एवमकासि। एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने।

मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, नो अहं एवमकासि। परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एवमकासि एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने—से बेमि पाईणं वा ६ जे तस-थावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति, ते एवं विपरियासमावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छंति ते एवं विहाणमागच्छंति ते एवं संगतियंति उवेहाए।

नो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा—किरिया इ वा जाव (अकिरिया इ वा सुक्कडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहु इ वा असाहु इ वा सिद्धि इ वा असिद्धि इ वा) निरए इ वा अनिरए इ वा।

—सूय० श्रु २। अ १। सू १२। पृ० १४०

इस संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं यथा—एक पुरुष जो क्रिया का समर्थन करता है, दूसरा जो क्रिया का निषेध करता है—वे दोनों पुरुष एक समान हैं क्योंकि क्रिया तथा अक्रिया दोनों ही एक ही कारण—नियति के अधीन वशवर्ती हैं अर्थात् क्रिया करने का कारण भी नियति है, क्रिया नहीं करने का या अक्रिया का कारण भी नियति है। अतः दोनों का ही कथन असम्यक् है।

स्वकारण अथवा परकारण से कृत सुख-दुःखादि में पुरुषाकार को जो कारण मानते हैं उनका कथन सम्यग् नहीं है।

मैं जो दुःख भोग रहा हूँ या शोक संतप्त हो रहा हूँ या झूर रहा हूँ या रुदन कर रहा हूँ या पीड़ा पा रहा हूँ या परिताप पा रहा हूँ—ये सब कार्य मैं नहीं कर रहा हूँ, इनका

कर्त्ता मैं नहीं हूँ—बल्कि ये सब कार्य नियतिवश हो रहे हैं—नियतिकृत हैं। उसी प्रकार दूसरे पुरुष का दुःख भोगना या शोक संतप्त होना या झूरना या रुदन करना या पीड़ा पाना या परिताप पाना—आदि सब उस अन्य पुरुषकृत नहीं है—सब नियतिकृत है।

अस्तु इस संसार में जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं वे शरीर को धारण करते हैं, परिभ्रमण को प्राप्त होते हैं, शरीर से पृथक् होते हैं, अवस्था विशेष को प्राप्त होते हैं--यह सब नियति के ही अधीन होता है।

वे नियतिवादी कहते हैं—क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पुण्य, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग आदि कुछ नहीं है। जो कुछ है सो नियति है और उसके आधीन सब कार्य हो रहे हैं।

'६२'६'४ अक्रियावादी जीव और दंडक—

जीवा णं भंते !.......... जहा असुरकुमारा।

पूरे पाठ तथा अर्थ के लिए देखिये क्रमांक '६२'४'३'३।

उक्त पाठ में से अक्रियावादी संबंधी विशेषार्थ :—

अलेशी, समदृष्टि, ज्ञानी, मति यावत् केवलज्ञानी, संज्ञा में उपयोग रहित, अवेदक, अकषायी, अयोगी जीव अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी नहीं होते हैं, केवल क्रियावादी होते हैं।

समिथ्यादृष्टि जीव क्रियावादी, अक्रियावादी नहीं होते हैं ; अज्ञानवादी, विनयवादी होते हैं।

कृष्णपाक्षिक, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, मति-श्रुत-विभंग-अज्ञानी जीव अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी होते हैं।

पृथ्वी-अप्-अग्नि-वायु-वनस्पतिकाय तथा विकलेन्द्रिय जीव अक्रियावादी, अज्ञानवादी होते हैं, बाकी दण्डक के जीव चारों वादी होते हैं अतः वे अक्रियावादी भी होते हैं।

'६२'६'५ अक्रियावादी जीव और आयुष्य का बंधन—

अकिरियावाई णं भंते ! जीवा किं नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्ख०—पुच्छा। गोयमा ! नेरइयाउयं वि पकरेंति, जाव देवाउयं वि पकरेंति। (प्र १२)

सलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं पकरेंति—पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं—एवं जहेव जीवा तहेव अलेस्सा वि चउहिं वि समोसरणेहिं भाणियव्वा। (प्र १३)

कण्हलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं पकरेंति—पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं

पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति, अकिरियावाई, अन्नाणियवाई, वेणइयवाई य चत्तारि वि आउयाइं पकरेंति। एवं नीललेस्सा वि, काउलेस्सा वि। (प्र १४)

तेउलेस्सा णं भंते! जीवा अकिरियावाई किं नेरइयाउयं—पुच्छा। गोयमा! नो नेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ। xxx। जहा तेउलेस्सा एवं पम्हलेस्सा वि सुक्कलेस्सा वि नायव्वा। (प्र १६)

कण्हपक्खिया णं भंते! जीवा अकिरियावाई किं नेरइयाउयं—पुच्छा। गोयमा! नेरइयाउयं पि पकरेइ—एवं चउविहं पि। (प्र १८)

सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा। xxx। मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया। (प्र १८,१९)

xxx। अन्नाणी जाव—विभंगनाणी जहा कण्हपक्खिया।

सन्नासु चउसु वि जहा सलेस्सा xxx।

सवेदगा जाव नपुंसगवेदगा जहा सलेस्सा। xxx।

सकसायी जाव लोभकसायी जहा सलेस्सा। xxx।

सजोगी जाव कायजोगी जहा सलेस्सा। xxx।

सागारोवउत्ता य अणागारोवउत्ता य जहा सलेस्सा। (प्र २२)

अकिरियावाई णं भंते! नेरइया—पुच्छा। गोयमा! नो नेरइयाउयं पकरें(इ)न्ति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति। (प्र २४)

सलेस्सा णं भंते! नेरइया xxx। जे अकिरियावाई xxx ते सव्वट्ठाणेसु वि नो नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति। नवरं सम्मामिच्छत्ते उवरिल्लेहिं दोहि वि समोसरणेहिं न किंचि वि पकरेइ जहेव जीवपदे। एवं जाव—थणियकुमारा जहेव नेरइया। (प्र २५)

अकिरियावाई णं भंते! पुढविक्काइया—पुच्छा। गोयमा! नो नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति। (प्र २६) xxx।

सलेस्सा णं भंते! एवं जं जं पदं अत्थि पुढविकाइयाणं तहिं तहिं मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु एवं चेव दुविहं आउयं पकरेंति। नवरं तेउलेस्साए न किं पि पकरेंति (प्र २७)।

एवं आउक्काइयाण वि, एवं वणस्सइकाइयाण वि। तेउक्काइया वाउक्काइया

सव्वट्ठाणेसु मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु नो नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणिया-उयं पकरेंति, नो मणुस्साउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति।

वेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं जहा पुढविकाइयाणं। नवरं सम्मत्त-नाणेसु न एक्कं पि आउयं पकरेंति। (प्र २७)

किरियावाई णं भंते! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं नेरइयाउयं पकरेंति—पुच्छा। गोयमा! जहा मणपज्जवनाणी। अकिरियावाई अन्नाणियवाई वेणइयवाई य चउव्विहं (चउहिं) पि पकरेंति।

जहा ओहिया तहा सलेस्सा वि।

कण्हलेस्सा णं भंते! × पंचिंदियतिरिक्खजोणिया ×××। अकिरियावाई अन्नाणियवाई वेणइयवाई चउव्विहं पि पकरेंति। जहा कण्हलेस्सा एवं नीललेस्सा वि, काउलेस्सा वि। तेउलेस्सा जहा सलेस्सा। नवरं अकिरियवाई, अन्नाणियवाई, वेण-इयवाई य णो नेरइयाउयं पकरेंति, देवाउयं वि पकरेंति। तिरिक्खजोणियाउयं वि पकरेंति, मणुस्साउयं वि पकरेंति।

एवं पम्हलेस्सा वि, एवं सुक्कलेस्सा वि भाणियव्वा।

कण्हपक्खिया तिहिं समोसरणेहिं चउव्विहं पि आउयं पकरेइ।

सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा।

मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया।

अन्नाणी जाव—विभंगनाणी जहा कण्हपक्खिया। सेसा जाव अणागारो-वउत्ता सव्वे जहा सलेस्सा तहा चेव भाणियव्वा।

जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया भणिया एवं मणुस्साण वि भाणियव्वा। ×××। जहा ओहिया जीवा सेसं तहेव।

वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

—भग० श ३०। उ १। प्र १२ से १४, १६, १८, १९, २२, २४ से २९। पृ० ९०६-८

अक्रियावादी जीव नरक, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य तथा देवता—चारों प्रकार का आयुष्य बांधते हैं।

सलेशी, कृष्ण-नील-कापोतलेशी अक्रियावादी जीव, कृष्णपाक्षिक-शुक्लपाक्षिक अक्रिय-वादी जीव, अज्ञानी, मति-श्रुत-विभंग-अज्ञानी अक्रियावादी जीव, आहारादि चारों संज्ञाओं उपयोग वाले अक्रियावादी जीव, सवेदक, स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेदक अक्रियावादी जीव, यी, क्रोध-मान-माया-लोभ-कपायी अक्रियावादी जीव, सयोगी, मन-वचन-काययोगी

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण अक्रियावादी नारकी में पाये जायँ उन-उन विशेषणों सहित अक्रियावादी नारकी जीव तिर्यंचयोनिक तथा मनुष्य का आयुष्य बाँधते हैं, नारक तथा देवता का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

अक्रियावादी भवनपति देव मनुष्य तथा तिर्यंचयोनिक जीव का आयुष्य बाँधते हैं, नारकी तथा देवता का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण अक्रियावादी भवनपति देवों में पाये जायँ उन-उन विशेषणों सहित अक्रियावादी भवनपति देव तिर्यंचयोनिक तथा मनुष्य का आयुष्य बाँधते हैं, नारक तथा देवता का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

अक्रियावादी पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिक जीव मनुष्य तथा तिर्यंच का आयुष्य बाँधते हैं।

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण अक्रियावादी पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिक में पाये जायँ—उन उन विशेषणों सहित अक्रियावादी पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिक जीव तिर्यंचयोनिक तथा मनुष्य का आयुष्य बाँधते हैं लेकिन तेजोलेशी अक्रियावादी पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिक जीव किसी भी प्रकार का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

अक्रियावादी अग्निकाय-वायुकायिक जीव केवल तिर्यंचयोनिक जीव का आयुष्य बाँधते हैं।

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो जो विशेषण अक्रियावादी अग्निकाय-वायुकायिक जीवों में पाये जायँ—उन उन विशेषणों सहित अक्रियावादी अग्निकाय-वायुकायिक जीव के केवल तिर्यंचयोनिक जीव का आयुष्य बाँधते हैं।

अक्रियावादी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीव मनुष्य तथा तिर्यंचयोनिक जीव का आयुष्य बाँधते हैं।

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण अक्रियावादी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीवों में पाये जायँ उन उन विशेषणों सहित अक्रियावादी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीव तिर्यंचयोनिक तथा मनुष्य का आयुष्य बाँधते हैं लेकिन सम्यक्त्व तथा ज्ञान-

अवस्था में अक्रियावादी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीव किसी भी प्रकार का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव चारों प्रकार का आयुष्य बाँधते हैं।

सलेशी, कृष्ण-नील-कापोतलेशी अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव, कृष्णपाक्षिक-शुक्लपाक्षिक अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव, अज्ञानी, मति-श्रुत-विभंग-अज्ञानी अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव, आहारादि चारों संज्ञाओं में उपयोग वाले अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव, सवेदक, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदक अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव, सकषायी, क्रोध-मान-माया-लोभकषायी अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव, सयोगी, मन-वचन-काययोगी अक्रियावादी पंचेद्रिय तिर्यंचयोनिक जीव तथा साकारोपयोग वाले—अनाकारोपयोग वाले अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव चारों प्रकार का आयुष्य बाँधते हैं।

तेजो-पद्म-शुक्ललेशी अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव नरकायुष्य बाद अवशेष तीन प्रकार का आयुष्य बाँधते हैं।

अक्रियावादी मनुष्य जीव चारों प्रकार का आयुष्य बाँधते हैं।

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो जो विशेषण अक्रियावादी मनुष्य में पाये जायँ उन-उन विशेषणों सहित अक्रियावादी मनुष्य जीव चारों प्रकार का आयुष्य बाँधते हैं परन्तु तेजो-पद्म-शुक्ल-लेशी अक्रियावादी मनुष्य जीव नरकायुष्य बाद अवशेष तीन प्रकार का आयुष्य बाँधते हैं।

अक्रियावादी वाणव्यन्तर-ज्योतिषी-वैमानिक देव मनुष्य तथा तिर्यंचयोनिक जीव का आयुष्य बाँधते हैं।

सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण अक्रियावादी वाणव्यन्तर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों में पाये जायँ उन-उन विशेषणों सहित अक्रियावादी वाणव्यन्तर-ज्योतिषी-वैमानिक देव तिर्यंचयोनिक तथा मनुष्य का आयुष्य बाँधते है।

'६२'६'६ अक्रियावादी जीव और भव-अभवसिद्धिकता :—

अकिरियावाई णं भंते! जीवा किं भवसिद्धिया०—पुच्छा। गोयमा! भवसिद्धिया वि, अभवसिद्धिया वि। (प्र ३१)

सलेस्सा णं भंते! जीवा अकिरियावाई किं भव० - पुच्छा। गोयमा! भवसिद्धिया वि अभवसिद्धिया वि। ××× । एवं जाव—सुक्कलेस्सा।

××× एवं एएणं अभिलावेणं कण्हपक्खिया तिसु वि समोसरणेसु

सुक्कपक्खिया चउसु वि समोसरणेसु भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया ×××। मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया।

अन्नाणी जाव विभंगनाणी जहा कण्हपक्खिया।

सन्नासु चउसु वि जहा सलेस्सा।

सवेदगा जाव नपुंसगवेदगा जहा अलेस्सा।

सकसायी जाव लोभकसायी जहा अलेस्सा।

सजोगी जाव—कायजोगी जहा सलेस्सा।

सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता जहा अलेस्सा।

एवं नेरइया वि भाणियव्वा, नवरं नायव्वं जं अत्थि।

एवं असुरकुमारा वि जाव—थणियकुमारा।

पुढविक्काइया सव्वट्ठाणेसु वि मज्झिल्लेसु दोसु वि समोसरणेसु भवसिद्धिया वि, अभवसिद्धिया वि। एवं जाव वणस्सइकाइया।

बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिया एवं चेव। नवरं समंत्ते।

ओहिनाणे आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे एएसु चेव दोसु मज्झिमेसु समोसरणेसु भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया। सेसं तं चेव।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया। नवरं नायव्वं जं अत्थि।

मणुस्सा जहा ओहिया जीवा।

वाणव्यंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

—भग० श ३० । उ १ । प्र० ३१, ३३, ३४ । पृ० ६०८-६

अक्रियावादी जीव भवसिद्धिक भी, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सलेशी, कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी अक्रियावादी जीव, कृष्णपाक्षिक अक्रियावादी जीव, मिथ्यादृष्टि अक्रियावादी जीव, अज्ञानी, मति-श्रुत-विभंग-अज्ञानी अक्रियावादी जीव, अहारादि चारों संज्ञाओं में उपयोगवाले अक्रियावादी जीव, सवेदक, स्त्री-पुरुप-नपुंसकवेदक अक्रियावादी जीव, सकपायी, क्रोध-मान-माया-लोभकपायी अक्रियावादी जीव, सयोगी, मनोयोगी यावत् काययोगी अक्रियावादी जीव, साकारोपयोगवाले—अनाकारोपयोग वाले अक्रियावादी जीव भवसिद्धिक भी, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

शुक्लपाक्षिक अक्रियावादी जीव केवल भवसिद्धिक होते हैं।

अक्रियावादी नारकी जीव भवसिद्धिक भी, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सविशेषण अक्रियावादी नारकी के सम्बन्ध में जैसा सविशेषण औघिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में कहा वैसा ही कहना लेकिन नारकी के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना।

अक्रियावादी भवनपति देव भवसिद्धिक तथा अभवसिद्धिक होते हैं।

सविशेषण अक्रियावादी भवनपति देवों के सम्बन्ध में जैसा सविशेषण औधिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में कहा वैसा ही कहना लेकिन भवनपति देवों के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन उन विशेषणों से कहना।

अक्रियावादी पृथ्वी-अप्-अग्नि-वायु-वनस्पतिकायिक जीव भवसिद्धिक भी, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सविशेषण अक्रियावादी पृथ्वी-अप्-अग्नि-वायु-वनस्पतिकायिक जीवों के सम्बन्ध में जैसा सविशेषण औधिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में कहा वैसा ही कहना लेकिन पृथ्वी-अप्-अग्नि-वायु-वनस्पतिकायिक जीवों के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना।

अक्रियावादी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीव भवसिद्धिक भी, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सविशेषण अक्रियावादी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में जैसा सविशेषण औधिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में कहा वैसा ही कहना लेकिन द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीवों के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना; लेकिन सम्यक्त्व, ज्ञान, मति-श्रुतज्ञान अवस्था में अक्रियावादी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीव केवल भवसिद्धिक होते हैं।

अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव भवसिद्धिक भी, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सविशेषण अक्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के सम्बन्ध में जैसा सविशेषण औधिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में कहा वैसा ही कहना लेकिन पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना।

अक्रियावादी मनुष्य भवसिद्धिक भी, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सविशेषण अक्रियावादी औधिक जीव के सम्बन्ध में जैसा कहा वैसा ही सभी विशेषणों सहित अक्रियावादी मनुष्य जीव के सम्बन्ध में जानना।

अक्रियावादी वाणव्यन्तर-ज्योतिषी-वैमानिक देव भवसिद्धिक भी, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सविशेषण अक्रियावादी वाणव्यन्तर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों के सम्बन्ध में जैसा सविशेषण औधिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में कहा वैसा ही कहना लेकिन अक्रियावादी वाणव्यन्तर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों के जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से कहना।

'९२'६'७ अनंतरोपपन्नक अक्रियावादी और जीवदंडक :—

अणंतरोववन्नगा णं भंते ××× भाणियव्वा।

(पूरे पाठ के लिये देखिये क्रमांक '९२'४'३'३)

अनन्तरोपपन्नक नारकी अक्रियावादी भी होते हैं ; क्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी भी होते हैं।

जैसी वक्तव्यता औधिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में ('९२'६'४) कही गई है वैसी ही वक्तव्यता अक्रियावादी अनन्तरोपपन्नक जीव के सम्बन्ध में कहनी चाहिए ; इतनी विशेषता है कि अक्रियावादी अनन्तरोपपन्नक जीव में सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो-जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से विवेचन करना चाहिए।

'९२'६'८ अनंतरोपपन्नक अक्रियावादी जीव और आयुष्य का बंधन :—

किरियावाई णं भंते ! अणंतरोववन्नगा नेरइया किं नेरइयाउयं पकरेंति—पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरि०, नो मणु०, नो देवाउयं पकरेंति। एवं अकिरियावाई वि अन्नाणियवाई वि वेणइयवाई वि।

सलेस्सा णं भंते ! किरियावाई अणंतरोववन्नगा नेरइया किं नेरइयाउयं०—पुच्छा। गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, जाव नो देवाउयं पकरेंति। एवं जाव वेमाणिया। एवं सव्वट्ठाणेसु वि अणंतरोववन्नगा नेरइया न किंचि वि आउयं पकरेंति जाव—अणागारोवउत्त त्ति। एवं जाव वेमाणिया, नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं। —भग० श ३०। उ २। प्र ३, ४। पृ० ९०९

कोई भी अक्रियावादी अनन्तरोपपन्नक जीव किसी भी प्रकार का आयुष्य नहीं बाँधते हैं।

'९२'६'९ अणंतरोपपन्नक अक्रियावादी जीव और भव-अभवसिद्धिकता :—

अकिरियावाई णं (भंते !) पुच्छा। गोयमा ! भवसिद्धिया वि, अभवसिद्धिया वि। ×××।

सलेस्सा णं भंते ! किरियावाई अणंतरोववन्नगा नेरइया किं भवसिद्धिया, अभवसिद्धिया ? गोयमा ! भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया। एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए उद्देसए नेरइयाणं वत्तव्वया भणिया तहेव इह वि भाणियव्वा जाव—अणागारोवउत्त त्ति। एवं जाव वेमाणियाणं। नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं। —भग० श ३०। उ २। प्र ६,७। पृ० ९०९-१०

अक्रियावादी नारकी जीव भवसिद्धिक भी तथा अभवसिद्धिक भी होते हैं।

जैसी वक्तव्यता औधिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में (क्रमांक '६२'६'४) कही गई है वैसी ही वक्तव्यता अक्रियावादी अनन्तरोपपन्नक जीव के सम्बन्ध में कहनी चाहिए। इतनी विशेषता है कि अक्रियावादी अनन्तरोपपन्नक जीव में सलेशी यावत् अनाकारोपयोग तक जो जो विशेषण पाये जायँ उन-उन विशेषणों से विवेचन करना चाहिए।

'६२'६'१० परंपरोपपन्नक अक्रियावादी और जीवदंडक :—

'६२'६'११ परंपरोपपन्नक अक्रियावादी और आयुष्य का बंधन :—

'६२'६'१२ ,, ,, भव-अभवसिद्धिकता :—

परंपरोववन्नगा xxxx तियदंडगसंगहिओ।

(पूरे पाठ के लिए देखिये क्रमांक '६२'६'४)

परम्परोपपन्नक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में वैसी ही वक्तव्यता जाननी चाहिए जैसी औधिक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में (देखो क्रमांक '६२'६'४) वक्तव्यता कही गई है।

'६२'६'१३ अनंतरावगाढ़-अनंतराहारक-अनंतरपर्याप्त अक्रियावादी और जीवदंडक

'६२'६'१४ ,, ,, ,, और आयुष्य का बंधन :—

'६२ ६·१५ ,, ,, ,, और भव-अभवसिद्धिकता :—

'६२'६'१६ परंपरावगाढ-परंपराहारक-परंपरपर्याप्त अक्रियावादी और जीवदंडक:—

'६२'६'१७ ,, ,, ,, और आयुष्य का बंधन :—

'६२'६'१८ ,, ,, ,, और भव-अभवसिद्धिकता—

'६२'६'१६ चरम-अचरम अक्रियावादी और जीवदंडक :—

'६२'६'२० ,, ,, और आयुष्य का बंधन :—

'६२'६'२१ ,, ,, और भव-अभवसिद्धिकता :—

एवं एएणं कमेणं xxxx सेसं तहेव।

(पूरे पाठ के लिए देखिये क्रमांक ६२'४'३,१०,११,१२)

अनन्तरावगाढ़, अनन्तराहारक, अनन्तरपर्याप्त अक्रियावादी जीव का गमक अनन्तरोपपन्नक अक्रियावादी जीव की तरह कहना अर्थात् अक्रियावादित्व, आयुष्य का बन्धन तथा भव-अभवसिद्धिकता के सम्बन्ध में वैसी ही वक्तव्यता कहनी चाहिए जैसी अनन्तरोपपन्नक अक्रियावादी जीव के सम्बन्ध में कही गयी है। (देखो क्रमांक '६२'६'७,८,६)

परम्परावगाढ़, परम्पराहारक, परम्परपर्याप्त अक्रियावादी जीव का गमक परम्परोप-अक्रियावादी जीव की तरह कहना चाहिए।

चरम अक्रियावादी जीव का वक्तव्य परम्परोपपन्नक अक्रियावादी जीव की तरह कहना।

अचरम अक्रियावादी जीव का वक्तव्य औधिक अक्रियावादी जीव की तरह कहना।

·६३ क्रिया और प्रतिक्रमण—

·६३·१ कायिकी क्रियापंचक और प्रतिक्रमण—

पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं—काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, परितावणियाए, पाणाइवायकिरियाए। —आव० अ ४। सू ६। पृ० ११६८

मैं कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपातिकी क्रियाओं का प्रतिक्रमण करता हूँ। मेरे क्रियाजनित दुष्कृत निष्फल हों।

विवेचन—यदि कायिकी क्रियापंचक की अप्रशस्त क्रिया में वर्तना की हो (तथा सदनुष्ठान प्रशस्त क्रिया में वर्तना न की हो) तो उस कारण से संयम में यदि किसी प्रकार का अतिचार लगा हो तो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। कायिकी क्रियापंचक में यदि वर्तना की हो तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि फिर उसका सेवन नहीं करूँगा।

·६३·२ तेरह क्रियास्थान और प्रतिक्रमण :—

पडिक्कमामि ×××। तेरसहिं किरियाठाणेहिं।

—आव० अ ४। सू ६। पृ० ११६८

मैं तेरह क्रियास्थानों का प्रतिक्रमण करता हूँ—उनसे निवृत्त होता हूँ। मेरे क्रिया-जनित दुष्कृत निष्फल हों।

विवेचन—यदि बारह अप्रशस्त क्रियास्थानों में वर्तना की हो तथा ऐर्यापथिकी क्रिया में वर्तना न की हो तो उस कारण से संयम में यदि किसी प्रकार का अतिचार लगा हो तो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। बारह क्रियास्थानों में यदि वर्तना की हो तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि फिर उनका सेवन नहीं करूंगा।

·६४ क्रिया और भिक्षु :—

·६४·१ औधिक विवेचन :—

(क) **वएसु इंदियत्थेसु, समिईसु किरियासु य।**
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले॥

—उत्त० अ ३१। गा ७। पृ० १०३८

जो भिक्षु व्रतों और समितियों के पालन में, इन्द्रिय-विषयों तथा क्रियाओं के परिहार में सहायता करता है वह संसार में नहीं रहता है।

(ख) किरियांसु भूयगामेसु, परमाहम्मिस्सु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

—उत्त० अ ३१। गा १२। पृ० १०३८

जो भिक्षु तेरह प्रकार के क्रियास्थानों, चौदह प्रकार के जीव समुदायों और पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देवों में सदा यत्न रखता है वह संसार में नहीं रहता अर्थात् परिभ्रमण नहीं करता है।

(ग) सुविसुद्ध लेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए णाणी।

—सूय० श्रु १। अ ४। उ २। गा २१। पृ० ११५

निर्मल लेश्या वाला मेधावी तथा ज्ञानी—विवेकवान् भिक्षु परक्रिया अर्थात् पर के प्रति स्व-शरीर से या पर के द्वारा स्व-शरीर में की जानेवाली पर-क्रियाओं को त्याग दे।

(घ) परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया।

—सूय० श्रु १। अ ६। गा १८ उतरार्ध। पृ० १२३

दूसरों के द्वारा स्व-सम्बन्धी कोई क्रिया कराना अथवा पर-सम्बन्धी कोई क्रिया करना तथा परस्पर में एक दूसरे के सम्बन्ध में क्रिया करना—इसको विद्वान् भिक्षु 'ज्ञ' परिज्ञा से जानकर 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा से छोड़ दे।

(ङ) अन्नउत्थिया णं भंते! एवं आइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति, एवं परूवेंति कहन्नं समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ? तत्थ जा सा कडा कज्जइ नो तं पुच्छंति, तत्थ जा सा कडा नो कज्जइ नो तं पुच्छंति, तत्थ जा सा कडा अकडा नो कज्जइ नो तं पुच्छंति, तत्थ जा सा अकडा कज्जइ तं पुच्छंति, से एवं वत्तव्वं सिया—

अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणा-भूया-जीवा-सत्ता वेयणं वेदेंति त्ति वत्तव्वं, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु, अहं पुण एवमाइक्खामि, एवं भासामि, एवं पन्नवेमि, एवं परूवेमि—किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणा-भूया-जीवा-सत्ता वेयणं वेयंति त्ति वत्तव्वयं सिया। —ठाण० स्थान ३। उ २। सू १६७। पृ० २११

(च) अण्णउत्थिया णं भंते! एवं आइक्खंति, जाव—एवं परूवेंति ×××। अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाण-भूय-जीव-सत्ता वेदणं वेदंति इति वत्तव्वं सिया।

से कहमेयं भंते! एवं?

गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति, जाव वेयणं वेदेंति वत्तव्वं सिया। जे ते एवं आहिंसु, मिच्छा ते एवं आहिंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ××× । किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं, कट्टु कट्टु पाण-भूय-जीव-सत्ता वेदणं वेदेंति इति वत्तव्वं सिया।

—भग० श १ । उ १० । प्र० ३१६,३१७,३२४ । पृ० ४१४-१५

अन्यतीर्थियों का कथन है कि अकृत्य दुःख है, अस्पृश्य दुःख है तथा अक्रियमाण कृत दुःख है। इनको नहीं कर के, नहीं करके ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व वेदना को वेदते हैं। भगवान् का कथन है कि अन्यतीर्थियों का उपर्युक्त कथन गलत है। उनका कहना है कि कृत्य दुःख है, स्पृश्य दुःख है, क्रियमाणकृत दुःख है तथा इनको कर-करके ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व वेदना को वेदते हैं।

(छ) अत्थि णं भंते ! समणाणं णिग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?

हंता, अत्थि।

कहं णं भंते ! समणाणं णिग्गंथाणं किरिया कज्जइ ? मंडियपुत्ता ! पमायपच्चया, जोगनिमित्तं च ; एवं खलु समणाणं णिग्गंथाणं किरिया कज्जइ।

—भग० श ३ । उ ३ । प्र ८,६ । पृ० ४५६

श्रमण—निर्ग्रन्थ के भी क्रिया होती है। श्रमण-निर्ग्रन्थ के दो कारण से क्रिया होती है—प्रमादप्रत्यय तथा योग-निमित्त। प्रमाद से अर्थात् दुष्प्रयुक्त शरीर की चेष्टा से तथा योग अर्थात् ऐर्यापथिकी गमनादि कार्यों से श्रमण निर्ग्रन्थ के क्रिया होती है।

·६४ २ साध्वाचार के अतिक्रमण से भिक्षु को लगनेवाली क्रियाएँ :—

·१ कालातिक्रम क्रिया :—

से (भिक्खू वा भिक्खुणी वा) आगंतारेसु वा जाव (आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा,) परियावसहेसु वा, जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावित्ता तत्थेव भुज्जो (भुज्जो) संवसंति,

अयमाउसो ! कालाइक्कंत-किरिया वि भवइ।

—आया० श्रु २ । अ २ । उ २ । सू ३४ । पृ० ५४

पथिक-विश्राम-गृह (धर्मशाला, मुसाफिर खाना आदि), आरामगृह (बंगला, बगीचा, विश्रामगृह), गृहपति के घर और मठ—उपाश्रय—आश्रमादि में जो साधु-साध्वी ऋतुबद्ध शीतोष्णकाल में मासकल्प तथा वर्षाकाल में चार मास कल्प व्यतीत करके वहाँ पर बार-बार बिना कारण आकर रहे तो उनको कालातिक्रम-क्रिया दोष लगता है।

·२ उपस्थान क्रिया :—

से आगंतारेसु वा जाव (आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा,) परियाव-सहेसु वा, जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावित्ता तं दुगुणा दुगणेण (दुगुणा तिगुणेण) अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो (भुज्जो) संवसंति,

अयमाउसो ! उवट्ठाण-किरिया वि भवइ।

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ३५। पृ० ५४

पथिक-विश्राम-गृह, आरामगृह, गृहपति के घर और मठ—आश्रमादि में जो साधु-साध्वी ऋतुबद्ध शीतोष्ण काल में मासकल्प तथा वर्षाकाल में चार मासकल्प व्यतीत करने के बाद उसी स्थान में दो-तीन मास का व्यवधान किये विना शीतोष्णकाल में तथा दो-तीन चतुर्मास का व्यवधान किये विना वर्षाकाल में विना कारण आकर रहे तो उनको उप-स्थान-क्रिया दोष लगता है।

·३ अभिक्रान्त क्रिया :—

इह खलु पाईणं वा, पडीणं वा, दाहीणं वा, उदीणं वा, संतेगइया, सड्ढा भवंति, तंजहा - गाहावई वा, जाव (गाहावइणीओ वा, गाहावइ-पुत्ता वा, गाहावइ-धूयाओ वा, गाहावइ-सुण्हाओ वा, धाईओ वा, दासा वा, दासीओ वा, कम्मकरा वा) कम्मकरीओ वा। तेसिं च णं आयार-गोयरे णो सुणिसंते भवइ, तं सद्दमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं, तं रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए सुमुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं, चेतिताइं भवंति, तंजहा—आएसणाणि वा, आयतणाणि वा, देवकुलाणि वा, सहाओ वा, पवाओ वा, पणिय-गिहाणि वा, पणियसालाओ वा, जाण-गिहाणि वा, जाण-सालाओ वा, सुहाकम्मंताणि वा, दब्भ-कम्मंताणि वा, वद्ध-कम्मंताणि वा, वक्क-कम्मंताणि वा, वण-कम्मंताणि वा, इंगाल-कम्मंताणि वा, कट्ठ-कम्मंताणि वा, सुसाण-कम्मंताणि वा, संति-कम्मंताणि वा, गिरि-कम्मंताणि वा, कंदर-कम्मंताणि वा, सेलोवट्ठाण-कम्मंताणि वा, भवण-गिहाणि वा,

जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि (जाव) भवणगिहाणि वा तेहिं ओवयमाणेहिं ओवयंति।

अयमाउसो ! अभिक्कंत किरिया वि भवइ।

—आया० श्रु २। अ २। प्र ३६। पृ० ५४

इस लोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं में कई एक श्रद्धालु गाथा-पति—गृहस्थ, गाथापत्नी-गृहिणी, गाथापति के पुत्र, गाथापति की पुत्री, गाथापति की

जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंतो जाव (वयमंता गुणमंता संजया संवुडा बंभयारी) उवरया मेहुणाओ धम्माओ। णो खलु एएसिं भयंताराणं कप्पइ आहाकम्मिए उवस्सए वत्थए। सेज्जाणिमाणि अम्हं अप्पणो सअट्ठाए चेइयाइं भवंति, तंजहा—आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा। सव्वाणि ताणि समणाणं णिसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सअट्ठाए चेतिस्सामो, तंजहा—आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा।

एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा। उवागच्छंति, उवागच्छित्ता इतरेतरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति।

अयमाउसो ! वज्जकिरिया वि भवइ।

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ३८। पृ० ५४,५५

इस लोक में कई श्रद्धालु गृहस्थ-गृहिणी आदि ऐसे होते हैं जो ऐसा कहते हैं कि जो साधु-श्रमण शीलवन्त हैं—आचारवन्त हैं, व्रतवन्त हैं, संयत हैं, संवृत हैं, ब्रह्मचारी हैं, मैथुन धर्म से निवृत्त हुए हैं, वे आधाकर्मी उपाश्रय आदि में निवास नहीं करते हैं अतः वे गृहस्थादि अपने लिए बनाये गये भवन आदि को साधु-श्रमण के रहने के लिए छोड़ देते हैं, खाली कर देते हैं तथा अपने लिए अन्य भवनादि बना लेते हैं। यदि साधु को यह मालूम हो जाय कि यह गृहस्थ अपने लिए बनाये गये भवनादि को तो साधु-श्रमण के लिए छोड़ रहा है लेकिन अपने लिए अन्यत्र भवनादि बनायेगा।

ऐसी स्थिति में साधु-श्रमण उस गृहस्थ के द्वारा प्रदत्त उन मकानों में जाकर रहे तो उसको वर्ज्यक्रिया लगती है।

·६ महावर्ज्यकिरिया :—

इह खलु पाईणं वा, पडीणं वा, दाहीणं वा, उदीणं वा, संतेगइया सड्ढा भवंति, तंजहा—गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवइ, तं सद्दहमाणेहिं, तं पत्तियमाणेहिं, तं रोयमाणेहिं, बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए पगणिय पगणिय समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तंजहा—आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा।

जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति, उवागच्छित्ता इतरेतरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति,

अयमाउसो ! महावज्ज-किरिया वि भवइ।

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ३९। पृ० ५५

आरंभेणं, महया विरूव-रूवेहिं पावकम्म-किच्चेहिं. तंजहा—छायणओ लेवणओ संथार-दुवार-पिहणओ। सीतोदए वा परिट्ठवियपुव्वे भवइ; अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवइ।

जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति, उवागच्छित्ता इयराइयरेहिं पाहुडेहिं दुपक्खं ते कम्मं सेवंति।

अयमाउसो! महासावज्ज-किरिया वि भवइ।

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ४१। पृ० ५५

इस लोक में कई श्रद्धालु गृहस्थ-गृहिणी आदि ऐसे होते हैं जो साधु के आचार-गोचर को भली-भाँति नहीं समझते हैं तथा श्रद्धा करके, प्रतीति करके, रुचि करके किसी एक श्रमण के रहने के उद्देश्य से भवन आदि का निर्माण कराते हैं। तदर्थ पृथ्वी-अप्-अग्नि-वायु-वनस्पति-त्रसकाय के महान समारम्भ, महान संरंभ, महान आरम्भ से नाना प्रकार के पापकर्म करते हैं, यथा—छादन करना, लेपन करना, संस्तार (बिछौना) बनाना, द्वार ढकना तथा तद् प्रयोजनार्थ शीतोदक का व्यवहार करना, अग्नि को प्रज्वलित करना।

इस प्रकार समारम्भ आदि से निर्मित घर यदि गृहस्थ साधु को रहने के लिए दे और साधु उसमें रहे तो वह दो (अशुद्ध) पक्षका सेवन करता है तथा उसको महासावद्य-क्रिया लगती है।

·६ अप्पसावज्ज किरिया :—

इह खलु पाईणं वा, पडीणं वा, दाहीणं वा, उदीणं वा, संतेगइया सड्ढा भवंति, तंजहा—गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा। तेसिं च णं आयार-गोयरे णो सुणिसंते भवइ, तं सद्दमाणेहिं, तं पत्तियमाणेहिं, तं रोयमाणेहिं अप्पणो सअट्ठाए तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तंजहा—आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा। महया पुढविकाय-समारंभेणं जाव अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवइ।

जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति, उवागच्छित्ता इयराइयरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति,

अयमाउसो! अप्पसावज्ज-किरिया वि भवइ।

—आया० श्रु २। अ २। उ २। सू ४२। पृ० ५५

इस लोक में कई श्रद्धालु गृहस्थ-गृहिणी आदि ऐसे होते हैं जो साधु के आचार-गोचर को भली-भाँति नहीं समझते हैं तथा श्रद्धा करके, प्रतीति करके, रुचि करके अपने रहने के उद्देश्य से भवनादि का निर्माण कराते हैं। तदर्थ पृथ्वी-अप्-अग्नि-वायु-वनस्पति-

× × × के स्थान पर 'से से परो कायं' पढ़ें।

० ० ० के स्थान पर 'णो तं साइए, णो तं णियमे' पढ़ें।

से से परो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। ××× संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा ०००। ××× तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा मक्खेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा ०००। ××× लोद्धेण वा, कक्केण वा, चुण्णेण वा, वण्णेण वा, उल्लोलेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा ०००। ××× सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा ०००। ××× अन्नयरेणं विलेवणजाएणं आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा ०००। ××× अन्नयरेण धूवणजाएणं धूवेज्ज वा, पधूवेज्ज वा ०००। ××× अन्नयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदेज्ज वा, विच्छिंदेज्ज वा—से से परो कायंसि वणं अन्नयरेणं सत्थजाएणं अच्छिदित्ता वा, विच्छिदित्ता वा, पूयं वा, सोणियं वा, नीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। (सू १६ से २७)

××× के स्थान पर—'से से परो कायंसि वणं' पढ़ें।

००० के स्थान पर—'णो तं साइए णो तं णियमे' पढ़ें।

से से परो कायंसि गंडं वा, अरइयं वा, पिडयं वा, भगंदलं वा, आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। ××× संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा ०००। ××× तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा, मक्खेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा ०००। ××× लोद्धेण वा, कक्केण वा, चुन्नेण वा, वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा ०००। ××× सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे।

××× अन्नयरेणं विलेवण-जाएणं आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा ०००। ××× अन्नयरेणं धूवण-जाएणं धूवेज्ज वा, पधूवेज्ज वा ०००।

××× अन्नयरेणं सत्थ-जाएणं अच्छिदेज्ज वा, विच्छिदेज्ज वा ०००। ××× अण्णयरेणं सत्थ-जाएणं अच्छिदित्ता वा, विच्छिदित्ता वा पूयं वा, सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे (सू २८ से ३४)

××× के स्थान में—'से से परो कायंसि गंडं वा, अरइयं वा, पिडयं वा, भगंदलं वा' पढ़ें।

००० के स्थान में—'णो तं साइए, णो तं णियमे' पढ़ें।

से से परो दीहाइं वालाइं, दीहाइं रोमाइं, दीहाइं भमुहाइं, दीहाइं कक्ख-रोमाइं, दीहाइं वत्थिरोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा णो तं साइए, णो तं णियमे। (सू ३७)

से से परो सीसाओ लिक्खं वा, जूयं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। (सू ३८)

से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता पादाइं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। xxx संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा ००० । xxx फूमेज्ज वा, रएज्ज वा ००० । xxx तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा, मक्खेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा ००० । xxx लोद्धेण वा, कक्केण वा, चुन्नेण वा, वन्नेण वा, उल्लोलेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा ००० । xxx सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा ००० । xxx अण्णयरेण विलेवणजाएण आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा ००० । xxx अण्णयरेण धूवण-जाएण धूवेज्ज वा पधूवेज्ज वा ००० । +++ खाणुं वा, कंटयं वा, णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा ००० । +++ पूयं वा, सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा णो तं साइए, णो तं णियमे। (प्र ३९ से ४८)

xxx के स्थान में 'से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता पादाइं' पढ़ें।

+++ के स्थान में 'से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता पादाओ' पढ़ें।

००० के स्थान में 'णो तं साइए, णो तं णियमे' पढ़ें।

से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता कायं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। xxx संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा ००० । xxx तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा, मक्खेज्ज वा, अब्भंगेज्ज वा ००० । xxx लोद्धेण वा, कक्केण वा, चुण्णेण वा, वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा ००० । xxx सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पहोएज्ज वा ००० । xxx अण्णयरेणं विलेवणजाएणं आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा ००० । xxx अण्णयरेणं धूवण-जाएणं धूवेज्ज वा पधूवेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे (प्र ४९ से ५५)।

xxx के स्थान में 'से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता कायं' पढ़ें।

००० के स्थान में 'णो तं साइए, णो तं णियमे' पढ़ें।

से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा णो तं साइए, णो तं णियमे। +++ संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा ०००। +++ तेल्लेण वा,घएण वा, वसाए वा मक्खेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा ०००। +++ लोद्धेण वा, कक्केण वा, चुण्णेण वा, वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा ०००। +++ सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा, उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा ०००। +++ अण्णयरेणं विलेवणजाएणं आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा ०००। +++ अण्णयरेणं धूवण-जाएणं धूवेज्ज वा, पधूवेज्ज वा ०००। +++ अण्णयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदेज्ज वा, विच्छिंदेज्ज वा ०००। +++ अण्णयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदित्ता वा, विच्छिंदित्ता वा, पूयं वा, सोणियं वा, णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णो तं साइए, णो तं णियमे। (सू० ५६ से ६४)

+++ के स्थान में 'से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता वा कायंसि वणं' पढ़ें।

००० के स्थान में 'णो तं साइए, णो तं णियमे' पढ़ें।

से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता कायंसि गंडं वा, अरइयं वा, पिडयं वा, भगंदलं वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। +++ संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा ०००। +++ तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा मक्खेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा ०००। +++ लोद्धेण वा, कक्केण वा, चुन्नेण वा, वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा ०००। +++ सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे।

[+++ अण्णयरेणं विलेवण-जाएणं आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा ०००। +++ अण्णयरेणं धूवण-जाएणं धूवेज्ज वा, पधूवेज्ज वा ०००। +++ अण्णयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदेज्ज वा, विच्छिंदेज्ज वा ०००।] +++ अण्णयरेणं सत्थ-जाएणं अच्छिंदित्ता वा, विच्छिंदित्ता वा, पूयं वा, सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा—णो तं साइए—णो तं णियमे। (सू० ६५ से ७१)

+++ के स्थान में 'से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता कायंसि गंडं वा, अरइयं वा, पिडयं वा, भगंदलं वा' पढ़ें।

००० के स्थान में 'णो तं साइए, णो तं णियमे' पढ़ें।

से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता वा कायाओ सेयं वा, जल्लं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा— णो तं साइए, णो तं णियमे। से से परो

अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता अच्छिमलं वा, कण्णमलं वा, दंतमलं वा, णहमलं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। (प्र ७२-७३)

से से अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता दीहाइं वालाइं दीहाइं रोमाइं, दीहाइं भमुहाइं, दीहाइं कक्खरोमाइं, दीहाइ वत्थिरोमाइं कप्पेज्ज वा, संठेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। (प्र ७४)

से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता सीसाओ लिक्खं वा, जूयं वा, णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। (प्र ७५)

से से परो अंकंसि वा, पलियंकंसि वा, तुयट्टावेत्ता हारं वा, अद्धहारं वा, उरत्थं वा, गेवेयं वा, मउडं वा, पालंबं वा, सुवण्णसुत्तं वा आविंधेज्ज वा पिणिधेज्ज वा—णो तं साइए, णो तं णियमे। (प्र ७६)

से से परो आरामंसि वा, उज्जाणंसि वा णीहरेत्ता वा, पविसेत्ता वा पायाइं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा णो तं साइए, णो तं णियमे। ×××। से से परो सुद्धेणं वा वइ-बलेणं तेइच्छं आउट्टे, से से परो असुद्धेणं वा वइ-बलेणं तेइच्छं आउट्टे, से से परो गिलाणस्स सचित्ताणि कंदाणि वा, मूलाणि वा, तयाणि वा, हरियाणि वा खणित्तु वा, कड्ढेत्तु वा, कड्ढावेत्तु वा तेइच्छं आउट्टेज्जा—णो तं साइए, णो तं णियमे। (प्र ७७-७८)—आया० श्रु २। अ १३। सू १ से ७८। पृ० ८५-८७

साधु संश्लेपिका अर्थात् कर्मबंधन की जननी परक्रिया की अभिलाषा न करे तथा न करावे।

"पर आत्मनो व्यतिरिक्तान्यस्तस्य क्रिया चेष्टा कायव्यापाररूपा तां परक्रियां"

आत्मा (स्वयं) से भिन्न अन्य व्यक्ति की काय-व्यापार रूप क्रिया—चेष्टा परक्रिया होती है।

यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के पैरों को पूँछे या विशेप रूप से साफ करे तो साधु उसकी अभिलाषा न करे और न ऐसे कार्य उससे करावे। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के पैरों को मले या मालिश करे; सहलावे या रगड़े; पैरों में तेल-घृत-चर्वी मले या मालिश करे; पैरों में लोध्र-कल्क-चूर्ण आदि उबटन द्रव्य घसे या लेप करे; पैरों को ठण्डे या उष्ण प्राशुक जल से प्रक्षालन करे या धोवे; पैरों में अन्य प्रकार के विलेपन जाति के द्रव्यों का आलेपन या लेपन करे; पैरों को विभिन्न प्रकार के धूप जाति के द्रव्यों से धूप देवे या विशेप धूप देवे; पैरों से कील-कांटा निकाले; पैरों का मवाद-खून निकाले या परिष्कार करे तो साधु इन कार्यों की अभिलाषा न करे और न इस प्रकार के कार्य उससे करावे। (सू १ से ११)

यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के शरीर को पूँछे या विशेष रूप से साफ करे तो साधु उसकी अभिलाषा न करे और न ऐसे कार्य उससे करावे। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के शरीर को मले या मालिश करे; शरीर में तेल-घृत-चर्वी मले या मालिश करे; शरीर में लोध्र-कल्क-चूर्ण आदि उबटन द्रव्य घसे या लेप करे; शरीर को ठण्डे या उष्ण प्राशुक जल से प्रक्षालन करे या धोवे; शरीर में अन्य प्रकार के विलेपन जाति के द्रव्यों का आलेपन या लेपन करे; शरीर पर विभिन्न प्रकार के धूप जाति के द्रव्यों से धूप देवे या विशेष धूप देवे, तो साधु इन कार्यों की अभिलाषा न करे और न इस प्रकार के कार्य उससे करावे (सू १२ से १८)।

यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के शरीर में व्रण-फोड़ा-क्षत पूँछे या विशेष रूप से साफ करे तो साधु उसकी अभिलाषा न करे और न ऐसे कार्य उससे करावे। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के शरीर में व्रण को मले या मालिश करे; शरीर में व्रण पर तेल-घृत-चर्वी मले या मालिश करे; शरीर में व्रण पर लोध्र-कल्क-चूर्ण आदि मलहम लगावे या लेप करे; शरीर में व्रण को ठण्डे या उष्ण प्राशुक जल से प्रक्षालन करे या धोवे, शरीर में व्रण पर अन्य-प्रकार के विलेपन जाति के द्रव्यों का आलेपन या विलेपन करे; शरीर में व्रण पर विभिन्न प्रकार के धूप जाति के द्रव्यों से धूप देवे या विशेष धूप देवे; शरीर में व्रण को विभिन्न प्रकार के शस्त्र से छेद करे या काटे या छेदकर या काटकर मवाद-रक्त निकाले या परिष्कार करे तो साधु इन कार्यों की अभिलाषा न करे और न इस प्रकार के कार्य उससे करावे (सू १९ से २७)।

व्रण के सम्बन्ध में गृहस्थ कृत जिन-जिन क्रियाओं का वर्णन ऊपर किया गया है उसी प्रकार शरीर में गंड-गांठ, अरइयं—दुःखदायी फोड़ा, पिडयं—पीड़ादायक घाव तथा भंगदर सम्बन्धी उन-उन क्रियाओं का वर्णन करके कहना चाहिए कि साधु इन क्रियाओं की अभिलाषा न करे और न इस प्रकार की क्रियाओं को करावे (सू २८ से ३४)।

यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के शरीर का स्वेद या मैल तथा आँख का मैल या कान का मैल या दाँत का मैल या नख का मैल निकाले या साफ करे तो साधु इन कार्यों की अभिलाषा न करे और न इस प्रकार की क्रिया उससे करावे (सू ३५-३६)।

यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के बढ़े हुए बाल, रोम, भ्रू के बाल, कांख-काछ के बाल, गुदा के बाल को काटे या तराशे तो साधु इन कार्यों की अभिलाषा न करे और न इस प्रकार की क्रिया उससे करावे (सू ३७)।

यदि कोई व्यक्ति (गृहस्थ) साधु के सिर में से जूका या लीख निकाले तो साधु इन कार्यों की अभिलाषा न करे और न इस प्रकार के कार्य उससे करावे (सू ३८)।

यदि कोई व्यक्ति—गृहस्थ साधु को गोद में या पलंग पर सुलाकर उसके पैर के सम्बन्ध में उन-उन क्रियाओं को करे जिनका वर्णन उपर्युक्त सू १ से ११ में किया गया है तो साधु इन कार्यों की अभिलाषा न करे और न उन-उन कार्यों को उससे करावे (सू ३६ से ४८)।

ऊपर में जिस प्रकार शरीर, शरीर में व्रण, शरीर में गंड-गाँठ, अरइयं—दुःखदायी फोड़ा, पिडयं—पीड़ादायक घाव तथा भगन्दर, शरीर का स्वेद या मैल, आँख का मैल या कान का मैल या दाँत का मैल या नख का मैल, बढ़े हुए बाल, रोम, भ्रू के बाल, कांख के बाल, गुदा के बाल, शिर में से जूका या लीख आदि सम्बन्धी जिन-जिन क्रियाओं का वर्णन किया गया है—उन-उन क्रियाओं को साधु को गोद में या पलंग पर सुलाकर यदि कोई व्यक्ति—गृहस्थ करे तो साधु उनकी अभिलाषा न करे तथा न उन-उन क्रियाओं को करावे (सू ४६ से ७५)।

यदि कोई व्यक्ति—गृहस्थ साधु को गोद में या पलंक पर सुलाकर हार, अर्द्धहार या वक्षहार, या गले का आभरण, या मुकुट—शिर का आभूषण या माला या सुवर्णसुत्त बांधे या पहरावे तो साधु इनकी अभिलाषा न करे और न करावे (सू ७६)।

यदि कोई व्यक्ति—गृहस्थ साधु को उपवन या उद्यान में ले जाकर पैर आदि के सम्बन्ध में पूँछने आदि की क्रियाएँ करे तो साधु उनकी अभिलाषा न करे और न करावे (सू ७७)।

यदि कोई व्यक्ति—गृहस्थ विद्या-मन्त्र के बल से या सचित्त कन्द या मूल या त्वचा या हरी वनस्पति को खोदकर, छेदकर, काटकर ग्लान साधु की चिकित्सा करे तो साधु उसकी अभिलाषा न करे और न करावे (सू ७८)।

·११ अन्योन्य क्रिया :—

एवं (परकिरियं सरिसं) णेयव्वा अण्णमण्णकिरिया वि।

—आया० श्रु २। अ १४। पृ० ८७

टीका—अन्योन्यं परस्परतः साधुना कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्योन्योन्यक्रिया।

पारस्परिक अर्थात् एक दूसरे के प्रति शरीर—अङ्गोपांग आदि सम्बन्धी दान-प्रतिदान की अभिलाषा से की गई क्रिया—अन्योन्यक्रिया।

इसी प्रकार परक्रिया की तरह अन्योन्यक्रिया के समग्र पाठ जान लेने चाहिए।

·१२ भिक्षू और कृतक्रिया

संसारी कयकिरिए, पसिणाय तणाणि य।
सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया॥

—सूय० श्रु २। अ ६। गा १६। पृ० १२३

टीका— कृता शोभना गृहकरणादिक्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवमसंयतानुष्ठान-प्रशंसनम्।

कृता अर्थात् शोभा करनी, प्रशंसा करनी, गृहकरणादि क्रियाओं की अर्थात् असंयतानुष्ठानों की प्रशंसा करना—कृतक्रिया।

उक्त गाथा में साधु को गृहकर्मों—असंयतानुष्ठानों की प्रशंसा न करने का उपदेश दिया है।

·६४·३ भिक्षु और अक्रिया :—

(क) से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे। एस खलु भगवया अक्खाए संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए भवइ।

—सूय० श्रु २। अ ४। सू ५। पृ० १६६

प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य पापस्थानों से विरत वह भिक्षु अक्रिय अर्थात् सर्व सावद्य क्रिया से रहित, अहिंसक, अक्रोधी यावत् अलोभी, उपशांत और परिनिवृत्त होता है। भगवान ने ऐसे संयमी को संयत, विरत, प्रतिहत—पापकर्म के प्रत्याख्यान सहित, अक्रिय, संवृत, एकांत पंडित कहा है।

(ख) अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपज्जामि।

—आव० अ ४। पृ० ११६६

अक्रिया अर्थात् दुष्टक्रिया का परित्याग करता हूँ तथा क्रिया अर्थात् सदनुष्ठान क्रिया में समाचरण करता हूँ।

·६४·४ भिक्षू और वैद्य की छेदन-क्रिया

अणगारस्स णं भंते? भावियप्पणो छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं-जाव-आयावेमाणस्स तस्स णं पुरिच्छमेणं अवड्ढं दिवसं नो कप्पइ हत्थं वा पायं वा बाहं वा उरुं आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा, पच्चच्छिमेणं से अवड्ढं दिवसं कप्पइ हत्थं वा पायं

वा-जाव—उरुं वा आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा, तस्स णं अंसियाओ लंबंति, तं चेव (च) वेज्जे अदक्खु ईसिं पाडेइ पाडेइत्ता अंसियाओ छिंदेज्जा, से नूनं भंते ! जे छिंदइ तस्स किरिया कज्जइ, जस्स छिज्जइ नो तस्स किरिया कज्जइ, णण्णत्थेगेणं धम्मंतराइएणं। हंता, गोयमा ! जे छिंदइ जाव धम्मंतराइएणं।

—भग० श १६ । उ ३ । प्र ४ । पृ० ७४३

छट्ठ-छट्ठ (दो-दो दिन की तपस्या करते हुए) के तपपूर्वक यावत् आतापना लेते हुए भावितात्मा अणगार को पूर्व भाग के दिनार्द्ध में (प्रथम दो प्रहर तक) हस्त अथवा पैर अथवा बाहु अथवा उरु-साथल को संकोच करना, फैलाना नहीं कल्पता है तथा पश्चिम भाग के दिनार्द्ध में हस्त अथवा पैर अथवा बाहु अथवा उरु साथल को संकोच करना, फैलाना नहीं कल्पता है।

कायोत्सर्ग में स्थित उस अणगार की नासिका में लम्बमान अर्श को कोई वैद्य देखे तथा अर्श को देखकर उस अर्श का छेदन करने के लिए मुनि को भूमि पर गिरावे तथा गिरा कर उसके अर्श का छेदन करे तो उस वैद्य को क्रिया होती है ; जिस साधु के अर्श को छेदा जाता है उस साधु को क्रिया नहीं होती है परन्तु धर्मान्तराय (शुभ-ध्यान का विच्छेद) होता है।

·९७ क्रियासंबंधी उपदेश :—

(क) णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए॥

—सूय० श्रु २ । अ ५ गा १६

क्रिया तथा अक्रिया नहीं है—ऐसी संज्ञा—विचार नहीं रखना परन्तु क्रिया तथा अक्रिया है—ऐसा विचार रखना।

यहाँ टीकाकार ने परिस्पन्दनात्मिका क्रिया का ग्रहण किया है और सांख्यों के आकाश की तरह सर्वव्यापी आत्मा में परिनिष्पंदिका क्रिया नहीं होती है इसका निरसन किया है।

(ख) किरियं च रोयए धीरे, अकिरियं परिवज्जए।

—उत्त० अ १८ । गा ३३ । पृ० १००७

धीर पुरुष क्रिया—सदनुष्ठान क्रिया में रुचि रखे और अक्रिया दुष्टक्रिया का परित्याग करे।

·६८ जैनेतर ग्रन्थों में क्रिया के समतुल्य वर्णन—

[जैनेतर ग्रन्थ का 'क्रिया' की अपेक्षा हम विस्तृत अध्ययन नहीं कर सके। पुस्तकों के शेष में शब्द-सूची के अभाव में हमारे अनुसंधान में कमी रह गयी। महाभारत के शांति पर्व में हमें क्रिया संबन्धी उपर्युक्त पाठ नहीं मिला। गीता से हमने तीन पाठ लिये हैं।]

·१ गीता में कर्मसंग्रह का कारण करण-क्रिया—

[जिस प्रकार जैनदर्शन में क्रिया—करण को कर्मबन्ध का निमित्त कहा गया है प्रायः उसी प्रकार गीता में करण-क्रिया को कर्मसंग्रह का एक कारण बताया गया है।

करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।

—गीता० अ १८। श्लो० १८। उत्तरार्ध

शांकरभाष्य—करणं क्रियतेऽनेनेति वाह्यं श्रोत्रादि, अन्तस्थं बुद्ध्यादि, कर्मेप्सिततमं कर्तुः क्रियया व्याप्यमानं, कर्त्ता करणानां व्यापारयितोपाधिलक्षण इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः कर्मसंग्रहः। संगृह्यतेऽस्मिन्निति संग्रहः कर्मणः संग्रहः कर्मसंग्रहः।

करण अर्थात् जिससे क्रिया की जाती है। करण के दो भेद हैं— वाह्य और अन्तस्थ। वाह्य क्रिया श्रोत्रेन्द्रिय आदि से होती है तथा अन्तस्थक्रिया बुद्धि आदि से होती है। इच्छा-पूर्वक जो क्रिया की जाय वह कर्म है। वाह्य तथा अन्तस्थ करणों से व्यापार करता हुआ उपाधिलक्षण कर्त्ता है—इन तीनों से कर्म संग्रह होता है।

·२ गीता में सर्वारम्भपरित्यागी आत्मा—

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

—गीता० अ १४। श्लो २५। उत्तरार्ध

शांकरभाष्य—सर्वारम्भपरित्यागी दृष्टादृष्टार्थानि कर्माण्यारभ्यन्त इत्यारम्भाः सर्वानारम्भान्परित्यक्तुं शीलमस्येति सर्वारम्भपरित्यागी देहधारणमात्रनिमित्तव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः।

दृष्ट अदृष्ट अर्थों—कर्मों को जो किया जाय—वह आरंभ है। जिसका शील—धर्म सर्व आरम्भ परित्याग करने का है वह सर्वारम्भपरित्यागी। देह-धारण निमित्त जो कर्म करने पड़े उनको छोड़कर सर्व कर्म आरम्भ का परित्याग करने वाला— सर्वारम्भपरित्यागी।

·३ गीता में कर्मों से लिप्त न होनेवाली आत्मा—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

—गीता० अ ५। श्लो ७

शांकरभाष्य—सम्यग्दर्शनप्राप्त्युपायत्वेन योगेन युक्तो विशुद्धात्मा विशुद्धसत्त्वो विजितात्मा विजितदेहो जितेन्द्रियश्च सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्ब-पर्यन्तानां भूतानामात्मभूत आत्मा प्रत्यक्चेतनो यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा। सम्यग्दर्शीत्यर्थः। स तत्रैवं वर्तमानो लोकसंग्रहाय कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते। न कर्मभिर्बध्यत इत्यर्थः।

योगयुक्तो—सम्यग्दर्शन प्राप्ति के उपायरूप योग से युक्त, विशुद्धात्मा—विशुद्ध-सत्त्व—जीव, विजितात्मा—विजितदेह, जितेन्द्रिय, सर्वभूतों की चेतना जिसमें व्याप्त हो गई है ऐसा सम्यग्दर्शी जीव या आत्मा लोकसंग्राहक कर्म—क्रिया करता हुआ भी कर्मों से लिप्त—बद्ध नहीं होता है।



'९९ क्रिया सम्बन्धी फुटकर पाठ—

'९९'१ क्रिया और स्याद्वाद—

स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकलाः क्रियाः।
लोकद्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमियूति॥

—ठाणा० स्था १। सू २। टीका में उद्धृत

उस स्यादवाद को नमस्कार हो जिस स्याद्वाद के विना दोनों लोकों में होनेवाली सर्व क्रियाओं की योग्य संगति नहीं बैठती है।



'९९'२ क्रिया और आस्रव—

एगे आसवे। —ठाण० स्था १। सू १३। पृ० १८३

टीका में उद्धृत—

इंदिय, कसाय, अव्वय, किरिया पणचउरपंचपणुवीसा।
जोगा तिन्नेव भवे, आसवभेया उ बायाला॥

उपर्युक्त गाथा में क्रिया को आस्रव के ४२ भेदों में गिनाया गया है। आगम में, तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित क्रिया के २५ भेदों को आस्रव के ४२ भेदों में सम्मिलित किया गया है।



'९९'३ क्रिया और वेदना :—

पुव्विं भंते! किरिया, पच्छा वेयणा? पुव्विं वेयणा, पच्छा किरिया?

मंडियपुत्ता! पुव्विं किरिया, पच्छा वेयणा। नो पुव्विं वेयणा, पच्छा किरिया।

—भग० श ३। उ ३। प्र ७। पृ० ४५६

पहले क्रिया होती है और पीछे वेदना होती है परन्तु पहले वेदना और पीछे क्रिया होती है, यह बात नहीं है।

टीका—उक्ताः क्रियाः, अथ तज्जन्यं कर्म, तद्वेदनां चाधिकृत्य आह—'पुव्वं भंते !' इत्यादि। क्रिया करणम्, तज्जन्यत्वात् कर्म अपि क्रिया, अथवा क्रियत इति क्रिया—कर्म एव। वेदना तु कर्मणोऽनुभवः, सा च पश्चादेव भवति, कर्मपूर्वकत्वात् तदनुभव(न)स्य इति।

यहाँ क्रियाजन्य कर्म और कर्मजन्य वेदना के सम्बन्ध में कथन किया गया है। जो की जाय उसे क्रिया कहते हैं, क्रिया से कर्म उत्पन्न होता है अतः जन्य और जनक में अभेद की विवक्षा करने से कर्म को भी क्रिया कहा जाता है। अथवा यहाँ क्रिया शब्द का अर्थ कर्म है। कर्म के अनुभव को वेदना कहते हैं। कर्म के बाद वेदना होती है क्योंकि कर्मपूर्वक ही वेदना होती है। कर्म का सद्भाव पहले होता है और उसके बाद वेदना (कर्म का अनुभव) होती है।

'६६'४ क्रिया और दुःख :—

(अण्णउत्थिया णं भंते ! एवं आइक्खंति, जाव एवं परूवेंति)

जा सा पुव्विं किरिया दुक्खा, कज्जमाणी – किरिया अदुक्खा, किरियासमयवितिक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा।

जा सा पुव्विं किरिया दुक्खा, कज्जमाणी किरिया अदुक्खा, किरियासमयवितिक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा। सा किं करणओ दुक्खा, अकरणओ दुक्खा ? अकरणओ णं सा दुक्खा, नो खलु सा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया। ×××।

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव ××× वत्तव्वं सिया। जे ते एवं आहिंसु, मिच्छा ते एवं आहिंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ×××।

पुव्वं किरिया अदुक्खा। जहा भासा तहा भाणियव्वा (कज्जमाणी किरिया दुक्खा, किरियासमयवितिक्कंतं च णं कडा किरिया अदुक्खा) किरिया वि जाव—करणओ णं सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया।

—भग० श १। उ १०। प्र ३१४, ३१५, ३१७, ३२३। पृ० ४१४-१५

करने से पहले क्रिया दुःख का कारण नहीं है, की जाती हुई क्रिया ही दुःख का कारण है, क्रिया का समय व्यतिक्रांत होने के बाद की कृतक्रिया दुःख का कारण नहीं है।

क्रिया करने से ही वह दुःख का कारण है, नहीं करने से वह दुःख का कारण नहीं है। ऐसा भगवान महावीर कहते हैं तथा इसके विपरीत अन्यतीर्थी जो कहते हैं वह मिथ्या है।

·९९·५ क्रिया और गुणस्थान

·१ गुणस्थान और आरंभिकी क्रियापंचक :—

(देखो क्रमांक ·६५·५)

·२ गुणस्थान और कायिकी क्रियापंचक—

कायिकी क्रियापंचक—आरंभिकी क्रिया का ही विश्लेषण है। अतः जिनको आरंभिकी क्रिया होती है उनको कायिकी क्रियापंचक में से कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं। आरंभिकी क्रिया प्रथम गुणस्थान से छट्टे गुणस्थान तक होती है अतः इन छः गुणस्थानवर्ती जीवों के कायिकी क्रियापंचक में से कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं। छट्टे के उत्तरवर्ती गुणस्थानों में कायिकी क्रियापंचक की कोई भी क्रिया नहीं होती है।

·३ गुणस्थान और जीव की सक्रियता-अक्रियता :—

जीवा णं भंते ! किं सकिरिया-अकिरिया ? ×××।

(देखो पूरे पाठ के लिये क्रमांक ८१·१)

टीका—तत्र ये असंसारसमापन्नकास्ते सिद्धाः, सिद्धाश्च देहमनोवृत्त्यभावतोऽक्रियाः, ये तु संसारसमापन्नकास्ते द्विविधाः शैलेशीप्रतिपन्नका अशैलेशी प्रतिपन्नकाश्च, शैलेशी नामायोग्यवस्था तां प्रतिपन्नाः शैलेशीप्रतिपन्नाः, ततः पूर्ववत् स्वार्थिकः कप्रत्ययः, शैलेशीप्रतिपन्नकाः, तद्व्यतिरिक्ताः अशैलेशीप्रतिपन्नकाः, तत्र ये शैलेशीप्रतिपन्नकास्ते सूक्ष्मबादरकायवाङ्मनोयोगनिरोधादक्रियाः, ये त्वशैलेशीप्रतिपन्नकास्ते सयोगित्वात् सक्रियाः।

·९९·६ क्रिया और ज्ञान :—

ते एवमक्खंति समिच्च लोगं, तहा तहा समणमाहणा य।
सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं॥

—सूय० श्रु १। अ १२। गा ११। पृ० १२८

टीका—'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं' ति, न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिः, अंधस्येव, नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्गोरित्यव। ××× ।

तद्यथा—विद्या—ज्ञानं, चरणं—चारित्रं क्रिया, तत्प्रधानो मोक्षस्तमुतावंतो, न ज्ञानक्रियाभ्यां परस्परनिरपेक्षाभ्यामिति तथा चोक्तम् -

क्रियां च सज्ज्ञानवियोगनिष्फलां, क्रियाविहीनां च विबोधसम्पदम्।
निरस्यता क्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः॥
अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम्॥

—सूय० श्रु १। अ १२। सू ११, १७। टीका

लोक में कई व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि ज्ञानमात्र से मुक्ति होती है और कई व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि ज्ञान विना भी क्रिया करने से मुक्ति होती है लेकिन श्रमण निर्ग्रंथ भगवान् महावीर ने विद्या—ज्ञान और चरण—चारित्र—क्रिया—दोनो के संयोग से मुक्ति होना कहा है।

ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया से सिद्धि नहीं होती है—जैसे, अंधा मनुष्य अकेला गंतव्य स्थल को प्राप्त नहीं कर सकता है तथा क्रिया-विहीन ज्ञान मात्र से सिद्धि नहीं हो सकती है यथा, पंगु मनुष्य अपने गंतव्य स्थान को नहीं पहुँच सकता है।

सद्—सम्यग् ज्ञान के विना क्रिया निष्फल होती है तथा क्रिया-विहीन ज्ञान भार-भूत है—जैसे औषधि के ज्ञान मात्र से रोगी को कोई लाभ नहीं होता है औषधि के चिंतन मात्र से रोग दूर नहीं होता है उसी प्रकार क्रिया के विना ज्ञान व्यर्थ है तथा सद्ज्ञान रहित क्रिया भी व्यर्थ है।

अतः भगवान् ने उपदेश दिया है कि सम्यग् ज्ञान और सम्यग् क्रिया के युगल से जीव की मुक्ति होती है।

'६६'७ क्रिया और दर्शन :—

निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीयरुइमेव।
अभिगमवित्थारुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई॥
दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्चसमइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम॥

—उत्त० अ २८। गा १६, २५। पृ० १०२६

सम्यक्त्व के १० भेदों में क्रियारुचि भी एक भेद है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति तथा गुप्ति रूप क्रियाओं से ही जिसकी रुचि सद्-पदार्थों में होती है वह क्रियारुचि सम्यक्त्व है।

'६६'८ क्रिया और ध्यान

काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति।

—तत्त्वराज० अ ६। सू ४०। टीका

सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति। तदस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते। समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पंदक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते।

—तत्त्वराज० अ ६। सू ४४। टीका

तेरहवें गुणस्थान की शेष अवस्था की तरफ सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान (तीसरा पाद) होता है। इस अपेक्षा से उस समय भी जीव सक्रिय होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इसके पूर्व के सब ध्यानों में भी जीव सक्रिय होता है क्योंकि उस समय योग-चलना इसकी तुलना में अधिकतर होती है।

सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान के बाद समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान (चौथा पाद) आरंभ होता है तथा इसके द्वारा प्राणापान—श्वासोच्छ्वास का प्रचार (आवागमन) बंद तथा समस्त काय-वचन-मन-योग का निरोध हो जाता है तथा सर्व आत्मप्रदेश की परिस्पदन क्रिया रुक जाती है और क्रिया और योग के अव्यापार से जीव अयोगी तथा अक्रिय हो जाता है।

शुक्लध्यान के तीसरे ध्यान (पाद) में सूक्ष्म काययोग का सहयोग होता है लेकिन चौथे ध्यान (पाद) में सर्व क्रियाएँ समुच्छिन्न-व्युच्छिन्न हो जाती हैं। चौथे ध्यान में निमग्न जीव क्रिया-रहित होता है। तीसरे ध्यान वाला जीव सूक्ष्मकायिक क्रिया सहित होता है।

'६६'६ क्रिया और अहिंसा महाव्रत की भावना —

अहावरा दोच्चा भावणा, मणं परिजाणाइ से णिग्गंथे, जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे अधिकरणिए, पाओसिए, परितावीए पाणाइवा-इए, भूओवघाइए तहप्पगारं मणं णो पधारेज्जा, मणं परिजाणाइ से णिग्गंथे जे य मणे अपावए त्ति दोच्चा भावणा।

अहावरा तच्चा भावणा, वइं परिजाणाइ से णिग्गंथे जा य वई पाविया सावज्जा सकिरिया जाव भूओवघाइया तहप्पगारं वइं णो उच्चारिज्जा, जे वइं परिजाणाइ से णिग्गंथे जा य वई अपाविय त्ति तच्चा भावणा।

—आया० श्रु २। अ १५। सू ४५-४६। पृ० ६५

महाव्रती—संयति कायिकी, आधिकरणिकी आदि क्रियाओं से मन को सक्रिय न करे अर्थात् मन को इन क्रियाओं में प्रवृत्त न होने दे।

कायिकी, आधिकरणिकी आदि क्रियाओं से वचन को सक्रिय न करे अर्थात् क्रिया करने वाले शब्दों का उच्चारण न करे।

हमने यहाँ अर्थ क्रिया की अपेक्षा से किया है।

'६६'१० क्रिया और काल

'वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य। —तत्त्व० अ ५। सू २२

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व काल के उपकार हैं। द्रव्यों में क्रिया का होना काल का उपकार है।

सर्व० टीका—क्रिया परिस्पन्दात्मिका।

यह क्रिया परिस्पन्दात्मिका होती है, अर्थात् द्रव्यों में जो परिस्पन्दन रूप परिणमन होता है वह क्रिया है।

'६६'११ क्रिया और परिणाम

(क) सर्व० टीका—द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः। जीवस्य क्रोधादिः पुद्गलस्य वर्णादिः। धर्माधर्माका-शानामगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः।

क्रिया परिस्पन्दात्मिका। —तत्त्व० अ ५। सू २२

एक धर्म की निवृत्ति होकर दूसरे धर्म की उत्पत्तिरूप परिस्पन्दन रहित जो द्रव्य की पर्याय होती है उसे परिणाम कहते हैं। यथा—जीव का क्रोधादि भावों में, पुद्गल का वर्णादि में तथा धर्म-अधर्म-आकाश का अगुरुलघु गुण में परिणमन करना।

क्रिया परिस्पन्दन रूप होती है।

परिणाम अपरिस्पन्दन रूप है, क्रिया परिस्पन्दन रूप होती है।

तत्त्वभाष्य—आ आकाशादेव धर्मादीनि निष्क्रियाणि भवन्ति। पुद्गल-जीवास्तु क्रियावन्तः। —तत्त्व० अ ५। सू ६

धर्म-अधर्म-आकाश क्रिया-रहित होते हैं तथा जीव और पुद्गल क्रियावान् होते हैं।

(ख) क्रिया परिस्पन्दात्मिका द्विविधा ॥१६॥

द्रव्यस्य द्वितयनिमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्यवसीयते। सा द्विविधा पूर्ववत् प्रयोगविस्रसानिमित्ता। प्रायोगिकी शकटादीनाम्। विस्रसानिमित्ता मेघादीनाम्।

स्थितिग्रहणमिति चेत् ; न ; परिणामावरोधात् ॥ २० ॥

स्यादेतत्—यदि परिस्पन्दात्मिका क्रिया इत्युच्यते स्थितेर्ग्रहणं प्राप्नोति। गतिनिवृत्तिर्हि स्थितिरिति, तन्न ; किं कारणम्? परिणामावरोधात्। स्थितिर्हि परिणामेऽन्तर्भवति।

परिणामग्रहणमेवास्ते इति चेत् ; न ; भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात् ॥२१॥

स्यान्मतम्—यथा स्थितिः परिणामेऽन्तर्भवति तथा क्रियापि तत्रैवावरुध्यते इति परिणामग्रहणमेवैकमस्तु इति, तन्न ; किं कारणम्? भावद्वैविध्यख्यापनार्थत्वात्। द्रव्यस्य हि भावो द्विविधः—परिस्पन्दात्मकः, अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते, इतरः परिणामः, इत्येतत् ख्यापनार्थं पृथग्ग्रहणम्।

—तत्त्वराज०। अ ५। सू १६ से २२। पृ० ४८१

बाह्य और आभ्यंतर निमित्तों से द्रव्य में जो परिस्पन्दात्मक परिणमन होता है उसे क्रिया कहते हैं। वह प्रायोगिक और वैस्रसिक दो प्रकार की होती है। गाड़ी आदि की क्रिया प्रायोगिकी है तथा मेघादि की क्रिया वैस्रसिकी है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि स्थिति रूप परिणमन का यदि परिणाम में अन्तर्भाव होता है तो क्रियारूप परिणमन का भी उसी में अन्तर्भाव हो सकता है और ऐसी स्थिति में केवल परिणाम का ही निर्देश करना चाहिए।

समाधान में कहा गया है कि द्रव्य के परिस्पंदात्मक तथा अपरिस्पंदात्मक दो भाव होते हैं तथा इन दोनों प्रकार के भावों की सूचना के लिए क्रिया का पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है। अन्तः परिस्पंदन क्रिया है तथा अपरिस्पंदात्मक भाव-परिणाम है।

'९९'१२ ऐर्यापथिक क्रिया और सावद्य—

'सूयगडांग' सूत्र में क्रियास्थान अध्ययन में १३वें क्रियास्थान में ऐर्यापथिक क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकारने सूत्र के अन्त में निम्नलिखित वाक्यों का प्रयोग किया है।

'सा पढमसमए बद्धा-पुट्ठा, वितीयसमए वेइया, तइयसमए निज्जिण्णा सा बद्धा-पुट्ठा-उदीरिया-वेइया सेयकाले अकम्मे यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।' —सूय० श्रु० २। अ २। सू १४। पृ० १४९

उपर्युक्त पाठ में ऐर्यापथिक क्रिया से तत्प्रत्ययिक होने वाले सावद्य का उल्लेख है। 'एवं खलु तस्स तप्पतियं, 'सावज्जं' ति आहिज्जइ' में 'सावज्ज" शब्द का प्रयोग हमारी समझ में नहीं आया, लेकिन प्रकाशित अनेक प्रतियों का अवलोकन करने पर भी सर्वत्र 'सावज्ज" शब्द मिला। खोज करने पर हमने सुना कि कतिपय हस्तलिखित प्रतियों में 'सावज्जं' शब्द बाद दिया हुआ है लेकिन उसके स्थान पर वाक्यपूर्ति के लिए किसी अन्य शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। हमारे मन में आया कि स्याद्‌वादी होने के कारण सूत्रकार ने 'सावज्ज" शब्द का प्रयोग किसी विशेष दृष्टि या नय की अपेक्षा ही किया होगा। सामान्यतः 'सावद्य' का अर्थ पाप या पापकर्म का बंधन के भाव में लिया जाता है तथा ऐर्यापथिक क्रिया से सातावेदनीय पुण्य कर्म का बंधन होता है। १२ क्रियास्थानों में जिनसे पापकर्म का बंधन होना निश्चित है उनमें भी 'एवं खलु तस्स तप्पत्तियं 'सावज्ज' ति आहिज्जइ' वाक्य का प्रयोग है। अतः ऐर्यापथिक क्रिया के साथ पाप या पापकर्म बंधन अर्थ वाले 'सावद्य' शब्द का प्रयोग हमें अनुपयुक्त लगा।

हम अनुसंधान के कार्य के लिए आवश्यक सूत्र की मलयगिरि टीका का अध्ययन कर रहे थे उसमें 'सावज्जजोगविरओ' शब्द पर हमारी दृष्टि टिकी। हमने इस शब्द की टीका पढनी आरंभ की। इसमें, भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा 'सावज्जजोगविरओ' की टीका की गयी है। इसमें 'एवंभूतनय' से सावद्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है। 'अवद्यं कर्मबंधः, सहावद्यं यस्य येन वा स सावद्यः।' अतः अवद्य का यदि केवल कर्मबंध अर्थ लिया जाय तो ऐर्यापथिक क्रिया के साथ 'सावद्य' शब्द के प्रयोग में कोई बाधा नहीं आती है क्योंकि इस क्रिया से भी दो समय की स्थिति वाले कर्म का बंधन होता है।

सावज्जजोगविरओ, तिगुत्तो छसु संजओ।
उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइअं होइ ॥१४९॥ (मू० भा०)

टीका—xxx। एवंभूतो वदति—xxx। सावद्ययोगविरतो नाम अवद्यं—कर्म्मबंधः, सहावद्यं यस्य येन वा स सावद्यः। योगो व्यापारः सामर्थ्यंवीर्यमित्येकार्थं, "जोगो विरियं थामो उच्छाहपरक्कमो तहा चेट्ठा। सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स 'ति पज्जाया ॥१॥" इति वचनात्, सावद्यश्चासौ योगश्च सावद्ययोगस्तस्मात्

विरतः—प्रतिनिवृत्तः सावद्ययोगविरतो, ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिज्ञातसमस्तसावद्ययोगः, किमुक्तं भवति ?—निरुद्धसूक्ष्मबादरमनोवाक्कायव्यापारो विगतक्रियानिवर्त्तिध्यानमधिरूढः शैलेशीप्रतिपन्नो नामात्मा सामायिकमिति, एवं चाप्रमत्तसंयतादीनां व्यवच्छेदः, तेषां मनोवाक्कायव्यापारवत्तया सावद्ययोगपरिकलितत्वात्, 'नत्थि हु सकिरियाणं अबंधगं किंचि इह अणुट्ठाण' मिति वचनात्।

—आव० आ १। सू १। टीका

एवंभूतनय के अनुसार 'सावज्जजोगविरओ' शब्द का अर्थ करते हुए टीकाकार कहते हैं कि अवद्य अर्थात् कर्म का बंध। जो कर्म के बंध सहित हो वह सावद्य, योग अर्थात् व्यापार-सामर्थ्य-वीर्य आदि। जिसका योग सावद्य हो वह सावद्ययोग तथा उससे निवृत्त सावद्ययोगविरत। ज्ञपरिज्ञा से—प्रत्याख्यानपरिज्ञा से समस्त सावद्य योग का परिज्ञान होता है। इस सावद्य-योग की विरति कहाँ होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं कि जिनके सूक्ष्म-बादर मनो-वचन-काय के व्यापार निरुद्ध हो गये हैं—समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति ध्यान में अधिरूढ़ हैं और जो शैलेशीत्व को प्राप्त हो गये हैं उनकी आत्मा सावद्ययोगविरत—सामायिक होती है।

इस परिभाषा से अर्थात् कर्मबंध की परिभाषा से अप्रमत्त संयत आदि का भी व्यवच्छेद हो जाता है। उनके मनोवाक्काय के व्यापार होने के कारण उनमें सावद्य योग की परिकल्पना होती है क्योंकि कोई भी सक्रिय जीव कर्म का अबंधक नहीं होता है।

सावद्य की परिभाषाएँ—

(क) अवद्यं—पापं सहावद्येन यस्य येन वा स सावद्यः।

—आव० आ १। सू १। मलय टीका पृ० ५५६

(ख) अवद्यं—मिथ्यात्वकषायनोकषायलक्षणं, सह अवद्यं यस्य येन वा स सावद्यः (मूल टीकानुसारेण व्याख्या)।

—आव० मलय टीका उक्त : मूलभाष्य गा १४६

(ग) (एवंभूतो वदति) ×××। अवद्यं—कर्म्मबंधः सहावद्यं यस्य येन वा स सावद्यः। —आव० मलय टीका उक्त : मूलभाष्य गा १४६

(घ) तस्यावद्यं—तस्य कर्मोपचये —सूय० श्रु १। अ १। उ २। सू २५। टीका

'६६'१३ कर्म, क्रिया, आस्रव और वेदना की चौपदी—

'१ अग्निकाय की अपेक्षा—

अगणिकाएणं भंते ! अहुणोज्जलिए समाणे महाकम्मतराए चेव, महाकिरियमहासव-महावेयणतराए चेव भवइ ; अहे णं समए-समए वोक्कसिज्जमाणे वोक्कसिज्ज-

माणे चरिमकालसमयंसि इंगालब्भूए, मुम्मुरब्भूए, छारियब्भूए, तओ पच्छा अप्प-कम्मतराए चेव अप्पकिरिया ऽऽव-अप्पवेयणतराए चेव भवइ ?

हंता ; गोयमा ! अगणिकाए णं अहुणोज्जलिए समाणे तं चेव ।

—भग० श ५ । उ ६ । प्र ६ । पृ० ४८१

तत्काल प्रज्वलित हुई अग्निकाय महाकर्म वाली, महाक्रिया वाली, महास्रव वाली, महावेदना वाली होती है। समय-समय बुझती हुई—चरम समय में अंगार रूप मुर्मुर रूप—राख हो जाती है तब वह अग्निकाय अल्प कर्मवाली, अल्प क्रियावाली, अल्प आस्रववाली, अल्प वेदनावाली होती है।

विश्लेषण :—सद्यः प्रज्वलित अग्निकाय बहुत कर्मों का बंधन करती है अतः महाकर्म वाली होती है ; उस अग्निकाय की दाहक्रिया तीव्र होती है जिससे बहुत पृथ्वीकायिकादि जीवों का समारंभ होता है अतः महाक्रिया वाली होती है ; वह अग्निकाय बहुत नये कर्मों का उत्पादन हेतु होने के कारण महा आस्रववाली होती है तथा पारस्परिक शरीर-संघात से उत्पन्न होने वाली महान् पीड़ा के कारण वह महावेदना वाली होती है।

इसी प्रकार बुझती हुई अग्निकाय की दाहक्रिया की तीव्रता ह्रास पाती रहती है अतः वह क्रमशः अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्प आस्रव, अल्पवेदना वाली होती जाती है तथा सर्व शेष में दाह-प्रक्रिया समाप्त होकर—सर्वथा बुझकर राख में परिणत हो जाती है तब टीकाकार के अनुसार उस राख रूप अग्निकाय के कर्म, क्रिया, आस्रव, वेदना का अभाव हो जाता है।

·२ महाकर्म-क्रिया-आस्रव-वेदनावाले जीव की अपेक्षा—

से णूणं भंते ! महाकम्मस्स, महाकिरियस्स, महासवयस्स, महावेयणस्स, सव्वओ पोग्गला बज्झंति, सव्वओ पोग्गला चिज्जंति सव्वओ पोग्गला उवचिज्जंति ; सया समियं पोग्गला बज्झंति, सया समियं पोग्गला चिज्जंति, सया समियं पोग्गला उवचिज्जंति ; सया समियं च णं तस्स आया दुरूवत्ताए, दुवण्णत्ताए, दुगंधत्ताए, दुरसत्ताए, दुफासत्ताए, अणिट्ठत्ताए, अकंत-अप्पिय-असुभ-अमणुण्ण-अमणामत्ताए, अणच्छियत्ताए, अभिज्झियत्ताए, अहत्ताए—णो उड्ढत्ताए, दुक्खत्ताए—णो सुहत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमंति।

हंता गोयमा। महाकम्मस्स तं चेव।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से जहाणामए वत्थस्स अहयस्स वा, धोयस्स वा, तंतुग्गयस्स वा आणुपुव्वीए परिभुज्जमाणस्स सव्वओ पोग्गला बज्झंति, सव्वओ पोग्गला चिज्जंति जाव—परिणमंति, से तेणट्ठेणं। —भग० श ६ । उ ३ । प्र १-२ । पृ० ४६२-४६३

महाकर्म वाले, महाक्रिया वाले, महास्रव वाले और महावेदना वाले जीव के सर्वतः अर्थात् सभी ओर से और सभी प्रकार से पुद्गलों का वंध होता है, सर्वतः पुद्गलों का चय होता है, सर्वतः पुद्गलोंका उपचय होता है ; सदा निरंतर पुद्गलों का वंध होता है, सदा निरन्तर पुद्गलों का चय होता है, सदा निरन्तर पुद्गलों का उपचय होता है ; सदा निरंतर उसकी आत्मा दुरूपपन में, दुर्वर्णपन में, दुर्गंधपन में, दुःरसपन में दुःस्पर्शपन में, अनिष्टपन में, अकान्तपन में, अप्रियपन में, अशुभपन में, अमनोज्ञपन में, अमनापन में (मन से भी जिसका स्मरण न किया जा सके) अनीप्सितपन में (अनिच्छितपन में) अभीध्यितपन में (जिसको प्राप्त करने के लिए लोभ न हो) जघन्यपन में, अनूर्ध्वपन में, दुःखपन में और असुखपन में वार-वार परिणत होती है।

जैसे कोई अहत (अपरिभुक्त) जो नहीं पहना गया है, धौत (पहन करके भी धोया हुआ), तन्तुगत (मशीन पर से तुरन्त उतरा हुआ) वस्त्र अनुक्रम से काम में लिया जाने पर, उसके पुद्गल सर्वतः वंधते हैं, सर्वतः चय होते हैं यावत् कालान्तर में वह वस्त्र मैला और दुर्गंध मय हो जाता है ; उसी प्रकार महाकर्म-महाक्रिया-महाआस्रव-महावेदना वाला जीव उपर्युक्त रूप से अप्रशस्त परिणामों को प्राप्त होता है।

·३ अल्प कर्म-क्रिया-आस्रव-वेदना वाले जीव की अपेक्षा—

से णूणं भंते ! अप्पाऽऽसवस्स, अप्पकम्मस्स, अप्पकिरियस्स, अप्पवेयणस्स सव्वओ पोग्गला भिज्जंति, सव्वओ पोग्गला छिज्जंति, सव्वओ पोग्गला विद्धंसंति, सव्वओ पोग्गला परिविद्धंसंति ; सया समियं पोग्गला भिज्जंति, सव्वओ पोग्गला छिज्जंति, विद्धस्संति, परिविद्धस्संति, सया समियं च णं तस्स आया सुरूवत्ताए पसत्थ णेयव्वं, जाव—सुहत्ताए—णो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

हंता, गोयमा ! जाव परिणमंति।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से जहा णामए वत्थस्स जल्लियस्स वा पंकियस्स वा मइल्लियस्स वा रइल्लियस्स वा आणुपुव्वीए परिकम्मिज्जमाणस्स सुद्धेणं वारिणा धोव्वेमाणस्स सव्वओ पोग्गला भिज्जंति, जाव परिणमंति, से तेणट्ठेणं।

—भग० श ६ । उ ३ । प्र ३, ४ । पृ० ४९३

यह निश्चित है कि अल्प आस्रववाले, अल्प कर्मवाले, अल्प क्रियावाले तथा अल्प वेदना वाले जीव के सर्वतः पुद्गल भेद होते हैं, सर्वतः पुद्गल छेद होते हैं, सर्वतः पुद्गल विध्वंस होते हैं, सर्वतः पुद्गल परिविध्वंस होते हैं ; सदा निरन्तर पुद्गल भेद होते है ; सदा निरन्तर पुद्गल छेद होते है, विध्वंस होते हैं, परिविध्वंस होते हैं ; सदा निरन्तर उसकी

आत्मा सुरूपपन में, सुवर्णपन में, सुगन्धपन में, सुरसपन में, इष्टपन में, कान्तपन में, मनोज्ञपन में, मनामपन में, इप्सितपन में, उत्कृष्टपन में, ऊर्ध्वपन में, अदुःखपन में, सुखपन में बारम्बार परिणत होती है।

जिस प्रकार कोई मलिन, कादा लगा हुआ, मैला कुचैला, धूल से भरा वस्त्र हो, उसको क्रमशः शुद्ध करने पर और शुद्ध पानी से धोनेपर उसपर लगे हुए मैल के पुद्गल सर्वतः भेद होते हैं, छेद होते हैं यावत् सुपरिणाम में परिणत होते हैं उसी प्रकार अल्पास्रव-अल्प कर्म-अल्प क्रिया-अल्पवेदना वाला जीव उपर्युक्त प्रकार से प्रशस्त परिणामों को प्राप्त होता है।

·४ अग्नि जलाते-बुझाते पुरुष की अपेक्षा :—

दो भंते ! पुरिसा सरिसया जाव सरिसभंडमत्तोवगरणा अन्नमन्नेणं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ एगे पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, एएसि णं भंते ! दोण्हं पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेव महावेयणतराए चेव ? कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव ? जे वा से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ? कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चेव ? कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारंभइ, बहुतरागं आउकायं समारंभइ, अप्पतरायं तेउकायं समारंभइ, बहुतरागं वाउकायं समारंभइ, बहुतरायं वणस्सइकायं समारंभइ, बहुतरागं तसकायं समारंभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविक्कायं समारंभइ, अप्पतरागं आउक्कायं समारंभइ, बहुतरागं तेउक्कायं समारंभइ, अप्पतरागं वाउक्कायं समारंभइ, अप्पतरागं वणस्सइकायं समारंभइ, अप्पतरागं तसकायं समारंभइ से तेणट्ठेणं कालोदाई ! जाव अप्पवेयणतराए चेव।

—भग० श ७। उ १०। प्र ६। पृ० ५२६

दो सरीखे पुरुष (समान वय, समान शक्ति) समान भांड, पात्रादि उपकरण वाले हैं, वे पुरुष यदि परस्पर एक साथ अग्निकाय का समारंभ करते हैं और उनमें से एक अग्निकाय को जलाता है तथा दूसरा अग्निकाय को बुझाता है तो अग्निकाय को जलाने वाला पुरुष महाकर्म वाला, महाक्रिया वाला, महास्रव वाला तथा महा वेदना वाला

होता है तथा अग्निकाय को बुझाने वाला पुरुष अल्पकर्म वाला, अल्पक्रिया वाला, अल्प आस्रववाला तथा अल्प वेदनावाला होता है क्योंकि जो पुरुष अग्निकाय को प्रज्वलित करता है वह पुरुष बहुत पृथ्वीकाय का समारंभ करता है, बहुत अप्काय का समारंभ करता है, थोड़ी अग्निकायका समारंभ करता है, बहुत वायुकाय का समारंभ करता है, बहुत वनस्पतिकाय का समारंभ करता है तथा बहुत त्रसकाय का समारंभ करता है तथा जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है वह थोड़ी पृथ्वीकाय, थोड़ी अप्काय, थोड़ी वायुकाय, थोड़ी वनस्पतिकाय, थोड़ी त्रसकाय का तथा अधिक अग्निकाय का समारंभ करता है अतः जलाने वाले पुरुष को महाकर्म वाला इत्यादि कहा गया है तथा बुझाने वाले पुरुष को अल्पकर्मवाला इत्यादि कहा गया है।

·५ नारकी जीवों में चौपदी की अपेक्षा तुलना :—

अहेसत्तमाए णं भंते ! पुढवी पंच अणुत्तरा महइमहालया जाव अपइट्ठाणे ××× तेसु णं नरएसु नेरइया छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइएहिंतो महाकम्मतरा चेव, महाकिरियतरा चेव, महासवतरा चेव, महावेयणतरा चेव, नो तहा अप्पकम्मतरा चेव, नो अप्पकिरियतरा चेव, नो अप्पकम्मतरा चेव नो अप्पकिरियतरा चेव, नो अप्पासवतरा चेव, नो वेयणतरा चेव ×××।

छट्ठीए णं तमाए पुढवीए एगे पंचूणे निरयावाससयसहस्से पन्नत्ते ××× तेसु णं नरएसु नेरइया अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइएहिंतो अप्पकम्मतरा चेव, अप्पकिरियतरा चेव, अप्पासवतरा चेव, अप्पवेयणतरा चेव, नो तहा महाकम्मतरा चेव, महाकिरियतरा चेव, महासवतरा चेव, नो महावेयणतरा चेव। ×××।

तेसु णं नरएसु नेरइया पंचमाए पुढवीए नेरइएहिंतो महाकम्मतरा चेव, महाकिरियतरा चेव, महासवतरा चेव, महावेयणतरा चेव, नो तहा अप्पकम्मतरा चेव, नो अप्पकिरियतरा चेव, नो अप्पासवतरा चेव, नो अप्पवेयणतरा चेव ×××।

एवं जहा छट्ठीए भणिया एवं सत्त वि पुढवीओ परोप्परं भण्णंति—जाव—रयणप्पभत्ति ×××। —भग० श १३। उ ४। प्र २। पृ० ६८२

सातवीं नारकी के नरकावासों में स्थित नारकी जीव छट्ठी तमप्रभा पृथ्वी के नारकी जीवों की अपेक्षा महाकर्म वाले, महाक्रिया वाले, महास्रव वाले, महावेदना वाले होते हैं परन्तु अल्पकर्म वाले, अल्पक्रिया वाले, अल्पास्रववाले, अल्पवेदना वाले नहीं होते हैं।

छट्ठी तमप्रभा नारकी के नरकावासों में स्थित नारकी जीव सातवीं नारकी के नारकी जीवों की अपेक्षा अल्पकर्म वाले, अल्पक्रिया वाले, अल्पास्रव वाले, अल्पवेदनावाले

टीका—येषां नारकाणां महती स्थितिस्ते इतरेभ्यो महाकर्म्मतरादयोऽशुभकर्म्मापेक्षया भवन्ति, येषां त्वल्पा स्थितिस्ते इतरेभ्योऽल्पकर्मतरादयो भवन्तीति भावः।

जिन नारकियों की आयुष्य-स्थिति महती—बड़ी होती है वे दूसरे इतर नारकियों से अशुभ कर्म की अपेक्षा महाकर्मतर आदि होते हैं। जिन नारकियों की आयुष्य-स्थिति अल्प—थोड़ी होती है वे दूसरे इतर नारकियों से अशुभकर्म की अपेक्षा अल्पकर्मतर आदि होते हैं।

चरम असुरकुमार की अपेक्षा परम असुरकुमार अल्पकर्मतर, अल्पक्रियातर, अल्पास्रवतर, अल्पवेदनातर होते हैं; परम असुरकुमार की अपेक्षा चरम असुरकुमार महाकर्मतर, महाक्रियातर, महास्रवतर, महावेदनातर होते हैं। ऐसा स्थिति की अपेक्षा कहा गया है। यावत् स्तनितकुमार देव तक ऐसा जानना।

टीका—अल्पकर्मत्वं च तेषामसाताद्यशुभकर्मापेक्षं अल्पक्रियत्वं च तथाविधकायिक्यादिकष्टक्रियाऽपेक्षं अल्पास्रवत्वं तु तथाविधकष्टक्रियाजन्यकर्म्मबन्धापेक्षं अल्पवेदनत्वं च पीडाभावापेक्षमवसेयमिति।

महती स्थिति वाले असुरकुमार देव इतर अल्प स्थिति वाले देवों से असातावेदनीयादि अशुभ कर्मों की अपेक्षा अल्पकर्मतर होते हैं; कायिकी आदि कष्ट क्रिया की अपेक्षा अल्पक्रियातर होते हैं। कायिकी आदि कष्ट क्रियानिमित्त होनेवाले कर्मबंध की अपेक्षा अल्पास्रवतर होते हैं; तथा पीड़ा कष्टकर वेदना की अपेक्षा अल्पवेदनातर होते हैं।

पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य के संबंध में नारकी की तरह कहना।

वाणव्यंतर, ज्योतिषी, वैमानिक देवों के संबंध में असुरकुमार की तरह कहना।

·८ साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका की अपेक्षा—

चत्तारि निग्गंथा पन्नत्ता, तंजहा—राइणिए समणे निग्गंथे महाकम्मे-महाकिरिए अणायावी-असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ (१), राइणिए समणे निग्गंथे अप्पकम्मे-अप्पकिरिए-आयावी-समिए धम्मस्स आराहए भवइ (२), ओमराइणिए समणे-निग्गंथे महाकम्मे-महाकिरिए-अणायावी-असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ (३), ओमराइणिए समणे निग्गंथे अप्पकम्मे-अप्पकिरिए-आयावी-समिए धम्मस्स आराहए भवइ (४)।

चत्तारि निग्गंथिओ पन्नत्ता, तंजहा—राइणिया। समणी—निग्गंथी एवं चेव ४ (गमगा)।

चत्तारि समणोवासगा पन्नत्ता, तंजहा—राइणिए समणोवासए महाकम्मे तहेव ४ (गमगा)।

चत्तारि समणावासियाओ पन्नत्ता, तंजहा–राइणिया समणोवासिया महाकम्मा तहेव चत्तारि गमा।

—ठाण० स्था ४। उ ३। सू ३२०। पृ० २४२

चार प्रकार के निर्ग्रन्थ होते हैं—यथा—(१) कोई एक रात्निक (दीक्षापर्याय से ज्येष्ठ) श्रमण-निर्ग्रन्थ जो महाकर्मवाला, महाक्रियावाला, आतापना को नहीं लेनेवाला, समिति रहित है वह धर्म का आराधक नहीं होता है, (२) कोई एक रात्निक श्रमण-निर्ग्रन्थ जो अल्प कर्मवाला, अल्प क्रिया वाला, आतापना को नहीं लेनेवाला, समिति युक्त है वह धर्म का आराधक होता है, (३) कोई एक लघुरात्निक (दीक्षापर्याय में लघु) श्रमण-निर्ग्रन्थ जो महाकर्म वाला, महाक्रिया वाला, आतापना को नहीं लेने वाला, समिति रहित है वह धर्म का आराधक नहीं होता है तथा (४) कोई एक लघुरात्निक श्रमण-निर्ग्रन्थ जो अल्प कर्मवाला, अल्प क्रियावाला, आतापना को नहीं लेनेवाला, समिति युक्त है वह धर्म का आराधक होता है।

चार प्रकार की श्रमणी—निर्ग्रन्थनी होती है—जैसे निर्ग्रन्थ के चार भेदों का कथन किया वैसे ही श्रमणी-निर्ग्रन्थनी के चार भेदों का कथन करना चाहिए।

चार प्रकार के श्रमणोपासक होते हैं। निर्ग्रन्थ के चार भेदों की तरह श्रमणोपासक के चार भेदों का कथन करना।

श्रमणोपासिका के भी चार भेद होते हैं—जैसे निर्ग्रन्थ के चार गमक कहे गये हैं वैसे ही श्रमणोपासिका के भी चार गमक कहने चाहिए।

·९९·१४ आस्रव-क्रिया-वेदना और निर्जरा की अपेक्षा चौपदी—

सिय भंते! नेरइया महासवा, महाकिरिया, महावेयणा, महानिज्जरा? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। १, सिय भंते नेरइया महासवा महाकिरिया महावेयणा अप्पनिज्जरा? हंता सिया २, सिय भंते नेरइया महासवा महाकिरिया अप्पवेयणा महानिज्जरा?, गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। ३, सिय भंते! नेरइया महासवा महाकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे ४, सिय भंते! नेरइया महासवा अप्पकिरिया महावेयणा महानिज्जरा? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे ५, सिय भंते! नेरइया महासवा अप्पकिरिया महावेयणा अप्पनिज्जरा? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे ६, सिय भंते! नेरइया महासवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा महानिज्जरा? नो इणट्ठे समट्ठे ७. सिय भंते! नेरइया महासवा अप्पकिरिया, अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा? णो इणट्ठे समट्ठे ८, सिय भंते नेरइया अप्पासवा महाकिरिया महावेयणा

महानिज्जरा ? णो इणट्ठे समट्ठे ९, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा महाकिरिया महावेयणा अप्पनिज्जरा ? नो इणट्ठे समट्ठे १०, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा महाकिरिया अप्पवेयणा महानिज्जरा ? नो इणट्ठे समट्ठे ११, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा महाकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ? नो इणट्ठे समट्ठे १२, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा अप्पकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ? नो इणट्ठे समट्ठे १३, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा अप्पकिरिया महावेयणा अप्पनिज्जरा ? नो इणट्ठे समट्ठे १४, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा महानिज्जरा ? नो इणट्ठे समट्ठे १५, सिय भंते ! नेरइया अप्पासवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ? णो इणट्ठे समट्ठे १६, एए सोलस भंगा।

सिय भंते ! असुरकुमारा महासवा महाकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ? णो इणट्ठे समट्ठे, एवं चउत्थो भंगो भाणियव्वो, सेसा पन्नरस भंगा खोडेयव्वा, जाव थणियकुमारा।

सिय भंते ! पुढविकाइया महासवा महाकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ? हंता, सिया, एवं जाव सिय भंते ! पुढविकाइया अप्पासवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ? हंता सिया।

एवं जाव मणुस्सा।

वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

—भग० श १६। उ ४। प्र सर्व। पृ० ७८५-८६

(१) महास्रववाले, महाक्रियावाले, महावेदनावाले, महानिर्जरा,

(२) महास्रववाले, महाक्रियावाले, महावेदनावाले, अल्पनिर्जरा,

(३) महास्रववाले, महाक्रियावाले, अल्पवेदनावाले, महानिर्जरा,

(४) महास्रववाले, महाक्रियावाले, अल्पवेदनावाले, अल्पनिर्जरा,

(५) महास्रववाले, अल्पक्रियावाले, महावेदनावाले, महानिर्जरा,

(६) महास्रववाले, अल्पक्रियावाले, महावेदनावाले, अल्पनिर्जरा,

(७) महास्रववाले, अल्पक्रियावाले, अल्पवेदनावाले, महानिर्जरा,

(८) महास्रववाले, अल्पक्रियावाले, अल्पवेदनावाले, अल्पनिर्जरा,

(९) अल्पास्रववाले, महाक्रियावाले, महावेदनावाले, महानिर्जरा,

(१०) अल्पास्रववाले, महाक्रियावाले, महावेदनावाले, महानिर्जरा,

(११) अल्पास्रववाले, महाक्रियावाले, अल्पवेदनावाले, महानिर्जरा,

(१२) अल्पास्रववाले, महाक्रियावाले, अल्पवेदनावाले, अल्पनिर्जरा,

(१३) अल्पास्रववाले, अल्पक्रियावाले, महावेदनावाले, महानिर्जरा,

(१४) अल्पास्रववाले, अल्पक्रियावाले, महावेदनावाले, अल्पनिर्जरा,

(१५) अल्पास्रववाले, अल्पक्रियावाले, अल्पवेदनावाले, महानिर्जरा,

(१६) अल्पास्रववाले, अल्पक्रियावाले, अल्पवेदनावाले, अल्पनिर्जरावाले।

ये सोलह विकल्प होते हैं।

आस्रव-क्रिया-वेदना और निर्जरा के—महा तथा अल्प की अपेक्षा निम्नलिखित सोलह विकल्प होते हैं :—

नारकी के जीवों में दूसरा विकल्प होता है। असुरकुमार से स्तनितकुमार तक चतुर्थ विकल्प होता है।

पृथ्वीकाय-अप्काय-अग्निकाय-वायुकाय-वनस्पतिकाय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव—मनुष्य में सोलह ही विकल्प होते हैं।

वाणव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों में चतुर्थ विकल्प होता है।

विश्लेषण :—१—महास्रव—प्रचुर कर्म बंधन से होता है, २—महाक्रिया—कायिकी आदि क्रियाओं की बहुलता से होती है, ३—महावेदना—वेदना की तीव्रता से होती है, ४—महानिर्जरा—कर्म-क्षपण की बहुलता से होती है। इसके विपरीत अल्पास्रव-अल्पक्रिया-अल्पवेदना-अल्पनिर्जरा जानना।

नारकी में आस्रव-क्रिया-वेदना महान् होती है, कर्मनिर्जरा अल्प होती है। देवताओं में आस्रव-क्रिया महान् होती है; देवताओं में आस्रव-क्रिया अविरत भाव की प्रबलता होने से महास्रव - महाक्रिया होती है; वेदना अल्प होती है क्योंकि प्रायः सातावेदनीय का उदय रहता है तथा निर्जरा भी अल्प होती है क्योंकि प्रायः अशुभपरिणाम होते हैं।

'६६'१५ दो क्रियावाद

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणनिण्हगा पन्नत्ता, तंजहा—बहुरया १, जीवपएसिया २, अवत्तिता ३, सामुच्छेइया ४, दो किरिया ५, तेरासिया ६, अबद्धिया ७, एएसि णं सत्तण्हं पवयणनिणण्हगाणं सत्त धम्मायरिया होत्था, तंजहा—जमाली १, तीसगुत्ते २, आसाढे ३, आसमित्ते ४, गंगे ५, छलुए ६, गोट्ठामाहिले ७। —ठाण० स्था ७। सू ५८७। पृ० २८५

श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ में उनके प्रवचन का उत्थापन करने वाले सात निह्नव हुए, उनमें एक समय में दो क्रिया का होना मानने वाले दो क्रियावादी गंगदत्त आचार्य हुए।

अट्ठावीसा दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
दोकिरियाणं दिट्ठी उल्लुगतीरे समुप्पण्णा ॥
नइखेडजणवउल्लुगमहागिरिधणगुत्त अज्जगंगे य।
किरिया दो रायगिहे महातवोतीरमणिना ए ॥
नइमुल्लुगमुत्तरओ सरए सीयजलमज्जगंगस्स।
सूराभितत्तसिरसो सीओसिणवेयणोभयओ ॥
लग्गोऽयमसग्गाहो जुगवं उभयकिरिओवओगो त्ति।
जं दो वि समयमेव य सीओसिणवेयणाओ मे ॥
तरतमजोगेणायं गुरुणाऽभिहिओ तुमं न लक्खेसि।
समयाइसुहुमयाओ मणोऽतिचलसुहुमयाओ य ॥
सुहुमासुचरं चित्तं इंदियदेसेण जेण जं कालं।
संबज्झइ तं तम्मत्तनाणहेउ त्ति नो तेण ॥
उवलभए किरियाओ जुगवं दो दूरभिण्णदेसाओ।
पाय-सिरोगयसीउण्हवेयणमणुभवरूपाओ ॥
उवओगमओ जीवो उवउज्जइ जेण जम्मि जं कालं।
सो तम्मओवओगो होइ जहिं दोवओगम्मि ॥

—विशेभा० गा २४२४ से २४३१

भगवान् महावीर के निर्वाण के २२८ वर्ष बाद उल्लुकानदी के तीर पर 'एक समय में दो क्रिया होती है' इस दृष्टि की उत्पत्ति हुई। उल्लुका नदी के तट पर मिट्टी की दिवाल से आवृत—घेरा हुआ उल्लुका नामक एक खेड़ा—छोटा गाँव था। वहाँ महागिरि धनगुप्त नामक आचार्य वास कर रहे थे और उनके शिष्य आर्यगंग थे। आचार्य धनगुप्त नदी के पूर्व तट पर तथा आर्य गंग अपर तट पर निवास कर रहे थे।

एक दिन शरद्काल में आर्य गंग सूरिवन्दनार्थ नदी पार कर रहे थे। उनका माथा खल्वाट था। ऊपर से सूर्य तप रहा था अतः उनको सिरमें उष्णता का अनुभव हो रहा था। नीचे नदी का पानी शीतल था इसलिए पैर में शीतलता का अनुभव हो रहा था।

नदी पार करते हुए—मिथ्यात्व मोहनीय कर्मोदय से उनके विचार उत्पन्न हुआ कि सिद्धान्त में दो क्रियाओं का युगपत् होना निषिद्ध है और मुझे एक समय में ही शीतलता और उष्णता का वेदन हो रहा है अतः अनुभव-सिद्ध होने के कारण आगमोक्त बात ठीक नहीं प्रतीत होती है। इस प्रकार विचार करते हुए गुरु के पास जाकर वन्दनानन्तर निवेदन किया :—

अट्ठावीसा दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
दोकिरियाणं दिट्ठी उल्लुगतीरे समुप्पण्णा ॥
नइखेडजणवउल्लुगमहागिरिधणगुत्त अज्जगंगे य।
किरिया दो रायगिहे महातवोतीरमणिना ए ॥
नइमुल्लुगमुत्तरओ सरए सीयजलमज्जगंगस्स।
सूराभितत्तसिरसो सीओसिणवेयणोभयओ ॥
लग्गोऽयमसग्गाहो जुगवं उभयकिरिओवओगो त्ति।
जं दो वि समयमेव य सीओसिणवेयणाओ मे ॥
तरतमजोगेणायं गुरुणाऽभिहिओ तुमं न लक्खेसि।
समयाइसुहुमयाओ मणोऽतिचलसुहुमयाओ य ॥
सुहुमासुचरं चित्तं इंदियदेसेण जेण जं कालं।
संबज्झइ तं तम्मत्तनाणहेउ त्ति नो तेण ॥
उवलभए किरियाओ जुगवं दो दूरभिण्णदेसाओ।
पाय-सिरोगयसीउण्हवेयणमणुभवरूपाओ ॥
उवओगमओ जीवो उवउज्जइ जेण जम्मि जं कालं।
सो तम्मओवओगो होइ जहिं दोवओगम्मि ॥

—विशेभा० गा २४२४ से २४३१

भगवान् महावीर के निर्वाण के २२८ वर्ष बाद उल्लुकानदी के तीर पर 'एक समय में दो क्रिया होती है' इस दृष्टि की उत्पत्ति हुई। उल्लुका नदी के तट पर मिट्टी की दिवाल से आवृत—घेरा हुआ उल्लुका नामक एक खेड़ा—छोटा गाँव था। वहाँ महागिरि धनगुप्त नामक आचार्य वास कर रहे थे और उनके शिष्य आर्यगंग थे। आचार्य धनगुप्त नदी के पूर्व तट पर तथा आर्य गंग अपर तट पर निवास कर रहे थे।

एक दिन शरद्काल में आर्य गंग सूरिवन्दनार्थ नदी पार कर रहे थे। उनका माथा खल्वाट था। ऊपर से सूर्य तप रहा था अतः उनको सिरमें उष्णता का अनुभव हो रहा था। नीचे नदी का पानी शीतल था इसलिए पैर में शीतलता का अनुभव हो रहा था।

नदी पार करते हुए—मिथ्यात्व मोहनीय कर्मोदय से उनके विचार उत्पन्न हुआ कि सिद्धान्त में दो क्रियाओं का युगपत् होना निषिद्ध है और मुझे एक समय में ही शीतलता और उष्णता का वेदन हो रहा है अतः अनुभव-सिद्ध होने के कारण आगमोक्त बात ठीक नहीं प्रतीत होती है। इस प्रकार विचार करते हुए गुरु के पास जाकर वन्दनानन्तर निवेदन किया :—

"दो क्रियाओं का युगपत् संवेदन उपयुक्त होता है क्योंकि मुझे भी शीत-उष्ण—दोनों का अनुभव नदी पार करते हुए समकाल में हुआ अतः अनुभव-सिद्ध होने से दो क्रियाओं का युगपत् संवेदन होना ठीक लगता है। मेरे पैरों में शीतलता का अनुभव तथा मस्तक में उष्णता का अनुभव समकाल में हो रहा था। यह कैसे ?"

आचार्य धनगुप्त ने कहा—"आयुष्मन्। तुमने दो क्रियाओं का युगपत् अनुभव किया वह तरतम योग से क्रमशः हुआ था न कि युगपत् हुआ था। तुम उनके क्रमभाव को लक्ष्य नहीं कर सके। समय—आवलिकादि की सूक्ष्मता के कारण, मन की अति चंचलता के कारण, अतीन्द्रिय तथा शीघ्रगति वाला होने से तुम्हें ऐसी भ्रांति हो रही थी कि दोनों अनुभव एक साथ ही हो रहे हैं।

स्पर्श आदि द्रव्येन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाले जिस देश से मन का सम्बन्ध जिस समय जितना होता है उस समय उतना ही ज्ञान होता है। शीतोष्ण आदि का ज्ञान भी वहीं होगा जहाँ इन्द्रिय के साथ मन का पदार्थ से सम्बन्ध होगा। जहाँ मन का सम्बन्ध नहीं होता है वहाँ ज्ञान भी नहीं होता है। इस कारण से दूर और भिन्न देशों में हो रही दो क्रियाओं का अनुभव एक साथ व एक समय में नहीं हो सकता। पैर और सिर में होने वाले भिन्न-भिन्न शीतलता और उष्णता के अनुभव भी एक साथ नहीं हो सकते। इसलिए यह कहा जाता है कि पैर और सिर में होने वाले शीतलता और उष्णता के अनुभव भी एक साथ नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे भिन्न-भिन्न देश में होते हैं। जिस तरह विन्ध्याचल और हिमालय के शिखरों को कोई एक साथ छू नहीं सकता। अतः क्रियाद्वयवादत्व का हेतु असिद्ध है।

जीव उपयोगमय है। वह जिस समय, जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय के साथ उपयुक्त होता है उसीका ज्ञान होता है, दूसरे पदार्थों का ज्ञान नहीं कर सकता, जैसे मेघ के उपयोग में लगा हुआ बालक दूसरी सब वस्तुओं को भूल जाता है। जीव एक समय में एक ही जगह उपयुक्त होता है दूसरी जगह नहीं। इसलिए एक साथ एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव असिद्ध है।

·९९·१६ दो कियावादी निह्नव की परभव में उत्पत्ति :—

से जे इमे गामागार जाव सण्णिवेसेसु णिण्हगा भवंति। तंजहा—बहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया।

इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा केवल(लं)-चरिया·लिंग-सामण्णा मिच्छद्दिट्ठी

बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति।

पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई एक्कतीसं सागरोवमाइं ठिई। परलोगस्स अणाराहगा। सेसं तं चेव। —उव० सू ४१। उपसू १६। पृ० ३३, ३४

ये जो ग्रामादि में निह्नव होते हैं—यथा—१—बहुरत, २—जीवप्रादेशिक, ३—अव्यक्तिक, ४—सामुच्छेदिक, ५—द्वैक्रिया (एक समय में दो क्रिया का अनुभव मानने वाले) ६—त्रैराशिक तथा ७—अवद्धिक।

ये सात प्रवचन के अपलापक, चर्या और लिंग की अपेक्षा से साधु के तुल्य—किन्तु मिथ्यादृष्टि बहुत-से असद्भाव के उत्पादन और मिथ्यात्व के अभिनिवेश के द्वारा स्वयं को, दूसरों को और स्व-पर को झूठे आग्रह में लगाते हुए—असत् आशय में दृढ़ बनाते हुए, बहुत वर्षों तक साधु अवस्था में रहते हैं।

फिर काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट ऊपरी ग्रैवेयक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं। वहाँ एकतीस सागरोपम की स्थिति होती है। वे परलोक के अनाराधक होते हैं।

·६६·१७ निश्चयनय और दो क्रियावाद :—

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावादित्तं पसजदि सो जिणावमदं॥
जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो होंति॥

—समय० गा ८५, ८६। पृ० ७४-७५

व्यवहार नयवादी मानता है कि आत्मा ही अनेकविध पुद्गल कर्मों की प्रायोगिक उत्पत्ति करती है तथा आत्मा ही पुद्गल कर्मों का अनेक विध वेदना करती है। निश्चय नय इस मत के खण्डन में कहता है कि यदि आत्म-प्रयोग से ही पुद्गल कर्मों की उत्पति होती है तथा आत्मा के द्वारा ही उनका वेदन होता है, तो ऐक ही कारण से दो भिन्न फलों को मानने वाला यह दो-क्रियावाद जिनमत का विरोधी है।

एक ही कारण से आत्मभाव का परिणमन और पुद्गल भाव का परिणमन—दोनों भावों का परिणमन होता है ऐसा मानने वाला दो-क्रियावादी मिथ्यादृष्टि होता है।

जहा पढमसए चउत्थुद्देसे (आलावगा) तहा णेयव्वा, जाव अलमत्थुत्ति वत्तव्वं सिया। —भग० श ५। उ ५। प्र १। पृ० ४७८

भगवती श १। उ ४। प्र १५६ १६३ की भुलावण

(ग) एवं जहा जीवाभिगमे जाव—सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा।
—भग० श ७। उ ४। प्र १। पृ० ५१६

जीवाभिगम प्रतिपत्ति ३ तिरिय उ २। सू १४ की भुलावण

(घ) छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीयमणंतसासयं समयं केवलेणं संजमेणं० ? एवं जहा पढमसए चउत्थे उद्देसए तहा भाणियव्वं, जाव अलमत्थु०।
—भग० श ७। उ ८। प्र १। पृ० ५२२

भगवती श १। उ ४। प्र १५६-१६३ की भुलावण—

(ङ) एवं किरियापयं निरवसेसं भाणियव्वं · जाव—मायावत्तियाओ किरियाओ विसेसाहियाओ। —भग० श ८। उ ४। प्र १ पृ० ५४८

प्रज्ञापना क्रियापद २२। सू ११-१६ की भुलावण—

(च) निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवले जहा आवस्सए जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। —भग० श ६। उ ३। प्र २१। पृ० ६०२

आवश्यक आव ४। सू ७ की भुलावण—

·६६·२१ छुटे हुए पाठ :—

·१६·५ निक्षेपों की अपेक्षा अप्रत्याख्यान क्रिया का विवेचन :—

[कृपया पृ० ४३-४४ देखें —यहाँ हिन्दी अर्थ दिया गया है।]

णामं ठवणा दविए अइच्छ पडिसेहए य भावे य।
एसो पच्चक्खाणस्स छव्विहो होइ निक्खेवो॥

—सूय० नि गा १७६

प्रत्याख्यान का छः प्रकार से निक्षेप होता है—नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा, प्रतिषेध तथा भाव।

टीका—नामस्थापनाद्रव्यादित्साप्रतिषेधभावरूपः। प्रत्याख्यानस्यायं षोढा निक्षेपः। तत्रापि नामस्थापने सुगमे।

नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा, प्रतिषेध तथा भाव-प्रत्याख्यान के ये छः निक्षेप होते हैं। इन में नाम और स्थापना निक्षेप का विवेचन सुगम है। अतः यहाँ नहीं किया जाता है।

यहाँ आगे भावप्रत्याख्यान का अधिकार है, यह बताने के लिए अगली गाथा कही है—

मूलगुणेसु य पगयं पच्चक्खाणे इहं अहिगारो।
होज्ज हु तप्पच्चइया अप्पच्चक्खाणकिरिया उ॥

—सूय० नि गा १७६-८०

मूल गुणों में प्रत्याख्यान का यह प्रकृत अधिकार है। अतः उस (प्रत्याख्यान के अभाव के) कारण अप्रत्याख्यान-क्रिया होती है।

टीका—मूलगुणाः प्राणातिपातविरमणास्तेषु प्रकृतमधिकारः प्राणातिपातादेः प्रत्याख्यानं कर्तव्यमिति यावत्।

मूलगुण—प्राणातिपात आदि (अठारह पापों) का विरमण। उसका यह प्रकृत अधिकार है। अतः प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

टीका—इह प्रत्याख्यानक्रियाऽध्ययनेनार्थाधिकारो यदि मूलगुणप्रत्याख्यानं न क्रियते ततोऽपायं दर्शयितुमाह।

यहाँ प्रत्याख्यान क्रिया अध्ययन से अर्थाधिकार है। यदि मूलगुणों का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता है तो उससे होने वाले अपाय-दोष को दिखाने के लिए कहा गया है।

टीका—प्रत्याख्यानाभावेऽनियतत्वाद्यत्किंचन कारितया तत्प्रत्ययिका तन्निमित्ताभावादुत्पद्यते अप्रत्याख्यानक्रिया सावद्यानुष्ठानक्रिया तत्प्रत्ययिकश्च कर्मबन्धस्तन्निमित्तश्च संसार इत्यतः प्रत्याख्यानक्रिया मुमुक्षुणा विधेयेति।

प्रत्याख्यान के अभाव में अनियतता—अनियन्त्रण होने के कारण जीव जो कुछ भी कर सकता है उसके निमित्त से अप्रत्याख्यान-क्रिया—सावद्यानुष्ठान क्रिया उत्पन्न होती है उससे कर्मबन्ध होता है और उससे ही संसार होता है। इसलिए मुमुक्षु को प्रत्याख्यान क्रिया करनी चाहिए।

·६२·६·३·६ वामलोकवादी के मत का प्रतिपादन—

अवरे णत्थिवाइणो वामलोयवाई भणंती णत्थि जीवो ण जाइ इह परे वा लोए ण य किंचि वि फुसइ पुण्णपावे णत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं पंच महाभूइयं सरीरं भासंति हे वायजोगजुत्तं! पंच य खंधे भणंति केइ, मणं य मणजीविया भणंति, वाउजीवो त्ति एवमाहंसु, सरीरं साइयं सणिधणं इह भवे एगे भवे तस्स विप्पणासम्मि सव्वणासोत्ति, एवं जंपंति मुसावाई, तम्हा दाणवयपोसहाणं तवसंजमबंभचेर-कल्लाणमाइयाणं णत्थि फलं ण वि य पाणवहे अलियवयणं ण चेव चोरिक्ककरण-

परदारसेवणं वा सपरिग्गहपावकम्मकरणं वि णत्थि किंचि ण णेरइयतिरियमणुयाण-जोणीण देवलोओ वा अत्थि ण य अत्थि सिद्धिगमणं अम्मापियरो णत्थि ण वि अत्थि पुरिसकारो पच्चक्खाणमवि णत्थि ण वि अत्थि कालमच्चू य अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा णत्थि, णेवत्थि केइ रिसओ धम्माधम्मफलं य ण वि अत्थि किंचि बहुयं य थोवयं वा, तम्हा एवं विजाणिऊण जहा सुबहु इंदियाणुकूलेसु सव्वविसएसु वट्टइ णत्थि काइ किरिया वा अकिरिया वा एवं भणंति णत्थिवाइणो वामलोयवाई। —पण्हा० अ २। सू ७। पृ० १२०६

वामलोकवादियों का मत है कि जीव नहीं है, वह इस इहलोक और परलोक में नहीं जाता है, वह पुण्य-पाप का कुछ भी स्पर्श नहीं करता है अतः सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं है। यह शरीर पाँच महाभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना हुआ है और वायु के संबंध से यह शरीर सब कुछ करता है। यह जीव पाँच स्कंधात्मक है। मन को ही जीव मानने वाले मन को ही जीव कहते हैं। कितनेक कहते हैं कि वायु-उच्छ्वास रूप वायु ही जीव है। शरीर सादि और विनाशशील है। यह एक ही भव है अतः शरीर के विनाश से सबका विनाश हो जाता है। अतः दान, व्रत, पौषध, तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि कल्याणकारी शुभ क्रियाओं का फल नहीं है। प्राणवध, मिथ्याकथन, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, परिग्रह रखना आदि किसी भी पाप-कर्म का कुछ भी बुरा फल नहीं होता है। नरक-तिर्यंच-मनुष्य की योनि नहीं है, देवलोक, सिद्धगति, माता-पिता, पुरुषार्थ, पच्चखाण, काल से मृत्यु का होना, अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव नहीं हैं। कोई भी मुनि नहीं है, धर्म-अधर्म का थोड़ा या बहुत कुछ भी फल नहीं है अतः इन्द्रियों के अनुकूल सब विषयों में अपनी इच्छानुसार सम्यग् प्रकार प्रवृत्ति करनी चाहिए।

·०४ सविशेषण-ससमास-सप्रत्यय 'किरिया' शब्द और उनकी परिभाषा :–

·०४·५३ सब्भावकिरिया—सद्भावक्रिया। —षट्० पु १३। पृ० ४३

५।४।१३-१४ धवला टीका—जीवदव्वस्स णाण-दंसणेहि परिणामो सब्भाव-किरिया।

द्रव्य का जो सद्भाव—परिणमन होता है वह स्वभाव क्रिया है। यथा—जीव द्रव्य का ज्ञान, दर्शन आदि रूप से होने वाला परिणमन उसकी सद्भाव क्रिया है।

·०४·५४ सब्भावकिरियाणिप्फण्णाणि—सद्भावक्रियानिष्पन्नानि।

—षट् पु १३। पृ० ४३

५।४।१४—जाणि दव्वाणि सब्भावकिरियाणिप्फण्णाणि तं सव्वं दव्वकम्मं णाम।

जो द्रव्य क्रियाओं द्वारा सद्भाव से ही निष्पन्न हो वह स्वभाव क्रिया द्रव्य कर्म है।

·०४·५५—किरियाकम्मं—क्रियाकर्म। —षट्० पु १३। पृ० ३८,८८

मूल—जं तं किरियाकम्मं णाम ॥२७॥ तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम ॥२८॥

कर्म निक्षेप दस प्रकार का होता है उसमें क्रियाकर्म एक प्रकार है। आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन वार करना, तीन वार अवनति, चार वार सिर नवाना और वारह आवर्त, यह सब क्रिया कर्म है।

·९९·२२ श्रावक की त्रेपन क्रिया :—

गुण-वय-सम-पड़िमा, दाणं जलगालणं च अणत्थामियं।
दंसणणाण-चरित्तं किरिया तवण्ण सावया भणिया॥

—पं० दौलतरामजी द्वारा जैन क्रियाकोप में उद्धृत

मद्य, मांस, मधु तथा वड़, पीपर, पाकर, डूमर, कठूमर—पाँच कुफल—इन आठ वस्तुओंका त्याग करना—आठ गुण क्रिया, श्रावकके वारह व्रतों को पालन करने की वारह व्रतक्रिया, समदृष्टि की एक सम्यक्त्व क्रिया, श्रावक की ग्यारह प्रतिमा धारण करने की ग्यारह क्रिया, दान की—आहार, औषधि, शास्त्र तथा अभयदान की चार क्रिया, अणछाणे (विना छाने) जलके उपयोग के त्याग की क्रिया, रात्रि-भोजन त्याग की क्रिया, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की तीन क्रिया, तप करने की वारह तप-क्रिया—ये त्रेपन श्रावक की प्रशस्त क्रियाएँ होती हैं।

समाप्त

अध्ययन, गाथा, सूत्र आदि की संकेत-सूची

अ	अध्ययन, अध्याय
आ, आव	आवश्यक
उ	उद्देश, उद्देशक
गा	गाथा
तिरि०	तिरिक्खजोणिया
द	दशा
नि	निर्युक्ति
प	पद
पृ०	पृष्ठ
प्र	प्रश्न
प्रति	प्रतिपत्ति
भा	भाष्य
ला	लाइन
वक्ष	वक्षस्कार
श	शतक
श्र	श्रुतस्कंध
श्लो	श्लोक
सम	समवाय
सू	सूत्र
स्था	स्थान

संकलन सम्पादन-अनुसंधान में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

आयारो (आचारांग)—मूल, निर्युक्ति, शीलांकाचार्य वृत्ति।

सूयगडो (सूत्रकृतांग)—मूल, निर्युक्ति, शीलांकाचार्य वृत्ति दीपिका टीका।

ठाणं (स्थानांग)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

समवाओ (समवायांग)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

विवाहपण्णत्ती (भगवती सूत्र)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथांग)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

उवासगदसाओ (उपासकदशांग)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

अंतगडदसाओ (अंतकृद्दशांग)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशांग)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरण सूत्र)—मूल, ज्ञानविमलसूरि वृत्ति।

विवागसूयं (विपाकसूत्र)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

ओववाइयं (औपपातिक सूत्र)—मूल, अभयदेवसूरि वृत्ति।

रायपसेणइयं (राजप्रश्नीय)—मूल, मलयगिरि वृत्ति।

जीवाजीवाभिगमो (जीवाजीवाभिगम)—मूल, मलयगिरि वृत्ति।

पण्णवणा (प्रज्ञापना सूत्र)—मूल, मलयगिरिवृत्ति।

जंबूदीवपण्णत्ती (जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति)—मूल, शान्तिचन्द्र वृत्ति।

चंदपण्णत्ती (चन्द्रप्रज्ञप्ति)—मूल।

सूरपण्णत्ती (सूर्यप्रज्ञप्ति)—मूल, मलयगिरि वृत्ति।

निरयावलियाओ (निरयावलिका)—मूल, चन्द्रसूरि वृत्ति।

ववहारो (व्यवहार सूत्र)—मूल, मलयगिरि वृत्ति।

विहकप्पो (बृहत्कल्प सूत्र)—मूल, निर्युक्ति, संघदासगणि भाष्य, मलयगिरि-क्षेमकीर्ति वृत्ति।

निसीहं (निशीथ)—मूल।

दसासुयक्खंधो (दशाश्रुतस्कंध)—मूल, चूर्णी।

दसवेआलियं (दशवैकालिक)—मूल।

उत्तरज्झयणाइं (उत्तराध्ययन)—मूल, निर्युक्ति, शांताचार्य वृत्ति।

नंदी (नंदीसूत्र)—मूल, हरिभद्र वृत्ति, मलयगिरि वृत्ति।

अणुओगदाराइं (अनुयोगद्वार सूत्र)—मूल, हरिभद्र वृत्ति।
आवस्सयं (आवश्यक सूत्र)—मूल, निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति।
कप्पसुत्तं (कल्पसूत्र)—मूल।
तत्त्वार्थ सूत्र – मूल, भाष्य, सर्वार्थसिद्धि टीका, राजवार्तिक टीका, सिद्धसेन टीका, श्लोकवार्तिक टीका।
कर्मप्रकृति—मूल, मलयगिरि टीका।
कर्मग्रंथ—(छह भाग)—मूल, स्वोपज्ञ टीका आदि।
गोम्मटसार (जीवकांड)—मूल।
गोम्मटसार (कर्मकांड)—मूल।
अभिधानराजेन्द्र कोश—सात भाग।
भगवद्गीता—मूल, शांकर भाष्य, नीलकंठी टीका।
सिद्धहेमशब्दानुशासन—(अष्टम अध्याय)—मूल, ढूंढिका वृत्ति।
ज्ञानसार—मूल।
समयसार—मूल।
विशेषावश्यक भाष्य—मूल, हेमचन्द्र वृत्ति।

संदर्भ ग्रन्थों की सूची

[संदर्भ निम्नलिखित प्रकाशनों के अनुसार दिये गये हैं। आगम ग्रंथों के संदर्भ में जो पृष्ठ संख्या दी गयी है, वह 'सुत्तागमे' से दी गयी है। अन्यत्र जो पृष्ठ संख्या दी गयी है वह उसी प्रकाशन से दी गयी है।]

आयारो—सम्पादन—मुनि श्री नथमल, प्रकाशन—जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता—१९६७।

सूयगडो—सम्पादन—पी० एल० वैद्य, प्रकाशन—श्रेष्ठी-मोतीलाल पूना—१९२८।

ठाणं—सम्पादन—मुनि श्री वल्लभविजय, प्रकाशन—माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद—१९३७।

समवाओ—सम्पादन—मुनि श्री वल्लभविजय, प्रकाशन—माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद—१९३८।

विवाहपण्णत्ती (भगवई)—प्रथम तथा द्वितीय खंड—सम्पादन—पंडित बेचरदास डोशी, प्रकाशन—जिनागम प्रकाशक सभा, बम्बई। तृतीय तथा चतुर्थ खंड—सम्पादन—पंडित भगवानदास ह० डोशी, प्रकाशन—गुजरात विद्यापीठ तथा जैन साहित्य प्रकाशन ट्रष्ट, अहमदाबाद—१९१७, १९२२, १९२८, १९३१।

नायाधम्मकहाओ—सम्पादन—चन्द्रसागर सूरि, प्रकाशन—सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई—१९५१।

उवासगदसाओ—सम्पादन—भगवानदास हर्षचन्द डोशी, प्रकाशन—वही—अहमदाबाद—१९३५।

अंतगडदसाओ—सम्पादन—एम० सी० मोदी, प्रकाशन—गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद—१९३२।

अणुत्तरोववाइयदसाओ—सम्पादन—एम० सी० मोदी, प्रकाशन—गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद—१९३२।

पण्हावागरणाइं—(दो भाग) सम्पादन—मफतलाल झवेरचन्द्र, प्रकाशन—मुक्तिविमल जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद—१९३६, १९३८।

विवागसूयं—सम्पादन—श्री चोकसी एवं श्री मोदी, प्रकाशन—गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद—१९३५।

ओववाइय—सम्पादन—मुनि देमसागरजी, प्रकाशन—पंडित भूरालाल कालीदास, सूरत—१९३७।

रायपसेणइयं—सम्पादन—पं० वेचरदासजी जी० दोसी—प्रकाशन—गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद—१६३८।

जीवाजीवाभिगमो—सम्पादन—अज्ञात, प्रकाशन—देवचन्द लालाभाई जवेरी सूरत।

पण्णवणासुत्तं—सम्पादन—मुनिश्री पुण्यविजय आदि, प्रकाशन—श्री महावीर जैन विद्यालय वम्बई—१६६६।

जंम्बूदीवपण्णत्ती—सम्पादन—अज्ञात, प्रकाशन—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, सूरत—१६१६।

चन्दपण्णत्ती—सम्पादन—मुनि श्री अमोलक ऋषि—प्रकाशन—लाला सुखदेव सहाय, ज्वालाप्रसाद, हैदरावाद—१६१८।

सूरपण्णत्ती—संपादन—अज्ञात, प्रकाशन—आगमोदय समिति, मेहसाना—१६१८।

निरयावलियाओ—सम्पादन—गोपानी तथा चोकसी, प्रकाशन—गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदावाद—१६३४।

ववहारो—सम्पादन—प्रो० वोल्थर श्युब्रिंग, प्रकाशन—डा० जीवराज घेलाभाई डोसी, अहमदावाद—१६२५।

विहकप्पो—६ भाग, सम्पादन—चतुरविजय, पुण्यविजय, प्रकाशन—श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर—१६३४ से १६४२।

निसीहं—सम्पादन—मुनि श्री नथमल, प्रकाशन—जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता—१६६७।

दसासुयक्खंधो—संपादन—आत्मारामजी महाराज, प्रकाशन—जैन शास्त्रमाला कार्यालय (लाहौर), वर्तमान—लुधियाना—१६३६।

दसवेआलियं—सम्पादन—मुनि श्री नथमल, प्रकाशन—जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता—१६६६।

उत्तरज्झयणाइं—संपादन—मुनि श्री नथमल, प्रकाशन—जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता—१६६६।

नंदीसुत्तं—सम्पादन—मुनि श्री पुण्यविजय आदि, प्रकाशन—श्री महावीर जैन विद्यालय—१६६८।

अणुओगद्दाराइं—संपादन—मुनि श्री पुण्यविजय आदि, प्रकाशन—श्री महावीर जैन विद्यालय—१६६८।

आवस्सयं—तीन भाग—संपादन—अज्ञात, प्रकाशन—आगमोदय समिति, मेहसाना तथा देवचन्द लालभाई, सूरत—१६२८, १६३२, १६३६।

सुत्तागमे—भाग २—संपादन—पुप्फभिक्खू, प्रकाशन—श्री सुत्तागम प्रकाशन समिति, गुड़गाँव छावनी—१६५३-५४।

सुत्तागमे से केवल पृष्ठ संख्या दी गई है।

कप्पसुत्तं—संपादन—मुनि श्री पुण्यविजयजी, प्रकाशन - साराभाई मणीलाल नवाव, अहमदाबाद—१९५२।

तत्त्वार्थ सूत्र—सभाष्य—संपादन—खूबचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, प्रकाशन—श्री परम श्रुत प्रभावक जैन मंडल, बम्बई—१९३२।

सर्वार्थसिद्धि—तत्त्वार्थ टीका—संपादन—फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री—प्रकाशन—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी—१९५५।

राजवार्तिक—तत्त्वार्थ टीका २ भाग—संपादन—पं० महेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशन—भारतीय ज्ञान पीठ, काशी—१९५७।

श्लोकवार्तिकालंकार—तत्त्वार्थ टीका—संपादन—पं०मनोहरलाल न्यायशास्त्री, प्रकाशन—रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई—१९१८

सिद्धसेन—तत्त्वार्थ टीका—२ भाग—संपादन—हीरालाल रसिकलाल कापड़िया, प्रकाशक—देवचन्द लालभाई, अहमदाबाद—१९२६, १९३०।

कर्मग्रन्थ खण्ड २, संपादन—मुनि श्री चतुरविजय, प्रकाशन--श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर—१९३४-४०।

गोम्मटसार (जीवकांड)—संपादन—पं० खूबचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, प्रकाशन—श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई—१९२७।

गोम्मटसार (कर्मकांड)—संपादन—पं० मनोहरलाल—प्रकाशन--श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई—१९२८।

समयसार—संपादन—प्रा० ए० चक्रवृत्ति, प्रकाशन—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी—१९५०

अभिधानराजेन्द्र (कोष)—तृतीय भाग—संपादन श्री विजयराजेन्द्र सूरि, प्रकाशन—श्री जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम—१९१४।

सिद्धहेमशब्दानुशासन—(प्राकृत व्याकरण)—ढुंढिका टीका, प्रकाशन—शा० भीमसिंह माणेक, बम्बई—१९३०।

भगवद्गीता—संपादन—वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर, प्रकाशन—[illegible] जावजी बम्बई—१९१२।

विशेषावश्यक भाष्य भाग १-२—सम्पादन—राजेन्द्रविजयजी महारा[illegible]

९९·२१ छुटे हुए पाठ

९८ ××× अंगुत्तर निकाय में :—

३· अथ खो सीहो सेनापति येन निगण्ठो नाटपुत्तो तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा निगण्ठं नाटपुत्तं एतदवोच—"इच्छामहं, भन्ते, समणं गोतमं दस्सनाय उपसङ्कमितुं" ति।

"किं पन त्वं, सीह, किरियवादो समानो अकिरियवादं समणं गोतमं दस्सनाय उपसङ्कमिस्ससि ? समणो हि, सीह, गोतमो अकिरियवादो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती" ति। ×××।

७ ×××। अथ खो सीहो सेनापति येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो सीहो सेनापति भगवन्तं एतदवोच—

८· "सुतं मेतं, भन्ते—'अकिरियवादो समणो गोतमो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती ति।" ×××।

९· "अत्थि, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'अकिरियवादो समणो गोतमो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति।

१०· अत्थि, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'किरियवादो समणो गोतमो, किरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। ×××।

१७ "कतमो च सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'अकिरियवादो समणो गोतमो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति ? अहं हि, सीह अकिरियं वदामि कायदुच्चरितस्स वचीदुच्चरितस्स मनोदुच्चरितस्स ; अनेकविहितानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं अकिरियं वदामि। अयं खो, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'अकिरियवादो समणो गोतमो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति।

१८· "कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'किरियवादो समणो गोतमो, किरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति ? अहं हि, सीह, किरियं वदामि कायसुचरितस्स वचीसुचरितस्स मनोसुचरितस्स ; अनेकविहितानं कुसलानं धम्मानं किरियं वदामि। अयं खो, सीह,

परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'किरियवादो समणो गोतमो, किरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। ××× ।

—अंगुत्तरनिकाय । निपात ८ । २ महावग्गो । २ सीह सुत्त

(निर्ग्रन्थ श्रावक) सिंह सेनापति निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के पास गये और जाकर निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र से बोले—"भन्ते ! मैं श्रमण गौतम का दर्शन करने जाने की इच्छा करता हूँ।"

(निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र) "हे सिंह ! तुम क्रियावादी हो, तुम क्या उस अक्रियावादी श्रमण गौतम के दर्शनार्थ जाओगे ? हे सिंह ! श्रमण गौतम अक्रियावादी है। वह अक्रिया का धर्मोपदेश देता है और उसीका अपने शिष्यों को अभ्यास कराता है। ××× ।"

तत्पश्चात् एक दिन सिंह सेनापति जहाँ भगवान गौतम थे वहाँ पहुँचे। पास जाकर भगवान को नमस्कार कर एक ओर बैठे। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति ने भगवान से कहा—"भन्ते ! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है, अक्रियावाद की ही देशना करता है तथा अपने श्रावकों को भी अक्रियावाद का ही अभ्यास कराता है।"

"सिंह ! एक दृष्टि है जिससे मेरे बारे में ठीक-ठीक कहने वाला यह कह सकता है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है, अक्रियावाद की ही देशना करता है और अपने श्रावकों को अक्रियावाद का ही अभ्यास कराता है। सिंह ! (दूसरी) एक दृष्टि है जिससे मेरे बारे में ठीक-ठीक कहने वाला यह कह सकता है कि श्रमण गौतम क्रियावादी है, क्रियावाद की ही देशना करता है, तथा अपने श्रावकों को भी क्रियावाद का ही अभ्यास कराता है। ××× ।"

सिंह ! एक दृष्टि है जिससे मेरे बारे में ठीक-ठीक कहने वाला यह कह सकता है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है, अक्रियावाद की देशना करता है तथा अक्रियावाद का ही अपने श्रावकों को अभ्यास कराता है। सिंह ! (क्योंकि) मैं शारीरिक दुश्चरित्रता, वाणी की दुश्चरित्रता तथा मन की दुश्चरित्रता न करने की बात करता हूँ तथा नाना प्रकार के पापकर्मों के न करने की बात करता हूँ। अतः, सिंह ! इस दृष्टि से मेरे बारे में ठीक-ठीक कहने वाला कह सकता है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है, अक्रियावाद की देशना करता है, तथा अक्रियावाद का ही अपने श्रावकों को अभ्यास कराता है। सिंह ! (दूसरी) एक दृष्टि है जिससे मेरे बारे में ठीक-ठीक कहने वाला यह कह सकता है कि श्रमण गौतम क्रियावादी है, क्रियावादी की देशना करता है तथा क्रियावाद का ही अपने श्रावकों को अभ्यास कराता है। सिंह ! (क्योंकि) मैं शारीरिक सुचरित्रता, वाणी की सुचरित्रता तथा मन की सुचरित्रता की बात करता हूँ तथा अनेक प्रकार के कुशल-कर्म करने को कहता हूँ। अतः, सिंह ! इस दृष्टि से मेरे बारे में ठीक-ठीक कहने वाला कह सकता है कि श्रमण गौतम क्रियावादी है, क्रियावाद की देशना करता है, तथा क्रियावाद का ही अपने श्रावकों को भ्यास कराता है।

लेश्या-कोश पर विद्वानों की सम्मति

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवी, अहमदाबाद

लेश्या कोश के प्रारंभिक ३४ पृष्ठों को पूरा सुन गया हूँ। अगला भाग अपेक्षा के अनुसार ही देखा है, पर उसका पूरा ख्याल आ गया है। प्रथम तो यह बात है कि एक व्यापारी फिर भी अस्वस्थ तबीयतवाला इतना गहरा श्रम करे और शास्त्रीय विषयों में पूरी समझ के साथ प्रवेश करे यह जैन समाज के लिये आश्चर्य के साथ खुशी का विषय है। आपने कोशों की कल्पना को मूर्त बनाने का जो संकल्प किया है वह और भी आश्चर्य तथा आनन्द का विषय है। इतना बड़ा भारी जबावदेही का काम निर्विघ्न पूरा हो—यही कामना है।

Dr. A. N. Upadhye, M. A. D. Litt., Shivaji University, Kolhapur.

"I have read the major portion of this KOSA. You are to be congratulated on having brought out a valuable source book on the Lesya Doctrine. I appreciate your methodology and have all praise for the pains you have taken in collecting and systematically presenting the material. Such works really advance the cause of Jainological studies. Please accept my greetings on this useful work and convey the same to your colleagues who have collaborated with you in this project. Such Kosas for 'PUDGAL' etc. would be welcome in the interest of the progress of Jainological studies."

Dr. P. L. Vaidya, M. A. D. Litt., Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

"I am very grateful to you for your sending me a copy of your book 'Lesya-Kosa'. I have read a goodly portion of it and am deeply impressed by your methodical work on an important topic of Lesya in Jain Philosophy. All students of Jain Literature and Philosophy would surely be grateful to you for your having placed in their hand a work of tremendous utility."

Dr. Suniti Kumar Chatterjee, National Professor of India, Calcutta.

"I am not a student of Philosophy, much less of Jain Philosophy. But I have learnt a lot from your work, which is very thorough study, with a wealth of quotations from both Prakrita and Sanskrita, on the concept of Lesya. This, as it would appear, is not known in Brahmanical and Buddhistic philosophy. I did not know anything about it before I got your

book. This, as it would appear from your study, is a very important concept in Jain Philosophy with regard to the nature of Soul, both in the static or contemplative and its dynamic or active aspect.

I am sure specialists will give a welcome accord to your book."

"Wishing you all success in your noble work of interpreting one of the most important aspects of our Indian civilisation and thought namely, the Jaina."

Dr. Prof. L. Alsdorf, Seminar fur Kultur und Geschichte Indiens, Universitat Hamburg.

"I acknowledge receipt of your Lesya-Kosa and accept my very sincere thanks for this most valuable and welcome gift. The theory of Karman, of which Lesya Doctrine is an integral part, is the very centre and heart of Jainism ; at the same time, it is a most intricate and complex subject the study of which presents a great many difficulties and problems, not all of which have been solved so far. With erudition and acumen, you have furnished a most useful contribution and successfully advanced our knowledge."

Prof. Dr. K. L. Janert, Director, Institut fur Indologie Der Universitat Zu Koln.

"I have received your book Lesya-Kosa, I also owe you a valuable addition to my Library. It is always a matter of great satisfaction to me to see a scholar not recoil from the arduous task of compiling dictionaries, indexes etc.—even that great English Critic and Lexicographer, Dr. Samuel Johnson, called it drudgery some two hundred years ago. And it is of course only diligent collection and comparison of all relevant material that genuine advance in knowledge is based on. So we shall have to thank you for having made work easier for those who come after you."

Prof. Padamanath S. Jain, Dept. of Linguistics, The University of Michigan, Michigan, U. S. A.

"Please forgive me for the delay in acknowledging the receipt of your excellent gift of the Lesya-Kosa. This is an extraordinary work and you deserve our gratitude for publishing it You have opened a new field of research and have established a new model for all future Jain studies. The subject is fascinating not only for its antiquity but also for its value in the study of Indian Psychology."